माथुरी पंच लक्षणी

पं. बदरीनाथ शुक्ल

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
जयपुर

[illegible] [illegible]

[illegible]

माथुरी पंच लक्षणी

पं. बदरीनाथ शुक्ल

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
जयपुर

शिक्षा तथा समाज-कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रन्थ-निर्माण योजना के अन्तर्गत, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर द्वारा प्रकाशित

प्रथम संस्करण : 1984
MATHURI PANCH LAKSHANI

भारत सरकार द्वारा रियायती मूल्य से
उपलब्ध कराये गये कागज पर मुद्रित

मूल्य : 19·50

प्रकाशक :
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
ए-26/2, विद्यालय मार्ग, तिलक नगर,
जयपुर–302 004

मुद्रक :
तारा प्रेस
वाराणसी

प्रकाशकीय

हिन्दी ग्रन्थ अकादमी अपने जीवन-काल के दस वर्ष पूरे कर चुकी है। 15 जुलाई 1983 को इस संस्था ने ग्यारहवें वर्ष में प्रवेश किया है। इस अल्पावधि में संस्था ने विभिन्न विषयों के लगभग 325 मानक ग्रन्थों का हिन्दी में प्रकाशन कर मातृभाषा के माध्यम में विश्वविद्यालय के छात्रों व विषय विशेष के पाठकों के समक्ष भाषा वैविध्यता की कठिनाई दूर करने में अपना अकिंचन योगदान दिया है।

अकादमी के कई प्रकाशन द्वितीय व तृतीय आवृत्तियों में छप चुके हैं। इसके लिए हम सुयोग्य पाठकों व लेखकों के अत्यन्त ऋणी हैं।

प्रकाशन जगत में मानक ग्रन्थों का कम मूल्य पर प्रकाशन एक ऐसा प्रयत्न है जिससे विश्वविद्यालय स्तर एव विषय विशेष के विशेषज्ञों के ग्रन्थ आसानी से हिन्दी में उपलब्ध हो सकें। प्रयत्न यह रहा है कि अकादमी शोध ग्रन्थों का प्रकाशन अधिकाधिक करे इससे लेखक एवं पाठक दोनों ही लाभान्वित हो सकें तथा प्रामाणिक विषय वस्तु पाठकों को सुलभ होती रहे। लेखक को भी नव सृजन के लिए उत्साह व प्रेरणा मिलती रहे जिससे प्रकाशन के अभाव में महत्त्वपूर्ण पाण्डुलिपियाँ अप्रकाशित ही नहीं रह जायें। वास्तव में हिन्दी ग्रन्थ अकादमी इसे अपना उत्तरदायित्व समझती रही है कि दुर्लभ विषय ग्रन्थों का ही प्रकाशन किया जाय। हमें यह कहते गर्व होता है कि अकादमी द्वारा प्रकाशित कतिपय ग्रन्थ केन्द्र एवं अन्य राज्यों के बोर्ड व संस्थानों द्वारा पुरस्कृत किये गये हैं और इनके विद्वान लेखक सम्मानित हुए हैं।

भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय की अनुप्रेरणा व सहयोग हिन्दी ग्रन्थ अकादमी को स्वरूप ग्रहण करने से लकर योजनाबद्ध प्रकाशन कार्य में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। राज्य सरकार ने इस अकादमी को आरम्भ से ही पूरा-पूरा सहयोग देकर पल्लवित किया है।

अकादमी अपने भावी कार्यक्रमों में राजस्थान से सम्बन्धित दुर्लभ ग्रन्थों के प्रकाशन-कार्य को प्रमुखता देने जा रही है जिससे विलुप्त कड़ियाँ जुड़ सकें। यह भी प्रयत्न है कि तकनीकी एवं आधुनिकतम विषय-वस्तु के ग्रन्थ योजनाबद्ध प्रकाशित हों जिससे सम्पूर्ण विषय-वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने में छात्रों को किसी तरह का अभाव अनुभव नहीं हो।

इस पुस्तक में "व्याप्तिपञ्चक-माथुरी" की हिन्दी व्याख्या सन्निहित है। आशा है इससे हिन्दी के माध्यम से नव्य-न्याय जैसे गूढ़ शास्त्रों के अध्ययन में विद्वानों की अभिरुचि बढ़ेगी।

अकादमी लेखक पं बदरीनाथ शुक्ल के सहयोग हेतु आभारी है।

शिवचरण माथुर
मुख्यमंत्री, राजस्थान सरकार
एवं
अध्यक्ष, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

(डा०) पुरुषोत्तम नागर
निदेशक
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

FOREWORD

One of the great achievements of the Indian mind is the development of formal logic. The initial impetus to this was given by the dialectic of thinkers like Nagarjuna and Aryadeva to refute whom first the Naiyayikas and then the Vedantins began to aim at accuracy and precision in definitions, ideas and arguments. Reacting to this, the Buddhist thinkers from Dignaga to Dharmakirti (5th to 7th centuries) developed their own kind of logic, which in its penetration and value is second to none. Their work was continued by eminent Buddhists for about five centuries. Perhaps by the 11th century A. D. logical formalism of a sort was established as evidenced by the treatises on Mahavidya syllogisms by Kularka and others. Then came the works of Vedantins like Sri Harsha, which made the Naiyayikas realise how necessary rigorous formalism was. Formal logic struck deep roots when Gangesa in the early 13th century gave rise to a new kind of logic with the help of the concept of Avacchedakata. He virtually transformed philosophy into Pramana-sastra (logic and epistemology). His school (that of Mithila) flourished for about two centuries. In the 15th century another centre of new logic arose at Navadvipa. It developed formal logic of an abstract kind and a realistic metaphysics. Raghunatha (c. 1475-1505) was the greatest thinker of this school and one of India's great philosophers.

He had eminent successors upto c. 1650 A. D. Mathuranatha was his ablest student. The new logic stimulated Vedantins of all schools to attempt to demolish each others' concepts, definitions and arguments, as well as those of Naiyayikas, and formulate improved ones, using the techniques refined by the new logic. The Jaina contribution to logic and theory of knowledge from the time of Siddhasena Divakara, through Vadiraja Suri and Hemachandra, to Yasovijaya (5th to the 17th century) is no less glorious than that of others.

Explorers in the field of Indian logic have been very few; consequently, there is so much that remains to be done. A comprehensive and detailed history of it (as developed in the Hindu, Buddhist and Jaina traditions) has yet to be written; and the elucidation and evaluation of the techniques, concepts, definitions, arguments and mutual criticisms found in the works of even the most important logicians of these three traditions (with their different schools and sub-schools), is still awaited. Then, there can be creative work utilising the techniques of some of them; or, another new Indian logic, based upon a modification of one of the old Indian logics or a reasoned rejection of all the old Indian logics, can arise.

Acharya Shri Badarinatha Shukla Ji is one of the most distinguished Naiyayikas of this country at present; perhaps there are only three or four scholars who can be considered his equals now in

this field. His mastery of Nyaya and his deep acquaintance with other Hindu Darsanas, as well as his capacity for sustained analytical thinking, are most impressive. He has not only some idea of Western philosophy, but has participated in seminars and colloquia organised by philosophy departments of our universities. He is a member of the U. G. C. Philosophers' panel and of the Research Advisory Committee of the Indian Council of Philosophical Research. He has participated in Sanskritists' Conference in Europe. Very few Pandits of his eminence have been exposed to such experiences. So, his commentary on *Vyaptipancakamathuri* is bound to be authoritative and capable of shedding fresh light on it. Written in a clear and systematic way and based upon an intimate knowledge of all the relevant literature, it lays bare the issues involved. His Introduction of 205 pages contains a history of the definitions of Vyapti in Nyaya-Vaiseshika literature, an account of its definitions given in other Darshanas and a lucid explanation of technical terminology. This work makes an important contribution to the discussion of *Vyapti* in a modern Indian language.

Professor K. SATCHIDANANDA MURTY
Andhra University, Waltair

this field. His mastery of Nyaya and his deep acquaintance with other Hindu Darsanas, as well as his capacity for sustained analytical thinking, are most impressive. He has not only some idea of Western philosophy, but has participated in seminars and colloquia organised by philosophy departments of our universities. He is a member of the U. G. C. Philosophers' panel and of the Research Advisory Committee of the Indian Council of Philosophical Research. He has participated in Sanskritists' Conference in Europe. Very few Pandits of his eminence have been exposed to such experiences. So, his commentary on *Vyāptipañcakamāthurī* is bound to be authoritative and capable of shedding fresh light on it. Written in a clear and systematic way and based upon an intimate knowledge of all the relevant literature, it lays bare the issues involved. His Introduction of 203 pages contains a history of the definitions of Vyapti in Nyaya-Vaiseshika literature, an account of its definitions given in other Darshanas and a lucid explanation of technical terminology. This work makes an important contribution to the discussion of *Vyapti* in a modern Indian language.

Professor K. SATCHIDANANDA MURTY
Andhra University, Waltair

प्राक्कथन

कुछ समय पूर्व राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, के निदेशक श्री यशदेव शल्य ने मुझसे अनुरोध किया था कि मैं अकादमी के प्रकाशनार्थ व्याप्तिपञ्चक-माथुरी की हिन्दी व्याख्या लिखूँ। मैंने इस दृष्टि से इस कार्य को स्वीकार किया कि इससे हिन्दी के माध्यम से नव्य-न्याय जैसे गूढ़ शास्त्रों के अध्ययन में विद्वानों की अभिरुचि बढ़ेगी। मैंने श्री शल्य को इस बात के लिए धन्यवाद भी दिया कि उन्होंने देश की राष्ट्रभाषा हिन्दी को समृद्ध बनाने के लिए उसके वाङ्मय में संस्कृत के गम्भीर शास्त्रों का अवतरण करने का महत्त्वपूर्ण निश्चय किया है। श्री शल्य अपने अनुरोध का कार्यान्वयन करने के लिए मुझे बराबर लिखा करते थे; किन्तु कई ऐसे अनिवार्य व्यवधान मेरे समक्ष उपस्थित होते रहे, जिनके कारण इस कार्य को पूरा करने में पर्याप्त विलम्ब हुआ, जिसका मुझे खेद है। प्रसन्नता है कि अब यह कार्य पूर्ण होने जा रहा है।

न्याय-दर्शन भारतीय दर्शनों की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शाखा है जिसका ज्ञान न केवल दर्शन शास्त्रों को समझने के लिए अपितु संस्कृत वाङ्मय की अन्य शाखाओं को भी अवगत करने के लिए नितान्त आवश्यक है। यों प्रारम्भ से ही सभी शास्त्रों पर न्याय शास्त्र की गहरी छाप पड़ी है और उसकी मान्य पद्धतियों के अनुसार ही अन्य शास्त्रों का विकास हुआ है, किन्तु जब बौद्ध सम्प्रदाय के विद्वानों ने वैदिक दर्शनों की मान्यताओं की आलोचना करते हुए एक नवीन तर्क-प्रधान विचार-दृष्टि प्रस्तुत की और उसने वैचारिक जगत् में ऐसी क्रान्ति उत्पन्न की जिससे भारत की पुरातन मान्यताएँ और मर्यादाएँ अभिभूत होने लगीं तथा भारत की चिरन्तन जीवन-दृष्टि धूमिल होने लगी तब यह आवश्यक हुआ कि शास्त्रीय विचारों में न्याय पद्धति को ऐसा अभिनव रूप दिया जाय जिससे विवादास्पद विषयों के सम्बन्ध में गम्भीर और यथार्थ चिन्तन किया जा सके। फलतः न्याय में एक नयी शैली का आविर्भाव हुआ जो भाषा और सरणि की दृष्टि से अत्यन्त प्रौढ़ और परिष्कृत थी, जिसके

द्वारा विचार सूक्ष्मता की पराकाष्ठा पर पहुँचता था और एक ऐसा निष्कर्ष प्रस्तुत होता था जिसे स्वीकार करने के लिए विचारकों को विवश होना पड़ता था। न्याय की यह शैली नव्य-न्याय शब्द से अभिहित होने लगी और इस शैली का प्रथम ग्रन्थ तत्त्वचिन्तामणि मिथिला के महान् नैयायिक गङ्गेशोपाध्याय की अवर लेखनी से चिन्तनशील विद्वानों को सुलभ हो सका, जिसकी प्रशस्ति में ग्रन्थकार ने स्वयं यह उद्‌गार प्रकट किया है :—

"यतो मणेः पण्डितमण्डनक्रिया
प्रचण्डपाखण्डतमस्तिरस्क्रिया।
विपक्षपक्षे न विचारचातुरी
न च स्वसिद्धान्तवचो दरिद्रता"॥

सचमुच यह ग्रन्थ विद्वज्जनों का महनीय मण्डन बन गया और इसके प्रकाश से अवैदिक विद्वानों द्वारा फैलाए जाने वाले कुतर्क-तम का तिरोधान हुआ। विपक्षियों की वाणी मूक हो गयी और विद्वानों को अपने वैदिक सिद्धान्तों को प्रतिष्ठित करने का मार्ग निर्बाध हो गया।

इस ग्रन्थ में मुख्य रूप से प्रमाणों के सम्बन्ध में विचार किया गया है जिसे ग्रन्थकार ने प्रारम्भ में ही यह कह कर संकेतित किया है :—

"अथ जगदेव दुःखपङ्कनिमग्नमुद्दिधीर्षुरष्टादशविद्यास्थानेषु अभ्यर्हिततमामान्वीक्षिकीं परमकारुणिको मुनिः प्रणिनायि। तत्र प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यर्थं 'प्रमाणादीनां तत्त्वज्ञानात् निःश्रेयसाधिगमः' इत्यादावसूत्रयत्। तेष्वपि प्रमाणाधीना सर्वेषां व्यवस्थितिरिति प्रमाणतत्त्वमत्र विविच्यते"।

आचार्य गङ्गेशोपाध्याय ने "प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि" इस गौतम-सूत्र में निर्दिष्ट प्रमाण की चार विधाओं को स्वीकार कर प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द इन चार खण्डों में अपने महान् ग्रन्थ तत्त्वचिन्तामणि की रचना की है। प्रमाणों की प्रमाणता की सिद्धि का आधार एकमात्र अनुमान ही है, अतः अन्य प्रमाणों की अपेक्षा अनुमान प्रमाण के सम्बन्ध में अत्यन्त विस्तृत और गहन विचार इस ग्रन्थ में प्रस्तुत किया गया है।

न्याय-दर्शन के अनुसार साधन में साध्य की व्याप्ति का ज्ञान ही अनुमान है, अतः इसका स्वरूप-ज्ञान मुख्य रूप से व्याप्ति-ज्ञान पर निर्भर

है। अतएव अनुमान खण्ड में व्याप्ति के सम्बन्ध में अपने समय तक के उपलब्ध प्राय: सभी प्राचीन मतों की समीक्षा करते हुए व्याप्ति के स्वरूप-निर्धारण का प्रयास किया गया है। व्याप्ति पर विचार प्रस्तुत करते हुए उसके जिन पाँच लक्षणों का पहले उल्लेख किया गया है, विद्वत्-समाज में उनकी प्रसिद्धि व्याप्तिपञ्चक अथवा पञ्चलक्षणी के नाम से सर्वविदित है। तत्त्वचिन्तामणि के व्याख्याकार विद्वानों ने, जिनमें पक्षधर मिश्र, वासुदेव सार्वभौम, रघुनाथ तार्किक-शिरोमणि, मथुरानाथ तर्कवागीश, जगदीश भट्टाचार्य एवं गदाधर भट्टाचार्य प्रमुख हैं, अपने-अपने टीका-ग्रन्थ लिखे हैं। उन टीकाओं में मथुरानाथ की टीका का वैशद्य और महत्त्व सर्वमान्य है। अपनी व्याख्या के सम्बन्ध में मथुरानाथ की यह उक्ति सर्वथा यथार्थ है—

"आन्वीक्षिकीपण्डितमण्डलीषु सताण्डवैरध्ययनं विनापि।
मदुक्तमेतत् परिचिन्त्य धीरा निःशङ्कमध्यापनमातनुध्वम्" ॥

व्याप्तिपञ्चक की माथुरी-व्याख्या में यह उक्ति सर्वथा चरितार्थ है। यही कारण है कि नव्य-न्याय के विद्यार्थियों को सर्वप्रथम इस ग्रन्थ का अध्ययन कराया जाता है। मेरा स्वयं इसी के माध्यम से नव्य-न्याय के अध्ययन में प्रवेश हुआ है।

ऐसा लगता है कि श्री शल्य को व्याप्तिपञ्चक-माथुरी की यह विशेषता विदित थी। इसलिए उन्होंने यह आवश्यक समझा कि राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी द्वारा हिन्दी के माध्यम से इस ग्रन्थ की व्याख्या करायी जाय। उन्होंने यह भी इच्छा व्यक्त की थी कि माथुरी की व्याख्या के साथ ही नव्य-न्याय के पारिभाषिक शब्दों का भी परिचय दे दिया जाय, जिससे प्रस्तावित व्याख्या और व्याख्येय ग्रन्थ को हृदयङ्गम करने में कठिनाई न हो। मैंने उनके सुझाव को दृष्टि में रखते हुए यथासम्भव सरल एवं सुबोध हिन्दी में व्याप्तिपञ्चक-माथुरी की व्याख्या लिखने का प्रयास किया है और उसे समझने में नव्य-न्याय के जिन पारिभाषिक पदों का परिज्ञान अपेक्षणीय था, भूमिका में उन सभी का संक्षिप्त विवरण दे दिया है।

इस ग्रन्थ को प्रस्तुत करते हुए मुझे अकादमी के निदेशक श्री यशदेव शल्य को साधुवाद देने में प्रसन्नता हो रही है जिनकी सदिच्छा और

प्रेरणा से नव्य-न्याय जैसे दुरूह शास्त्र के व्याप्ति जैसे कठिन विषय का राष्ट्रभाषा में अवतरण हो सका।

दर्शन के अन्ताराष्ट्रीय विख्यात मनीषी प्रो० के० सच्चिदानन्द मूर्ति, आचार्य, दर्शन विभाग, आन्ध्र विश्वविद्यालय, ने इस पुस्तक के विषय में अपना विद्वत्तापूर्ण स्नेहसिक्त अभिमत व्यक्त कर इसके गौरव और महिमा की जो वृद्धि की है, उसके लिए हम उनके चिर आभारी हैं।

इस ग्रन्थ के मुद्रण में हमारे सहयोगी सुहृद् श्री लक्ष्मीनारायण तिवारी, पुस्तकालयाध्यक्ष, सरस्वती भवन, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, का उदार एवं स्निग्ध सहयोग सर्वाधिक सहायक रहा। प्रेस कापी और प्रूफ-संशोधन का भार यदि उन्होंने अपने ऊपर न लिया होता तो निश्चय ही इस कार्य में कुछ और वर्ष लग जाते। हमारे शिष्य, उक्त विश्वविद्यालय में न्याय-शास्त्र के आचार्य, प० श्रीराम पाण्डेय का श्रम और सहयोग श्लाघनीय है। इन्होंने भी इस कार्य को पूरा करने में बड़े उत्साह से पर्याप्त योगदान किया है। मेरा हृदय इन दोनों महानुभावों के प्रति कृत-वेदिता के भाव से भरा है। मैं कुछ और न कह कर इतना ही कहना चाहूँगा कि इनके आयु और यश की उत्तरोत्तर अभिवृद्धि हो तथा ऐसे विद्या-सम्बन्धी कार्यों को सम्पन्न करने में इनका उत्साह सदैव वृद्धिङ्गत होता रहे।

तारा प्रेस अपने मुद्रण-कार्य के लिए पूरे देश में प्रख्यात है। संस्कृत-ग्रन्थों के विशुद्ध मुद्रण की जो सम्भावना इस मुद्रणालय में है, वह अन्यत्र कठिनता से प्राप्य है। इस प्रेस के अधिष्ठाता श्री रमाशङ्कर पण्डया ने इस ग्रन्थ के मुद्रण में जो रुचि प्रदर्शित की है, उसके लिए उन्हें धन्यवाद देने में मुझे हार्दिक हर्ष है।

विद्वत्स्नेहभाजन

बदरीनाथ शुक्ल

गुरुपूर्णिमा

संवत् २०३९

विषय-सूची

भूमिका

मानव जीवन में विद्या का सर्वाधिक महत्त्व है। उपनिषद् के अनुसार "विद्ययाऽमृतमश्नुते" विद्या से मनुष्य को अमृत मृत्यु-विरोधी आत्म-तत्त्व दर्शन की प्राप्ति होती है। उपनिषद् में "द्वे विद्ये वेदितव्ये" दो विद्याओं को जानने की आवश्यकता बताकर परा अपरा नाम से उनका परिचय दिया है। अपरा विद्या में उन सभी विद्याओं का समावेश किया गया है जिसमें मनुष्य के वर्तमान जीवन तथा मरणोत्तर जीवन के सभी उत्तम लक्ष्यों की प्राप्ति के उपायों का वर्णन है। परा विद्या वह है जिससे मनुष्य अक्षर आत्मतत्त्व का पूर्ण यथार्थ बोध प्राप्त कर धन्य हो उठता है। उसमें किसी कमी की अनुभूति नहीं होती। सब दृष्टि से वह परिपूर्ण हो जाता है, उत्कर्ष की पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है।

उपनिषद् में उपलब्ध विद्या-भेद को बाद के विद्वानों ने प्रतिपाद्य वस्तु तत्त्व के आधार पर विभिन्न रूपों में प्रस्तुत किया है। राजशेखर ने अपनी काव्य मीमांसा में उनका उल्लेख करते हुए कौटिल्य के मान्य विद्या-भेदों को आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति के नाम से अभिहित किया है और "आन्वीक्षिक्या हि विवेचिता त्रयी वार्त्ता दण्डनीत्योः प्रभवति"—आन्वीक्षिक्या—प्रमाणों और तर्कों से विवेचित त्रयी—वेद वार्त्ता और दण्डनीति का आदेश कर सकते हैं, कह कर आन्वीक्षिकी का महत्त्व बताया है।

कौटिल्य ने एक स्थल पर बड़े स्पष्ट शब्दों में आन्वीक्षिकी की सर्वोत्कृष्टता घोषित की है, यथा :

> **"प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।**
> **आश्रयः सर्वधर्माणां सेयमान्वीक्षिकी मता"॥**

आन्वीक्षिकी सभी विद्याओं का प्रदीप—प्रकाशक है, सभी कर्मो का उपाय और सभी धर्मों का आश्रय है।

आन्वीक्षिकी के सम्बन्ध में यह कथन अक्षरशः सत्य है। सचमुच वह सब विद्याओं का प्रकाशक है, क्योंकि समस्त विद्याएँ भाषा की

पिटारी में बन्द हैं। जब तक वह पिटारी नहीं खुलती भाषा का अर्थ-बोध नहीं होता। तब तक उसमें सुरक्षित विद्याएँ प्रकाश में नहीं आ सकती। भाषा के गर्भ से विद्याओं को प्रकाश में लाने का एक मात्र साधन है भाषा के शब्दों का विवक्षित अर्थ के साथ सम्बन्ध-बोध। यह बोध सर्वप्रथम व्यवहार से सम्पन्न होता है और व्यवहार अनुमान के माध्यम से ही शब्दार्थ सम्बन्ध का बोध कराने में सफल होता है, जैसे किसी बालक को जिसे किसी भाषा का बोध नहीं है जब शब्दार्थ का बोध करना होता है तब वयस्क व्यक्ति बालक का पिता या शिक्षक पास में बालक को बिठाकर भाषा समझने वाले किसी कनिष्ठ व्यक्ति को आदेश करता है "घटमानय—घड़ा लाओ"। कनिष्ठ व्यक्ति इस आदेश के अनुपालन में घट ले आता है। पुनः वयस्क व्यक्ति कनिष्ठ को आदेश देता है "घटं नय पटमानय—घड़ा ले जाओ, पट लाओ"। कनिष्ठ व्यक्ति इस आदेश के अनुसार घट ले जाता है और पट ले आता है। बालक कनिष्ठ व्यक्ति की घट लाने पुनः उसे वापस ले जाने और बदले में पट ले आने की क्रिया अपनी आँखों देखता है और अनुमान करता है कि यह सारी क्रिया कनिष्ठ व्यक्ति के प्रयत्न से ठीक उसी प्रकार हो रही है जैसे हमारे दुग्धपान की क्रिया हमारे प्रयत्न से होती है और यह प्रयत्न इन क्रियाओं में उसके मेरे इष्टसाधनता के ज्ञान से हो रहा है जैसे दूध पीने का हमारा प्रयत्न दुग्धपान में हमारे इष्टसाधनता और कर्त्तव्यता के बोध से होता है, फिर उसे यह भी अनुमान होता है कि कनिष्ठ व्यक्ति को यह बोध आदेष्टा व्यक्ति के वाक्य से ही हुआ है, क्योंकि उसके अतिरिक्त इस बोध का कोई साधन सम्प्रति उपस्थित नहीं है, फिर उसे यह भी अनुमान होता है कि घट का बोध उसे घट शब्द से हुआ है पट शब्द से नहीं, क्योंकि "घटमानय" इस वाक्य को सुनकर वह घट लाया है "पटमानय" यह वाक्य सुनकर नहीं। फिर वह यह भी अनुमान कर लेता है कि घड़े के साथ घट शब्द का कोई सम्बन्ध है जिससे इस शब्द से घड़े का बोध हुआ है और पट शब्द का उसके साथ ऐसा सम्बन्ध नहीं है। इसीलिए पट शब्द से उसे घड़े का बोध नहीं हुआ है। इस प्रकार बालक अपने बड़े लोगों के व्यवहार को देखकर अनुमान के माध्यम से भाषा का अर्थ—शब्दार्थ सीखता है। अनुमान की यह प्रक्रिया ही आन्वीक्षिकी है। इससे स्पष्ट है कि यदि आन्वीक्षिकी न हो—अनुमान विद्या न हो तो शब्दार्थ

सम्बन्ध का ज्ञान न हो सकने से भाषा में वाद-विद्याओं की प्राप्ति नहीं हो सकती।

इसी प्रकार आन्वीक्षिकी के बिना कोई कर्म भी नहीं हो सकता, क्योंकि मनुष्य जब कोई कर्म करता है तो किसी प्रयोजन से करता है, किसी लक्ष्य को प्राप्ति के लिए करता है, जैसे एक भूखा व्यक्ति भोजन में, प्यासा व्यक्ति पानी पीने में, रोगी चिकित्सा कराने में, किसान खेती करने में, व्यापारी व्यापार करने में प्रवृत्त होता है तो निश्चय ही इस विश्वास से अपने कर्म में प्रवृत्त होता है कि उसे उसके कर्म का फल प्राप्त होगा, भोजन से भूख मिटेगी, पानी पीने से प्यास बुझेगी और औषधि सेवन से रोग दूर होगा, खेती से अन्न की उपज होगी, व्यापार से सम्पदा बढ़ेगी। सोचने की बात है कि अनुमान के बिना यह विश्वास कौन दिला सकता है। चूँकि भोजन करने से कभी भूख मिट चुकी है, पानी पीने से कभी प्यास बुझ चुकी है, चिकित्सा से कभी बीमारी दूर हो चुकी है, खेती से कभी अन्न की उपज हो चुकी है और व्यापार से कभी सम्पदा बढ़ चुकी है, अतः उसे अनुमान होता है कि जिस कार्य से जो फल मिल चुका है, इस प्रकार के कार्य से आगे भी उस प्रकार का फल मिलेगा। इस अनुमान के भरोसे ही व्यक्ति नये कर्मों में प्रवृत्त होता है। अतः स्पष्ट है कि आन्वीक्षिकी—अनुमान—सब कर्मों का उपाय है।

आन्वीक्षिकी सभी धर्मों का आश्रय भी है, जैसे धर्म से यदि पदार्थ-धर्म लिए जायँ तो निश्चय ही वे अनुमान पर ही आधारित हैं जैसे द्रव्य धर्म द्रव्यत्व की सिद्धि द्रव्यनिष्ठ कार्य सामान्य की कारणता में किञ्चिद्-धर्मावच्छिन्नत्व के अनुमान से तथा पृथिवी धर्म पृथिवीत्व की सिद्धि पृथिवीनिष्ठ गन्ध-समवायिकारणता में किञ्चिद्धर्मावच्छिन्नत्व के अनुमान से होती है।

धर्म से यदि पुण्य लिया जाय तो उसकी सिद्धि भी अनुमान से ही होती है जैसे "स्वर्गकामो यजेत" इस विधि वाक्य से यज्ञ को स्वर्ग का कारण बताया गया है, पर यज्ञ का अनुष्ठान पूरा होने पर यज्ञ-कर्ता को तत्काल स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती अपितु वर्तमान देह का अवसान होने पर प्राप्ति होती है, अतः अनुमान द्वारा यज्ञ के धर्म रूप व्यापार की सिद्धि कर उसके द्वारा यज्ञ में वेदोक्त स्वर्ग-कारणता की उपपत्ति की

जाती है। इस प्रकार आन्वीक्षिकी—अनुमान ही पदार्थ धर्मों का तथा शास्त्रविहित कर्मजन्य धर्मों का साधक होने से उनका आश्रय है।

यह आन्वीक्षिकी प्रमाण और तर्क द्वारा अन्य सभी विद्याओं को प्रतिष्ठित करती है, प्रकाश में लाती है और उन्हें लौकयात्रा के लिए उपयोगी बनाती है।

आन्वीक्षिकी

आन्वीक्षिकी का अर्थ है प्रत्यक्ष-दृष्ट तथा शास्त्रश्रुत विषयों के तात्त्विक स्वरूप को अवगत कराने वाली विद्या। इस विद्या का ही नाम है न्यायविद्या, न्यायशास्त्र तथा अनुमान-शास्त्र आदि, जैसा कि वात्स्यायन ने न्यायशास्त्र के भाष्य में कहा है—

"प्रत्यक्षागमाश्रितमनुमानं साऽन्वीक्षा, प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्यान्वीक्षणमन्वीक्षा, तया प्रवर्तत इत्यान्वीक्षिकी न्यायविद्या, न्यायशास्त्रम्, यत्पुनरनुमानं प्रत्यक्षागमविरुद्धं न्यायाभासः स इति"।

प्रत्यक्ष और आगम पर आश्रित अनुमान का नाम है अन्वीक्षा अर्थात् प्रत्यक्षदृष्ट और आगमश्रुत अर्थ के याथातथ्य की परीक्षा, इस कार्य के लिए प्रवृत्त विद्या का नाम है आन्वीक्षिकी, जिसे न्याय-विद्या और न्याय-शास्त्र भी कहा जाता है, जो अनुमान—अनु ईक्षण—आन्वीक्षिकी प्रत्यक्ष तथा आगम से विरुद्ध हो वह न्यायाभास है।

न्याय

न्याय विचार की वह प्रणाली है जिसमें वस्तु तत्त्व का निर्णय करने के लिए सभी प्रमाणों का उपयोग किया जाता है। वात्स्यायन ने न्याय-शास्त्र की भूमिका में स्पष्ट कहा है—

"प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः"।

सभी प्रमाणों से अर्थ की परीक्षा करना न्याय है। न्याय उस वाक्य-समूह को भी कहा जाता है जो अन्य व्यक्ति को अनुमान द्वारा किसी विषय का बोध कराने के लिए प्रयुक्त होता है। वात्स्यायन ने उसे परम-न्याय कहा है और उसे वाद जल्प वितण्डा रूप विचारों का मूल तथा तत्त्वनिर्णय का आधार बताया है, जैसे—

"साधनीयार्थस्य यावति शब्दसमूहे सिद्धिः परिसमाप्यते तस्य पञ्चावयवाः प्रतिज्ञादयः समूहमपेक्ष्यावयवा उच्यन्ते, तेषु प्रमाणसमवायः, आगमः प्रतिज्ञा, हेतुरनुमानम्, उदाहरणं प्रत्यक्षम्, उपनयनमुपमानम्, सर्वेषामेकार्थसमवाये सामर्थ्यप्रदर्शनं निगमनमिति, सोऽयं परमो न्याय इति, एतेन वादजल्पवितण्डाः प्रवर्त्तन्ते, नातोऽन्यथेति, तदाश्रया च तत्त्वव्यवस्था" (न्या० भा० १ सू०)।

न्याय-शास्त्र के भेद

भारतीय वाङ्मय में न्याय के दो भेद माने गये हैं—वैदिक और अवैदिक। जिस न्याय में वेद का प्रामाण्य स्वीकृत किया गया है वह वैदिक है और जिसमें वेद का प्रामाण्य स्वीकृत नहीं किया गया है वह अवैदिक है। अवैदिक न्याय में चार्वाक, जैन, बौद्ध सम्प्रदाय के सौत्रान्तिक वैभाषिक योगाचार माध्यमिक तथा अन्य देशों और अपने देश के अर्वाचीन चिन्तकों द्वारा उद्भावित समग्र न्याय का समावेश है। वैदिक न्याय में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा तथा उत्तर-मीमांसा—वेदान्त के न्यायों का समावेश है।

गौतमीय न्याय

उक्त सभी न्याय-शास्त्रों में गौतमीय न्याय-शास्त्र को सर्वमूर्धन्य स्थान प्राप्त है क्योंकि न्याय का विवेचन तथा न्याय की प्रणाली—वस्तु तत्त्वका विचार करने में जैसी सावधानी और सतर्कता गौतमीय न्याय में अपनायी गयी है वैसी अन्य कहीं नही अपनायी गयी है। यही कारण है जिससे गौतम का न्याय सूत्र और उस पर आधारित अनन्तर लिखे गये ग्रन्थ ही न्याय-शास्त्र के नाम से विद्वन्मण्डली में विख्यात हैं।

न्याय-शास्त्र की दो धाराएँ

गौतमीय वैदिक न्याय-शास्त्र के समग्र वाङ्मय को दो धाराओं में विभाजित किया जाता है—प्रमेय प्रधान और प्रमाण प्रधान। जिसमें प्रमेय के प्रतिपादन की प्रधानता होती है उसे प्रमेय प्रधान और जिसमें प्रमाण के प्रतिपादन की प्रधानता होती है, उसे प्रमाण प्रधान कहा जाता है। गौतम से गङ्गेश के पूर्व तक के न्यायविद् विद्वानों की कृतियाँ प्रमेय प्रधान हैं और गङ्गेश की तत्वचिन्तामणि तथा उस पर आधारित

परवर्ती विद्वानों की समग्र कृतियाँ प्रमाण प्रधान हैं। प्रमेय प्रधान ग्रन्थराशि को प्राचीन न्याय तथा प्रमाण प्रधान ग्रन्थराशि को नव्य न्याय कहा जाता है।

प्राचीन न्याय तथा नव्य न्याय में जो भेद है वह मुख्यतया उनकी भाषा और शैली पर आधारित है। उन दोनों के ग्रन्थों की भाषा और शैली में इतना पर्याप्त और स्पष्ट अन्तर है जो सामान्य अध्येता को भी तिरोहित नहीं रह पाता। प्राचीन न्याय के ग्रन्थों में जहाँ प्रकारता, विशेष्यता, संसर्गता, प्रतियोगिता, अनुयोगिता, अवच्छेदकता, अवच्छेद्यता, निरूपकता, निरूप्यता आदि शब्द कठिनाई से प्राप्त होते हैं, वहीं नव्य न्याय के ग्रन्थां में इनकी भरमार रहती है। नव्य न्याय के ये शब्द उसमें प्रवेश चाहने वाले अध्येताओं को ठीक उसी प्रकार भयावने लगते हैं जैसे किसी दुर्गम वन में प्रवेश चाहने वाले मनुष्यों को सिंह, व्याघ्र आदि उसके हिंसक जन्तु।

प्राचीन न्याय और नव्य न्याय की शैली में भी महान् भेद है। प्राचीन न्याय की भाषा सरल और निराडम्बर होने पर भी प्रायोगिक शैली के कारण इतनी संक्षिप्त और सांकेतिक होती है कि उसका प्रतिपाद्य विषय बहुत शीघ्रता से स्पष्ट नहीं हो पाता। बहुत से अनुमान ऐसे प्रयुक्त होते हैं शैली की दुःशीलता के कारण ही जिनका अनुमानत्व स्पष्ट नहीं हो पाता, पक्ष, साध्य और हेतु की विशद प्रतिपत्ति नहीं हो पाती। किन्तु नव्य न्याय की भाषा आडम्बर पूर्ण तथा ऊपर से स्वरूपतः दुर्गम होते हुए भी शैली की शालीनता के कारण अर्थतः अत्यन्त स्पष्ट होती है। पारिभाषिक पदों का परिचय रहने पर भाषा या शैली के कारण प्रतिपाद्य विषय के समझने में कोई कठिनाई नहीं होती, कहीं कोई अस्पष्टता नहीं रहती। विषय तथा प्रतिपादन दोनों के गुणदोष चन्द्रमा की धवलिमा के समान स्पष्ट दीखते हैं। इसी से इस भूमिका में पारिभाषिक शब्दों पर विशेष विचार प्रस्तुत किया गया है।

प्राचीन न्याय और नव्य न्याय में एक और भी अन्तर है वह यह कि प्राचीन न्याय में विषय का प्रतिपादन स्थूल होता है, उसके विचार तलस्पर्शी नहीं होते। वे विषय के बाह्य कलेवर का स्पर्श कर रुक जाते हैं। किन्तु नव्य न्याय में विषय का प्रतिपादन सूक्ष्म होता है। उसके

विचार विषय के सर्वाङ्ग का स्पर्श करते हैं। वे उसके भीतर प्रविष्ट हो उसे निर्ममता के साथ कुरेदते हैं, उसका कठोर और निष्पक्ष परीक्षण कर उसके श्वेत और काले दोनों पक्षों को अध्येता के समक्ष प्रस्तुत करते हैं।

हाँ तो तथ्य यह है कि न्याय-शास्त्र के प्राचीन न्याय और नव्य न्याय के नाम से जो प्रस्थान प्रतिष्ठित हैं उनका आधार है प्रतिपाद्य विषय का गौण प्रधान भाव तथा भाषा और शैली की भिन्नता, किन्तु दोनों प्रस्थानों का मूल स्रोत एक ही है और वह है गौतम का न्याय-दर्शन—न्याय-सूत्र।

यह प्रायः सर्वमान्य है कि नव्य न्याय का प्रारम्भ मुख्य रूप से गङ्गेशोपाध्याय के तत्त्वचिन्तामणि से हुआ और प्रमाण के महत्त्व को दृष्टि में रखकर उसके सम्बन्ध में विस्तृत चर्चाएँ की गयीं, जिनके कारण न्याय-शास्त्र प्रमाण-शास्त्र के नाम से विद्वन्मण्डली में व्यवहृत होने लगा और न्याय-शास्त्र के अध्येता प्रमाणपटु के रूप में आदर पाने लगे।

प्रमाण

प्रमाण का अर्थ है प्रमा का करण। प्रमा का अर्थ है यथार्थ अनुभव। जो वस्तु जैसी है उस वस्तु का उसी रूप में यदि अनुभव हो तो वह यथार्थ अनुभव होगा, जैसा अर्थ वैसा अनुभव, अर्थसदृश अनुभव। अनुभव में अर्थ का सादृश्य यही है। अनुभूयमान अर्थ में जो धर्मी है वही उसके अनुभव में भी उसके प्रकार रूप में है। रस्सी का अनुभव यदि रस्सी के रूप में है तो वह यथार्थ है, यदि सर्प के रूप में है तो अयथार्थ हैं, क्योंकि वह अर्थ सदृश नहीं है। उसमें अर्थ का धर्म रज्जुत्व प्रकार नहीं है, अपितु जो उसका धर्म नहीं है, सर्पत्व, वह प्रकार है। यथार्थ अनुभवजन्य संस्कार से कालान्तर में होने वाली पूर्वानुभूत अर्थ की स्मृति भी यथार्थ होती है, किन्तु वह अनुभव—अनु अर्थात् प्रमाण-व्यापार के अनन्तरभव—उत्पन्न न होने से प्रमा नहीं कही जाती, क्योंकि प्रमा वही है जो प्रमाण से उत्पन्न हो, जिसके जन्म में प्रमाण-व्यापार की अपेक्षा हो। स्मृति तो पूर्वानुभूत संस्कार के उद्‌बुद्ध होने मात्र से उत्पन्न हो जाती है, उसके लिए किसी प्रमाण-व्यापार की अपेक्षा नहीं होती।

प्रमाण-भेद

न्याय-शास्त्र के अनुसार प्रमाण चार हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। मीमांसा, वेदान्त आदि शास्त्रों में अन्य प्रमाण भी माने गये

हैं, जैसे अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, सम्भव, चेष्टा और ऐतिह्य; किन्तु न्याय-दर्शन में उन्हें स्वतन्त्र मान्यता न देकर प्रथम तीन का अनुमान में तथा अन्तिम दो का शब्द में अन्तर्भाव कर लिया गया है।

प्रत्यक्ष

प्रति—विषयं प्रतिगतम् अक्षं—इन्द्रियम्, प्रत्यक्ष शब्द की इस व्युत्पत्ति के अनुसार विषय-सन्निकृष्ट-इन्द्रिय ही प्रत्यक्ष प्रमाण है। प्रमाणभूत इन्द्रियाँ छः हैं—घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र और मन। ये अपने विषय से सन्निकृष्ट होकर उनका प्रत्यक्ष अनुभव उत्पन्न करती हैं।

घ्राण का विषय है गन्ध, गन्धगत जातियाँ और उनका अभाव। इनके साथ घ्राण का सन्निकर्ष इनके आश्रय द्वारा होता है जिनमें द्रव्य प्रधान है। इस इन्द्रिय से द्रव्य का ग्रहण नहीं होता।

रसन का विषय है रस, रसगत जातियाँ और उनका अभाव। इनके साथ भी रसन का सन्निकर्ष इनके द्रव्य प्रमुख आश्रय के द्वारा होता है। इससे भी द्रव्य का ग्रहण नहीं होता।

चक्षु का विषय है उद्भूत रूप, रूपगत जातियाँ, उद्भूत रूप का आश्रय द्रव्य पृथक्त्व संख्या संयोग विभाग परत्व अपरत्व परिमाण स्नेह द्रवत्व क्रिया-कर्म चाक्षुष आश्रय में रहने वाली जातियाँ तथा समवाय। उन सबका अभाव द्रव्य के साथ इसका संयोग रूप सन्निकर्ष है और अन्यों के साथ द्रव्य के द्वारा है।

त्वक् का विषय है उद्भूत स्पर्श वायु से भिन्न उसका आश्रय द्रव्य और रूप, रूपमात्र में रहने वाली जाति और उनके अभाव से भिन्न चक्षु के सब विषय। द्रव्य के साथ इसका भी संयोग सन्निकर्ष है और अन्यों के साथ द्रव्य के द्वारा है।

श्रोत्र का विषय है शब्द, शब्दगत जाति और उनका अभाव। कर्ण-शष्कुली से अवच्छिन्न आकाश को श्रोत्र कहा जाता है। शब्द आकाश का गुण है, अतः उसके साथ श्रोत्र का सन्निकर्ष समवाय है।

मन का विषय है आत्मा—जीवात्मा, उसके विशेष गुण, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न, इनकी जातियाँ और इनके अभाव। आत्मा के साथ मन का विलक्षण संयोग ही आत्मा के साथ मन का सन्निकर्ष है। अन्यों के साथ मन का सन्निकर्ष आत्मा के द्वारा होता है। जो मन जिस आत्मा के अदृष्ट से उसे प्राप्त होता है उसी के साथ उसका विलक्षण

संयोग होता है। सामान्य संयोग तो प्रत्येक मन का प्रत्येक आत्मा के साथ होता है, क्योंकि आत्मा व्यापक है, किन्तु वह संयोग मन का प्रत्यक्षोपयोगी सन्निकर्ष नहीं है। यही कारण है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने ही आत्मा और अपने ही आत्मगुणों का प्रत्यक्ष होता है, अन्य आत्मा, उनके गुण तथा परमात्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता।

प्रत्यक्ष अनुभव

प्रत्यक्ष अनुभव प्रमाणभूत इन्द्रियों के छः होने से छः प्रकार का है—घ्राणज, रासन, चाक्षुष, त्वाच या स्पार्शन, श्रावण और मानस। प्रत्येक प्रत्यक्ष के दो भेद हैं—सविकल्पक और निर्विकल्पक। सविकल्पक प्रत्यक्ष वह है जो किसी वस्तु के विशेष्य, विशेषण और उनके सम्बन्ध के परिप्रेक्ष्य में ग्रहण करता है, जैसे "दण्डी पुरुषः" यह प्रत्यक्ष दण्ड को विशेषण पुरुष को विशेष्य और दोनों के संयोग को उनके सम्बन्ध रूप में ग्रहण करने से सविकल्पक है।

जो प्रत्यक्ष वस्तु के स्वरूप मात्र को विषय बनाता है, उसमें विशेषण, विशेष्य तथा सम्बन्ध नहीं ग्रहण करता, वह निर्विकल्पक है, जैसे घट, घटत्व और समवाय को विशेष्य विशेषण और सम्बन्ध के रूप में ग्रहण करने वाले "घटः" इस प्रत्यक्ष के पूर्व घट घटत्व अथवा घट घटत्व समवाय के स्वरूप मात्र को विषय बनाने वाला 'घटघटत्वे' अथवा 'घटघटत्वसमवायाः' इस प्रकार का ज्ञान। इन ज्ञानों में सविकल्पक का मानस प्रत्यक्ष होता है जिसे अनुव्यवसाय कहा जाता है। निर्विकल्पक ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं होता। "घटः" इस घटत्वप्रकारक प्रत्यक्ष के कारण रूप में उसका अनुमान होता है।

विशिष्ट बुद्धि विशेषण ज्ञान के बिना नहीं होती। अतः विशिष्ट बुद्धि में विशेषण ज्ञान को कारण माना जाता है। घट के साथ चक्षु का सन्निकर्ष होने के बाद 'घटः' इस प्रकार के घटत्व विशिष्ट घट के प्रत्यक्ष का होना "घटं जानामि" इस अनुभव से सिद्ध है, अतः उसके पूर्व में विशेषण घटत्व का ज्ञान आवश्यक है। "घटः" यह प्रत्यक्ष घट-घटत्व के समवाय सम्बन्ध को भी विषय बनाता है और सम्बन्ध के प्रत्यक्ष में सम्बन्धि-द्वय का प्रत्यक्ष कारण होता है, अतः घटत्व का निर्विकल्पक घट को विषय बनाता है।

निर्विकल्पक के दो भेद हैं—शुद्ध और मिश्र। शुद्ध वह है जो पूरे अंश में निर्विकल्पक होता है, जैसे घट चक्षु के सन्निकर्ष के बाद "घटः" इस प्रत्यक्ष के पूर्व उत्पन्न होने वाला घट-घटत्व का निर्विकल्पक। मिश्र वह है जो किसी अंश में सविकल्पक और किसी अंश में निर्विकल्प होता है, जैसे घट-ज्ञान के बाद ज्ञान में घट को विशेषण रूप में तथा ज्ञान और ज्ञानत्व के स्वरूप मात्र को विषय करने वाला ज्ञानत्व—'घट ज्ञाने' इस प्रकार का ज्ञान। इसे नरसिंहाकार ज्ञान कहा जाता है।

सविकल्पक के भेद

सविकल्पक प्रत्यक्ष के दो भेद हैं—लौकिक और अलौकिक। इन्द्रिय के लौकिक सन्निकर्ष से उत्पन्न प्रत्यक्ष लौकिक और उसके अलौकिक सन्निकर्ष से उत्पन्न प्रत्यक्ष को अलौकिक कहा जाता है। लौकिक सन्निकर्ष वह है जिसे सामान्य लोग समझने में कतराते नहीं। वे छः हैं—संयोग, संयुक्त-समवाय, संयुक्त-समवेत-समवाय, समवाय, समवेत-समवाय और विशेषणता। द्रव्य के साथ इन्द्रिय का संयोग सन्निकर्ष होता है। द्रव्यगत गुण जाति कर्म के साथ संयुक्त-समवाय, गुण कर्मगत जाति के साथ संयुक्त-समवेत-समवाय, शब्द के साथ श्रोत्र का समवाय, शब्दगत जाति के साथ समवेत-समवाय, अभाव और समवाय के साथ विशेषणतास्वरूप सम्बन्ध सन्निकर्ष होता है।

अलौकिक सन्निकर्ष के तीन भेद हैं—सामान्य-लक्षण, ज्ञान-लक्षण और योगज।

जब किसी आश्रय विशेष में किसी सामान्य का प्रत्यक्ष होता है तब वह सामान्य अपने उन आश्रयों के साथ जो देश और काल दोनों दृष्टियों से विप्रकृष्ट हैं, इन्द्रिय का सन्निकर्ष बन जाता है। इसे ही सामान्य के समस्त आश्रयों के साथ इन्द्रिय का सामान्य-लक्षण-सन्निकर्ष कहा जाता है। जैसे किसी धूम का चाक्षुष प्रत्यक्ष होने पर उस प्रत्यक्ष में चक्षुः संयुक्त धूम में प्रकार होकर भासित होने वाला धूमत्व सकल धूम के साथ चक्षु का सन्निकर्ष हो जाता है और उसके द्वारा समस्त धूम का प्रत्यक्ष होता है, यतः सामान्य लोगों को इस सन्निकर्ष को तथा इससे होने वाले प्रत्यक्ष को हृदयङ्गम करने में कठिनाई होती है, अतः इस सन्निकर्ष को तथा इस प्रत्यक्ष को अलौकिक कहा जाता है। सामान्य-सन्निकर्ष के साधारणतया लोकगम्य न होने पर भी इसे मानना आवश्यक होता है।

यदि इसे न माना जायगा तो संकट सामने खड़े होंगे। एक यह कि पर्वत में धूम को देखकर पर्वत-निष्ठ-वह्नि का अनुमान न हो सकेगा, क्योंकि पर्वतीय धूम और पर्वतीय वह्नि का पूर्व में सहचार दर्शन न होने से उनमें व्याप्य-व्यापक-भाव का ज्ञान नहीं है और जब तक जिस हेतु में जिस साध्य की व्याप्ति का ज्ञान न हो तब तक उस हेतु से उस साध्य का अनुमान नहीं हो सकता, क्योंकि तत्साध्यक तद्धेतुक अनुमिति के पूर्व तद्धेतु में तत्साध्य की व्याप्ति का ज्ञान कारण होता है।

दूसरा संकट यह है कि महानस में वह्नि और धूम का सहचार दर्शन होने पर जब महानसीय धूम में महानसीय वह्नि की व्याप्ति का ज्ञान होता है उस समय धूम में वह्नि-व्यभिचार का सन्देह होना अनुभव सिद्ध है, जो सामान्य-सन्निकर्ष न मानने पर उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि जो धूम सामने है उसमें व्याप्ति का प्रत्यक्ष निश्चय है। अतः उसमें व्यभिचार संशय की सम्भावना नहीं है और अन्य धूम को जानने का कोई साधन नहीं है जिससे अन्य धूम को ज्ञात कर उसमें वह्नि-व्यभिचार का संशय किया जा सके।

किन्तु जब सामान्य को सन्निकर्ष माना जाता है तब ये दोनों संकट स्वयं निरस्त हो जाते हैं, क्योंकि महानस में वह्नि और धूम का लौकिक सन्निकर्ष द्वारा प्रत्यक्ष होने पर वह्नित्व और धूमत्व रूप सामान्य-सन्निकर्ष द्वारा सम्पूर्ण वह्नि और धूम का अलौकिक प्रत्यक्ष होकर धूम-सामान्य से वह्नि-सामान्य की व्याप्ति का ज्ञान हो जाता है। अतः पर्वतीय धूम को देखने पर उसमें पूर्व गृहीत पर्वतीय वह्नि की व्याप्ति का स्मरण होने से उससे पर्वतीय वह्नि के अनुमान में कोई बाधा नहीं पड़ती।

इसी प्रकार महानस के धूम में वह्नि की व्याप्ति का प्रत्यक्ष होने पर वह्नित्व धूमत्व रूप सामान्य-लक्षण-सन्निकर्ष से समस्त वह्नि और धूम का अलौकिक प्रत्यक्ष हो जाने से दूरस्थ धूम में वह्नि की व्याप्ति का निश्चय न होने से उसमें वह्नि-व्यभिचार का संशय हो सकता है।

इसी प्रकार ज्ञान-लक्षण-सन्निकर्ष और उससे होने वाले प्रत्यक्ष के लोकगम्य न होने पर भी ज्ञान को अलौकिक सन्निकर्ष और उससे अलौकिक प्रत्यक्ष का उदय मानना आवश्यक है। यदि ज्ञान को सन्निकर्ष न माना जायगा तो सूर्य के प्रखर प्रकाश में चमकती सीपी में जो कभी-कभी रजत की बुद्धि हो जाती है जो उस सीपी में रजतत्व का प्रत्यक्ष

हो जाता है उसकी उपपत्ति न हो सकेगी, क्योंकि वहाँ रजत के सन्निहित न होने से रजतत्व के साथ चक्षु का संयुक्त-समवाय-सन्निकर्ष सम्भव नहीं है और सन्निकर्ष के बिना किसी का प्रत्यक्ष होता नहीं। ज्ञान को सन्निकर्ष मान लेने पर यह अनुपपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि रजत सदृश सीपी को देखने पर रजतत्व-प्रकारक सीपी की स्मृति हो जाती है। यह रजतत्व का स्मरणात्मक ज्ञान ही रजतत्व के साथ चक्षु का सन्निकर्ष बनकर उसका प्रत्यक्ष करा देता है।

प्रश्न होगा कि ठीक है। रजतत्व स्मरण-रूप-ज्ञान-लक्षण-सन्निकर्ष से रजतत्व का प्रत्यक्ष हो जाय, किन्तु उसका भान सीपी में कैसे होगा, क्योंकि सीपी के द्वारा तो वह सन्निकर्ष होता नहीं। इसका उत्तर है कि तद्धर्मी में तत्प्रकारक बुद्धि के प्रति तद्धर्मी में तद्भाव का निश्चय प्रतिबन्धक होता है, अतः प्रतिबन्धक निश्चय का अभाव तद्धर्मी में तत्प्रकारक बुद्धि का जनक होता है। अतएव सीपी के साथ चक्षु का लौकिक-संयोग-सन्निकर्ष और रजतत्व के साथ चक्षु का ज्ञान-लक्षण-सन्निकर्ष ये दोनों 'इदं रजतम्' इस ज्ञान में 'इदं न रजतम्' इस निश्चया-भावरूप कारण के संयोग से इदन्त्व रूप से सीपी में रजतत्व का प्रत्यक्ष उत्पन्न कर देते हैं।

योगाभ्यास से योगी के आत्मा में एक विशेष शक्ति उत्पन्न होती है, जिसे योगज धर्म कहा जाता है। वह योगी की इन्द्रिय का सारे भूत, भविष्य, वर्तमान के साथ सन्निकर्ष बन जाता है, जिससे इसे सर्वज्ञता प्राप्त हो जाती है। यह भारत के प्रामाणित वाङ्मय में बहुचर्चित होने से मान्य है।

त्वङ्-मनः-संयोग

त्वक् इन्द्रिय के साथ मन का संयोग ज्ञान मात्र का कारण होता है। निद्रा के समय मन त्वक् का त्याग कर शरीर के भीतर पुरितति नाम की नाड़ी में जाकर स्थिर हो जाता है। अतः उस समय त्वङ्मनःसंयोग-रूप ज्ञान-सामान्य के कारण के न होने से किसी भी ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती।

यह ज्ञातव्य है कि प्रत्यक्ष के विषय में अब तक जो कुछ कहा गया है वह सब जन्य प्रत्यक्ष के सन्दर्भ में है। न्याय-शास्त्र में उससे अतिरिक्त नित्य प्रत्यक्ष की भी कल्पना है, जो ईश्वर में समवेत सर्व-विषयक तथा

एक होता है और वह सविकल्पक-विशिष्ट ज्ञानात्मक ही होता है तथा यथार्थ ही होता है।

जन्य-सविकल्पक के दो भेद होते हैं यथार्थ—प्रमा और अयथार्थ—भ्रम। इसे ही विपर्यास, विपर्यय, विपरीत-ज्ञान अन्यथाख्याति आदि शब्दों से व्यवहृत किया जाता है। अयथार्थ प्रत्यक्ष के चार भेद हैं—संशय, विपर्यय, आहार्य और तर्क। एक धर्मी में भाव-अभाव रूप दो विरोधी धर्मों को ग्रहण करने वाले प्रत्यक्ष को संशय कहा जाता है, जैसे किसी ऊँचे द्रव्य को देखने पर उसमें स्थाणु या पुरुष का विशेष लक्षण न दीख पड़ने की स्थिति में "अयं स्थाणुः न वा" अथवा "अयं पुरुषो न वा" इस प्रकार का संशय उत्पन्न होता है। विपर्यय का अर्थ है किसी वस्तु में अविद्यमान धर्म का निश्चय, जैसे मन्द प्रकाश में रस्सी में सर्पत्व का, सूर्य के प्रकाश में में चमकती सीपी में रजतत्व का प्रत्यक्ष।

आहार्य प्रत्यक्ष उसे कहा जाता है जो विरोधी निश्चय के रहते इच्छा के बल उत्पन्न होता है। इसके दो भेद हैं—नियताहार्य और अनियताहार्य। जिस ज्ञान में एक विरोधी धर्म धर्मितावच्छेदक और दूसरा विरोधी धर्म प्रकार होता है वह नियताहार्य है, जैसे 'निर्वह्निः वह्निमान्' यह प्रत्यक्ष। उससे भिन्न अनियताहार्य है, जैसे "निर्वह्निः पर्वतः", इस ज्ञान के दूसरे या तीसरे क्षण में उत्पन्न "पर्वतो वह्निमान्" यह प्रत्यक्ष।

व्याप्य के आरोप होने वाले व्यापक के आरोपात्मक ज्ञान को तर्क कहा जाता है। यह धर्मी में आपाद्य के अभाव का निश्चय रहते हुए आपादक में आपाद्य की व्याप्ति के ज्ञान और धर्मी में आपादक के आरोप आहार्य ज्ञान से उत्पन्न होता है, जैसे धूम से वह्नि-व्यभिचार की शंका के प्रतिरोध में यह तर्क किया जाता है कि धूम यदि वह्नि का व्यभिचारी होगा, वह्नि के बिना रहेगा, तो वह्नि से जन्य न होगा, यह तर्क धूम में वह्निजन्यत्वाभावरूप आपाद्य के अभाव वह्निजन्यत्व के निश्चय—जो जिसका व्यभिचारी होता है उससे जन्य नहीं होता—इस सामान्य नियम के अनुसार वह्नि-व्यभिचार में वह्निजन्यत्वाभाव की व्याप्ति के निश्चय और धूम में वह्नि-व्यभिचार के आरोप से उत्पन्न होता है।

तर्क का प्रयोजन होता है विपरीतानुमान, अर्थात् आपाद्य के अभाव से आपादक का अनुमान, जैसे उपनय तर्क का फल है धूम यतः वह्निजन्य है अतः वह्नि का व्यभिचारी नहीं है।

जो तर्क विपरीत अनुमान कराने में सफल नहीं होता वह तर्क का आदर नहीं पाता, जैसे क्षिति अङ्कुर आदि मनुष्याकर्तृक कार्य यदि कर्तृ-जन्य हो तो उसे शरीरजन्य भी होना चाहिए, यह तर्क मान्य नहीं है, क्योंकि इससे यह विपरीत अनुमान नहीं हो पाता कि क्षिति आदि यतः शरीराजन्य हैं अतः कर्ता से भी अजन्य है, क्योंकि इस अनुमान के लिए यही व्याप्ति पर्याप्त है कि जो अजन्य होता है वह कर्ता से अजन्य होता है। अतः जो शरीराजन्य होता है वह कर्ता से अजन्य होता है, यह व्याप्ति प्रसिद्ध है, क्योंकि व्याप्य के गर्भ में शरीर का प्रवेश व्यर्थ है और अजन्यत्वमात्र को हेतु बनाने पर वह क्षिति आदि में असिद्ध है।

अनुमान

अनुमान का अर्थ है अनुमिति का करण। अनुमिति का लक्षण है पक्ष में व्याप्ति-विशिष्ट-हेतु के ज्ञान से उत्पन्न होने वाला ज्ञान, जैसे "पर्वतो वह्निव्याप्य धूमवान्" इस ज्ञान से उत्पन्न "पर्वतो वह्निमान्" यह ज्ञान।

करण का अर्थ है व्यापार द्वारा कार्य का असाधारण कारण, जैसे दण्ड, चक्र आदि कपाल-द्वय-संयोग द्वारा घट का, तुरी, वेमा आदि तन्तु-संयोग द्वारा पट का असाधारण कारण होने से क्रम से घट पट का करण है।

व्यापार का अर्थ है "तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनत्वम्", जो जिससे जन्य होता है और उसके जन्य का जनक होता है वह उसका उसके कार्य की उत्पत्ति में व्यापार होता है।

कपाल-द्वय-संयोग दण्ड आदि से जन्य—परम्परया जन्य होने तथा दण्ड आदि से जन्य घट आदि का जनक होने से घट आदि की उत्पत्ति के लिए दण्ड आदि का व्यापार है।

व्यापार द्वारा कारण होने का अर्थ है व्यापारात्मक-सम्बन्ध या व्यापार-घटित-सम्बन्ध से कारण होना। दण्ड आदि अपने व्यापार स्वप्रयोज्य-संयोग-सम्बन्ध से घट आदि का कारण होता है। यज्ञ ब्राह्मण-वध आदि अपने व्यापारात्मक-स्वनिष्ठ-अदृष्टवद्-सम्बन्ध से स्वर्ग-नरक का कारण होता है।

असाधारण कारण का अर्थ है कार्यत्वानवच्छिन्न अथवा कार्यत्व-व्याप्यधर्मावच्छिन्न कार्यता से निरूपित कारणता का आश्रय। ईश्वर उसके ज्ञान इच्छा प्रयत्न दिशा काल धर्म अधर्म और कार्य का प्रागभाव

किसी कार्य का असाधारण कारण नहीं होता, क्योंकि ये सब कार्य मात्र के कारण हैं। इनकी कार्यता कार्यत्वावच्छिन्न अथवा कार्यत्वव्याप्यधर्मावच्छिन्न नहीं है।

अनुमान-भेद

न्यायसूत्र के अनुसार अनुमान के तीन भेद हैं—पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट।

पूर्ववत् का अर्थ है कारण के कार्य का अनुमान, जैसे आकाश में मेघों की उठान से भावी वृष्टि का अनुमान।

शेषवत् का अर्थ है कार्य से कारण का अनुमान, जैसे प्रवाह की वृद्धि, द्रुतगामिता, तृणादि-बहुलता आदि से भूत वृष्टि का अनुमान।

सामान्यतोदृष्ट का अर्थ है कार्य-कारण-भाव नियम न होने पर भी एक सहचरित पदार्थ से अन्य सहचरित पदार्थ का अनुमान, जैसे एक स्थान में देखे गये पदार्थ का अन्य स्थान में दिखाई देना उस पदार्थ के अन्य स्थान में जाने से होता है। इस सहचार नियम के आधार पर प्रातः पूर्व में देखे गये सूर्य को सायंकाल पश्चिम में देखकर सूर्य के पूर्व से पश्चिम जाने का अनुमान।

अथवा पूर्ववत्—एक आश्रय में एक साथ प्रत्यक्ष देखे गये दो पदार्थों में एक से दूसरे का पूर्व की भाँति साथ होने का अनुमान, जैसे पाकशाला में एक साथ प्रत्यक्ष देखे गये धूम और वह्नि में धूम से पर्वत में वह्नि का अनुमान। शेषवत्—प्रसक्त का प्रतिषेध और अन्यत्र प्रसक्ति के अभाव से शेष बचने वाले पदार्थ का अनुमान, जैसे भावात्मक होने के कारण द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय में शब्द के अन्तर्भाव की प्रसक्ति होने पर सत्ता जाति का आश्रय होने से सामान्य, विशेष और समवाय में, एक द्रव्य मात्र में समवेत होने से द्रव्य में और शब्दान्तर का कारण होने से कर्म में अन्तर्भाव का निषेध तथा अभाव में भावात्मक शब्द के अन्तर्भाव की अप्रसक्ति से शेष बचने वाले गुण में शब्द के अन्तर्भाव का अनुमान। सामान्यतोदृष्ट—जिन दो पदार्थों में व्याप्य-व्यापकभाव प्रत्यक्ष-विदित न हो, किन्तु प्रत्यक्ष-विदित व्याप्य-व्यापकभाव वाले पदार्थों का सामान्य-साजात्य हो, उनमें एक से दूसरे पदार्थ का अनुमान; जैसे इच्छा आदि गुण और आत्मा का परस्पर सम्बन्ध जब विदित नहीं है, किन्तु सामान्य रूप से गुण और द्रव्य का

सम्बन्ध प्रत्यक्ष विदित है तब इच्छा आदि में गुणत्व रूप से अन्य गुण का और आत्मा में द्रव्यत्व रूप से अन्य द्रव्य का साजात्य होने के कारण इच्छा आदि गुणों से उनके आश्रय रूप में आत्म-स्वरूप द्रव्य का अनुमान।

तर्कभाषाकार केशव मिश्र ने उक्त तीनों अनुमानों को दो वर्गों में प्रदर्शित किया है—वीत और अवीत। वीत-अनुमान वह है जो साध्य-साधन के अन्वय-सहचार के आधार पर किसी पदार्थ का भाव रूप में साधन करता है। इसके विपरीत अवीत-अनुमान वह है जो साध्य-साधन के व्यतिरेक-सहचार को आधार बनाकर प्रवृत्त हो किसी का विधायक न होकर प्रतिषेधक होता है। शेषवत् अनुमान अवीत-अनुमान है तथा पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्ट वीत-अनुमान हैं। अनुमान के वीत, अवीतभेद सांख्यतत्त्वकौमुदी में विशद रूप से चर्चित हैं। इनका विस्तृत निरूपण तर्कभाषा की व्याख्या में द्रष्टव्य है।

उक्त प्रत्येक अनुमान के तीन भेद हैं—केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी। इन भेदों का आधार तार्किक शिरोमणि रघुनाथ ने साध्य को, उदयनाचार्य ने व्याप्तिग्राहक सहचार को और गङ्गेशोपाध्याय ने व्याप्ति को माना है।

रघुनाथ का तात्पर्य यह है कि जिस साध्य का विपक्ष नही होता उस साध्य का अनुमान केवलान्वयी अनुमान केवलान्वयी अनुमान कहा जाता है, जैसे वाच्यत्व, ज्ञेयत्व आदि केवलान्वयी—सर्वत्र वृत्ति पदार्थ का अनुमान। एवं जिस साध्य का सपक्ष नहीं होता उस साध्य का अनुमान केवलव्यतिरेकी अनुमान कहा जाता है, जैसे गन्ध से पृथिवी में पृथिवीतरभेद का अनुमान। जिस साध्य के सपक्ष विपक्ष दोनों होते हैं उस साध्य का अनुमान अन्वयव्यतिरेकी अनुमान कहा जाता है, जैसे धूम से वह्नि का अनुमान।

सपक्ष का अर्थ है जिसमें साध्य का निश्चय हो और विपक्ष का अर्थ है जिसमें साध्य के अभाव का निश्चय हो। वाच्यत्व, ज्ञेयत्व आदि धर्म सारे पदार्थ में हैं। उसके अभाव के लिए कोई स्थान नहीं है। अतः उसके अभाव का कहीं निश्चय न होने से उसका कोई विपक्ष नहीं है। पृथिवीतरभेद पृथिवीतर जल आदि में वाधित है और पृथिवी में सन्दिग्ध है। अतः पृथिवीतरभेद का कहीं निश्चय न होने से उसका कोई सपक्ष

तथा विपक्ष नहीं है। महानस आदि में वह्नि का निश्चय होने से वह उसका सपक्ष है और जलाशय आदि में वह्नि के अभाव का निश्चय होने से वह उसका विपक्ष है।

उक्त अनुमान-भेद के सम्बन्ध में उदयनाचार्य का मन्तव्य है कि अन्वयसहचार—हेतु में साध्य का सहचार; और व्यतिरेकसहचार—साध्याभाव में हेत्वभाव का सहचार; इन दोनों सहचारों से अन्वय-व्याप्ति का ही ज्ञान होता है और उसी से अनुमिति होती है, अतः जिस अनुमिति के उत्पादक व्याप्ति-ज्ञान का जन्म केवल अन्वय-सहचार के ज्ञान से होता है उस अनुमिति का कारण केवलान्वयी अनुमान, एवं जिस अनुमिति का उत्पादक व्याप्ति-ज्ञान केवलव्यतिरेक-सहचार के ज्ञान से उत्पन्न होता है उस अनुमिति का कारण केवलव्यतिरेकी अनुमान, तथा जिस अनुमिति का उत्पादक व्याप्ति-ज्ञान अन्वयसहचार और व्यतिरेकसहचार दोनों के ज्ञान से उत्पन्न होता है उस अनुमिति का करण अन्वयव्यतिरेकी अनुमान कहा जाता है।

गङ्गेशोपाध्याय का अभिप्राय यह है कि अनुमिति की उत्पत्ति केवल अन्वय-व्याप्ति के ज्ञान से ही नहीं होती, किन्तु व्यतिरेकव्याप्ति के ज्ञान से भी होती है। अतः जिस अनुमिति का जन्म केवल अन्वयव्याप्ति के ज्ञान से होता है उस अनुमिति का करण केवलान्वयी अनुमान, एवं जिस अनुमिति का जन्म केवल-व्यतिरेकव्याप्ति के ज्ञान से होता है उस अनुमिति का करण केवलव्यतिरेकी अनुमान, तथा जिस अनुमिति का जन्म अन्वयव्याप्ति और व्यतिरेकव्याप्ति दोनों से होता है उस अनुमिति का करण अन्वयव्यतिरेकी अनुमान कहा जाता है।

उक्त सभी अनुमानों के दो मुख्य भेद हैं—एक स्वार्थानुमान, दूसरा परार्थानुमान।

स्वार्थानुमान

स्वार्थानुमान वह अनुमान है जिससे स्वयं अनुमान-कर्ता को अनुमिति का लाभ होता है, जैसे कोई मनुष्य महानस आदि अनेक स्थानों में धूम और अग्नि के सहचार को देखकर धूम में अग्नि की व्याप्ति का निश्चय करता है। उसके बाद कभी पर्वत के पास पहुँचने पर पर्वत में उसे अग्नि का सन्देह होता है, किन्तु जब वहाँ पर्वत के मध्य देश से आकाश तक अविच्छिन्न रूप से फैले धूम को देखता है तब धूम में पूर्वगृहीत अग्नि के

व्याप्ति के संस्कार का उद्‌बोधन होकर "जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि होती है" इस प्रकार धूम में अग्नि की व्याप्ति का स्मरण उसे होता है। उसके बाद पर्वत में अग्नि के व्याप्य रूप से धूम का दर्शन होता हैं। इस दर्शन के फलस्वरूप उसे पर्वत में अग्नि की अनुमिति होती है। इस प्रकार यह साध्यानुमिति उसी मनुष्य को होती है जो पक्ष में साध्य-व्याप्य-हेतु का निश्चय रूप अनुमान स्वयं अर्जित करता है। स्वयं अर्जित किये जाने तथा स्वयं में अनुमिति का उत्पादन करने के कारण यह अनुमान स्वार्थानुमान कहा जाता है।

परार्थानुमान

जब कोई मनुष्य स्वयं धूम से अग्नि का अनुमान कर दूसरे मनुष्य को अनुमित अग्नि का बोध कराने के लिए पञ्चावयव वाक्यात्मक न्याय का प्रयोग करता है तब उस वाक्य से दूसरे मनुष्य को जो अनुमान होता है उसे परार्थानुमान कहा जाता है, जैसे 'पर्वतोऽग्निमान्'–पर्वत अग्नि का आयश्र है (१); 'धूमात्'–क्योंकि वहाँ धूम है (२); 'यो यो धूमवान् सोऽग्निमान्', यथा महानसम्'–जो-जो धूम का आश्रय होता है वह सभी अग्नि का भी आश्रय होता है, जैसे पाकशाला (३); 'तथा चायम्'–पर्वत उक्तविध धूम का आश्रय है (४); 'तस्मात् तथा'–इसलिए अग्नि का आश्रय है (५)। इन पाँच वाक्यों का प्रयोग होने पर श्रोता को इन वाक्यों द्वारा पर्वत में अग्नि-व्याप्य-धूम का मानस निश्चय होता है। यह निश्चय ही परार्थानुमान है। इससे श्रोता को अग्नि की अनुमिति ठीक उसी प्रकार होती है जिस प्रकार उक्त वाक्यों का प्रयोग करने वाले व्यक्ति को। पहले कभी अपने निजी प्रयास से पर्वत में अग्नि-व्याप्य-धूम के ज्ञान रूप स्वार्थानुमान का उदय होकर पर्वत में अग्नि की अनुमिति हुई होती है।

परार्थानुमान जिन पाँच वाक्यों से सम्पन्न होता है उनके समूह को न्याय कहा जाता है और उस समूह के एक-एक अवयव को न्यायावयव कहा जाता है। उनमें पहले वाक्य का नाम है प्रतिज्ञा। इस वाक्य से पक्ष में साध्य के सम्बन्ध का बोध होता है। दूसरे वाक्य का नाम है हेतु। इससे हेतु में साध्य की ज्ञापकता का बोध होता है। तीसरे वाक्य का नाम है उदाहरण। इससे हेतु में साध्य की व्याप्ति का बोध होता है। चौथे वाक्य का नाम उपनय। इससे पक्ष में साध्य-व्याप्य-हेतु के

सम्बन्ध—पक्षधर्मता का बोध होता है। पाँचवें वाक्य का नाम है निगमन। इससे साध्य-व्याप्य पक्ष-वृत्ति हेतु में अबाधितत्व और असत्प्रतिपक्षत्व के बोध के साथ पक्ष में साध्य-सम्बन्ध का बोध होता है। पक्षसत्त्व के बोध से असिद्धि—पक्ष में हेतु के अभाव रूप हेतु-दोष का, सपक्ष-सत्त्व और विपक्ष-सत्त्व के बोध से विरोध और व्यभिचार रूप हेतु दोष का,- अबाधितत्व और असत्प्रतिपक्षत्व के बोध से बाध और सत्प्रतिपक्ष रूप हेतु-दोष का निरास होता है। इस प्रकार न्याय-वाक्य से साध्य-व्याप्य पक्ष-वृत्ति निर्दोष हेतु का लाभ होने से परार्थानुमान सम्पन्न होता है।

व्याप्ति

न्यायशास्त्र के वाङ्मय का विशेष रूप से अनुमान से सम्बद्ध भाग का अवलोकन करने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि अनुमान समस्त प्रमाणों में मूर्धन्य है। उसके बिना किसी प्रमाण या प्रमेय की सिद्धि नहीं हो सकती। प्रत्यक्ष जिसे सारे लोक में उच्चतम प्रमाण माना जाता है अनुमान के बिना न उसका अस्तित्व सिद्ध हो सकता और न उसका प्रमाणत्व ही सिद्ध हो सकता है, क्योंकि न्याय-शास्त्र में घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक् और श्रोत्र इन बाह्य इन्द्रियों तथा आन्तर इन्द्रिय मन को ही प्रत्यक्ष प्रमाण माना गया है और यह सारी इन्द्रियाँ अतीन्द्रिय होने से अनुमान द्वारा ही सिद्ध की जा सकती हैं। उनके प्रमाणत्व का भी समर्थन प्रमा-जनन की योग्यता रूप लिङ्ग से होने वाले अनुमान से ही किया जा सकता है। वेद को अपौरुषेय मानकर उसी को सर्वश्रेष्ठ प्रमाण होने का दम्भ भरने वाले मीमांसकों को भी अपनी मान्यता के समर्थन के लिए अनुमान की ही शरण लेनी होती है; क्योंकि वेद एक शब्द-राशि है। उससे प्रमा की उत्पत्ति के लिए उसके शब्दों का उचित अर्थों के साथ शक्ति-ग्रह आवश्यक है और शक्ति-ग्रह के उपायों में व्यवहार का ही प्राधान्य है, जो अनुमान के माध्यम से ही शब्दार्थ के सम्बन्ध का ग्राहक होता है। इतना ही नहीं, सत्य यह है कि जगत् का कोई भी व्यवहार अनुमान के अभाव में अस्तित्व में नहीं आं सकता। इसका कारण यह है कि मनुष्य जो कुछ करता है वह किसी उद्देश्य से करता है किसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए करता है। यदि कोई प्रयोजन न हो तो मनुष्य कुछ न करे। ठीक ही कहा गया है—"प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते।" मूढ भी विना किसी प्रयोजन के कुछ नहीं करता और यह जानने का कि

अमुक कार्य से अमुक प्रयोजन की सिद्धि होगी, अनुमान से अन्य कोई उपाय नहीं है।

अनुमान, जिसका जगत् में इतना ऊँचा स्थान है, का प्राण है व्याप्ति। साधन में यदि साध्य की व्याप्ति न हो तो साधन से साध्य की सिद्धि कभी नहीं हो सकती। अतएव न्याय-शास्त्र के आचार्यों ने व्याप्ति का निर्वचन करने में अपनी अप्रतिम बौद्धिक क्षमता का प्रदर्शन किया है। अतः यह देख लेना उचित प्रतीत होता है कि व्याप्ति का वर्तमान रूप किस क्रम से अस्तित्व में आया है।

न्याय-सूत्र

न्यायशास्त्र के उपलब्ध वाङ्मय में गौतम का न्याय-सूत्र इस शास्त्र का प्रथम ग्रन्थ है, किन्तु इसमें व्याप्ति के वर्तमान रूप को प्राप्त करने की तो कोई सम्भावना ही नहीं है। स्थिति यह है कि उसमें व्याप्ति पद की चर्चा भी नहीं है। अनुमान-लक्षण-सूत्र में अनुमान को तत्पूर्वक कहा गया है। शब्दार्थ-ज्ञान की मान्य प्रक्रिया के अनुसार तत्पद के पूर्व-चर्चित का बोधक होने से तत्पूर्वक का प्रत्यक्ष-पूर्वक अर्थ समझा जा सकता है, किन्तु इतने मात्र से यह नहीं ज्ञात हो सकता कि अनुमान के पूर्व किस प्रकार के प्रत्यक्ष का होना सूत्रकार को अभिमत है।

न्याय-भाष्य

न्याय-शास्त्र के उपलब्ध व्याख्या ग्रन्थों में प्रमुख है वात्स्यायन का न्याय-भाष्य। अनुमान-लक्षण-सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन ने तत्पद से लिङ्ग-लिङ्गी-हेतु-साध्य के सम्बन्ध-दर्शन को विवक्षित बताया है। पर यह संकेत नहीं किया कि लिङ्ग-लिङ्गी के किस सम्बन्ध का दर्शन अनुमान के पूर्व अपेक्षित है।

उदाहरण-लक्षण-सूत्र के भाष्य में यह उल्लेख हैं—"**तत्र यदुत्पद्यते तदुत्पत्तिधर्मकम्, तच्च भूत्वा न भवति, आत्मानं जहाति, निरुध्यत इत्यनित्यम्; एवं उत्पत्तिधर्मकत्वं साधनमनित्यत्वं साध्यम्, सोऽयमेकस्मिन् द्वयोर्धर्मयोः साध्यसाधनभावः साधर्म्याद् व्यवस्थित उपलभ्यते। तं दृष्टान्त उपलभमानः शब्दोऽप्यनुमिनोति—शब्दोऽपि उत्पत्तिधर्मकत्वादनित्यः, ज्वालादिवदिति, उदाह्रियतेऽनेन धर्मयोः साध्यसाधनभाव इत्युदाहरणम्।**" इस उल्लेख में उदाहरण को दृष्टान्त में दो धर्मों में साध्य-साधनभाव का बोधक कहा गया है और उस बोध के आधार पर पक्ष में

उन धर्मों के साध्य-साधनभाव की अनुमिति होने की बात कही गयी है। जिन धर्मों में उदाहरण द्वारा दृष्टान्त साध्य-साधनभाव का बोध होता है, इस कथन से यह कहा जा सकता है कि अनुमान-लक्षण-सूत्र के भाष्य में लिङ्ग-लिङ्गी के जिस सम्बन्ध के दर्शन को अनुमान का पूर्वभावी कहा गया है वह लिङ्गी और लिङ्ग का साध्य-साधनभाव ही है। इससे यह निष्कर्ष प्रकट करना कठिन नहीं है कि हेतुसाध्य का साध्य-साधनभाव ही उदाहरण से बोध्य व्याप्ति है, पर व्याप्ति पद का प्रयोग न होने से इस निष्कर्ष को पूरी प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त हो सकती।

न्यायवार्त्तिक

यह उद्योतकर भारद्वाज का न्याय-भाष्य का प्रामाणिक व्याख्या-ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के अनुमान-लक्षण-सूत्र के व्याख्या भाग में इस प्रकार का उल्लेख है—"**ते द्वे प्रत्यक्षे पूर्वे यस्य प्रत्यक्षस्य तदिदं तत्पूर्वकं प्रत्यक्षमिति, ते च द्वे प्रत्यक्षे—लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धदर्शनमाद्यं प्रत्यक्षं लिङ्गदर्शनं द्वितीयम्, बुभुत्सावतो द्वितीयाल्लिङ्गदर्शनात्। संस्काराभिव्यक्त्युत्तरकालं स्मृतिः, स्मृत्यन्तरं च पुनर्लिङ्गदर्शनमयं धूम इति, तदिदं अन्तिमं प्रत्यक्षं पूर्वाभ्यां प्रत्यक्षाभ्यां स्मृत्या चानुगृह्यमाणं परामर्शरूपमनुमानं भवति**"। इस उल्लेख से इतनी बात समझ में आती है कि दृष्टान्त में लिङ्ग-लिङ्गी के सम्बन्ध का सर्वप्रथम प्रत्यक्ष होता है, बाद में पक्ष में लिङ्ग का दूसरा प्रत्यक्ष होता है। इससे पूर्व प्रत्यक्ष-जन्य-संस्कार का उद्‌बोध होने पर पूर्वदृष्ट लिङ्ग-लिङ्गी के सम्बन्ध की स्मृति होकर पक्ष में जो पुनः लिङ्ग-दर्शन होता है वही अनुमान है। उसी से पक्ष में लिङ्गी—साध्य की अनुमिति होती है। यह कथन अनुमान की उस प्रक्रिया को ही प्रस्तुत करता है जो आज मान्य है, किन्तु यह बात अब भी स्पष्ट नहीं है कि लिङ्ग-लिङ्गी का वह कौन सा सम्बन्ध है जिसका दर्शन अनुमान के लिए सर्वप्रथम अपेक्षित है। इस ग्रन्थ में भी उदाहरण-लक्षण-सूत्र के वार्त्तिक में "उदाह्रियते अनेन धर्मयोः साध्यसाधनभाव इत्युदाहरणम्" ऐसा उल्लेख प्राप्त है। अतः इस ग्रन्थ में भी साध्य-साधन-भाव से भिन्न लिङ्ग-लिङ्गी का कोई सम्बन्ध विदित नहीं होता।

वह्नि-धूम के साध्य-साधन-भाव के आधार पर होने वाले अनुमान के आकार के सम्बन्ध में विचार करते हुए इस ग्रन्थ में एक बड़ी रोचक बात कही गयी है। वह यह कि पर्वत आदि में धूम से अग्नि का अनुमान

नहीं होता, किन्तु महानस में धूम में जो धर्म देखे गये हैं उनमें एक धर्म है अग्निसामानाधिकरण्य; किन्तु वह पर्वत में दृश्यमान धूम में दूर से नहीं दीख पड़ता। उससे सभी धर्म—अन्य-सातत्य, संहति, ऊर्ध्वं गति आदि धर्म—दीख पड़ते हैं। अतः ये धर्म पर्वतीय धूम में तपने सहवर्ती अदृष्ट अग्निसामानाधिकरण्य का अनुमान कराते हैं जो "धूमोऽयं सामानाधिकरण्यसम्बन्धेन अग्निमान्" इस रूप में सम्पन्न होता है।

तात्पर्यटीका

न्याय-सूत्र के व्याख्या-ग्रन्थों की परम्परा में वाचस्पति मिश्र की न्यायवार्त्तिक-तात्पर्यटीका का अत्यन्त विशिष्ट स्थान है। व्याप्ति की खोज के सन्दर्भ में इस ग्रन्थ का अवलोकन करने पर लिङ्ग-लिङ्गी के सम्बन्ध का एक स्वरूप सम्मुखीन होता है वह है लिङ्ग-लिङ्गी का अनुमानाङ्ग-सम्बन्ध। जैसा कि अनुमान-लक्षण-सूत्र से सम्बद्ध तात्पर्यटीका में कहा गया है—**"लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धदर्शनमाद्यं प्रत्यक्षमित्यत्र सम्बन्धपदेन अनुमानाङ्गं सम्बन्धं विवक्षन् परोक्तान् सम्बन्धविकल्पान् अनुमानलिङ्गभूतान् प्रतिक्षिपति"**।

इस ग्रन्थ में लिङ्ग-लिङ्गी के उन सम्बन्धों की अनुमानाङ्गता वार्त्तिककार द्वारा किये गये निराकरण का स्मरण कराया गया है जिन्हें अन्य वादियों ने अनुमानाङ्ग माना है।

बौद्धों ने लिङ्ग-लिङ्गी के उस अविनाभाव-सम्बन्ध को प्रतिबन्ध—व्याप्ति माना है जो तादात्म्य अथवा तदुत्पत्ति से निर्धारित होता है। इस सम्बन्ध में बौद्धों की यह कारिका प्रसिद्ध है :

> **"कार्यकारणभावाद् वा स्वभावाद् वा नियामकात्।**
> **अविनाभावनियमोऽदर्शनान्न न दर्शनात्॥"**

इसका अर्थ है कि लिङ्ग में लिङ्गी के अविनाभाव का नियम दो नियामकों से सिद्ध होता है—(१) कार्यकारणभाव, (२) स्वभाव। जिनमें कार्यकारण भाव होता है उनमें अविनाभाव होता है, अर्थात् जो जिससे उत्पन्न होता है उसमें उत्पादक का अविनाभाव होता है, जैसे धूम-वह्नि में कार्यकारण भाव है, वह्नि कारण से धूम कार्य की उत्पत्ति होती है। अतः धूम में वह्नि का अविनाभाव है। स्वभाव का अर्थ है तादात्म्य। इससे भी अविनाभाव की सिद्धि होती है, जैसे शिंशपा—शीशम नाम के

वृक्ष विशेष में वृक्ष का तादात्म्य होने से शिंशपा में वृक्ष के अविनाभाव की सिद्धि होती है।

कारिका के चौथे चरण में कहा गया है कि लिङ्गी के अभाव के साथ लिङ्ग के अदर्शन और लिङ्गी के सत्त्व-लिङ्ग के दर्शन से अविनाभाव का नियम नहीं होता।

तात्पर्यटीका में इस मत का खण्डन यह कहकर किया गया है कि रस, रूप में कार्यकारण-भाव और तादात्म्य न होने पर भी रस से रूपानुमान होता है, अतः रस में रूप का अविनाभाव मानना होगा; किन्तु यह कार्यकारण-भाव अथवा तादात्म्य से सम्भव नहीं है, क्योंकि रस, रूप में न तो कार्यकारण-भाव है और न तादात्म्य है। अतः यही मानना होगा कि रूपाभाव के साथ रस के अदर्शन और रूप के साथ रस के दर्शन से ही रस में रूप के अविनाभाव की उपपत्ति होती है।

वार्त्तिक में अनुमान के एक ऐसे लक्षण की आलोचना की गयी है जिससे लिङ्ग-लिङ्गी के अनुमानाङ्गभूत एक सम्बन्ध की सूचना मिलती है; वह लक्षण है—**"नान्तरीयकार्थदर्शनं तद्विदोऽनुमानम्"**। इस लक्षण में नान्तरीयक अर्थ के दर्शन को अनुमान कहा गया है। वार्त्तिककार ने "नान्तरीयकार्थ" की इस प्रकार व्याख्या की है कि **"योऽर्थो यमर्थमन्तरेण न भवति स नान्तरीयकः, नान्तरीयकश्चासावर्थश्चेति नान्तरीयकार्थः"**— जो अर्थ जिसके बिना नहीं होता वह उसका नान्तरीयक होता है, जैसे धूम वह्नि के विना न होने से वह्नि का नान्तरीयक है; उसके दर्शन से वह्नि की अनुमिति होती है। इस लक्षण के अनुसार लिङ्ग के साथ लिङ्गी का नान्तरीयकत्व सम्बन्ध है जो अविनाभाव जैसा ही है।

वार्त्तिक में अनुमान के एक और ऐसे लक्षण की समीक्षा की गयी है जिससे लिङ्ग-लिङ्गी के सम्बन्ध के विषय में संकेत मिलता है। वह लक्षण है **"अनुमेयेऽथ तत्तुल्ये सद्भावो नास्तितासति"**—जिसका अनुमेय-पक्ष और तत्सदृश दृष्टान्त में सद्भाव तथा साध्य के असत् होने पर जिसकी नास्तिता—असद्भाव हो वह अनुमान है। इस लक्षण से अनुमान-अनुमिति हेतु में पक्ष-सत्त्व, सपक्ष-सत्त्व, विपक्षासत्त्व—इन तीन रूपों का होना आवश्यक प्रतीत होता है। लक्षण की इस व्याख्या के अनुसार लिङ्ग में लिङ्गी के सामानाधिकरण्य और अभाव के असामानाधिकरण्य रूप सम्बन्ध की प्रतीति होती है।

तात्पर्यटीका में वैशेषिकों द्वारा स्वीकृत लिङ्ग-लिङ्गी के चार सम्बन्धों और सांख्यों द्वारा उक्त सात सम्बन्धों की आलोचना की गयी है। वैशेषिकों द्वारा स्वीकृत चार सम्बन्ध इस प्रकार हैं :

"अस्येदं कार्यं कारणम्, सम्बन्धि; एकार्थसमवायि विरोधि चेति लैङ्गिकम्"। कार्यकारणभाव, सम्बन्ध, एक अर्थ में समवेतत्व और विरोध इन सम्बन्धों से लैङ्गिक—अनुमान की निष्पत्ति होती है।

वैशेषिक और सांख्य के उक्त अनुमान-लक्षणों का यह कह कर खण्डन किया गया है कि 'सम्बन्धि' पद से ही अन्य सभी सम्बन्धों का लाभ हो जाने से उनको पृथक् शब्दों से प्रस्तुत कर उनके आधार पर अनुमान का लक्षण बनाना असङ्गत है।

इस सन्दर्भ में टीकाकार का यह वचन ध्यान देने योग्य है—**"तस्माद् यो वा स वाऽस्तु सम्बन्धः, केवलं यस्याऽसौ स्वाभाविको नियतः स एव गमको गम्यश्चेतरः सम्बन्धी नियुज्यते; तथा हि धूमादीनां वह्न्यादिसम्बन्धः स्वाभाविकः न तु वह्न्यादीनां धूमादिभिः; ते हि विनाऽपि धूमादिभिरुपलभ्यन्ते, यदा तु आर्द्रेन्धनसम्बन्धमनुभवन्ति तदा धूमादिभिः सम्बध्यन्ते, तस्माद् वह्न्यादीनामुपाधिकृतः सम्बन्धो न स्वाभाविकः, ततो न नियतः, स्वाभाविकस्तु धूमादीनां वह्न्यादिभिः सम्बन्ध उपाधेरनुपलभ्यमानत्वात्, क्वचिद् व्यभिचारस्यादर्शनात् अनुपलभ्यमानस्यापि कल्पनाऽनुपपत्तेः, अतो नियतः सम्बन्धोऽनुमानाङ्गम्"**।

आशय यह है कि लिङ्ग-लिङ्गी के सम्बन्ध की इदमित्थं रूप से खोज करने की आवश्यकता नहीं है। सम्बन्ध जो कोई हो, आवश्यकता यह है कि वह स्वाभाविक हो, नियत हो, उपाधिकृत न हो। वह्नि के साथ धूम का सम्बन्ध स्वाभाविक है। धूम के साथ वह्नि का सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं है, क्योंकि वह्नि के बिना धूम की उपलब्धि नहीं होती, किन्तु धूम के बिना तप्त अयोगोलक में वह्नि की उपलब्धि होती है। हाँ जब कभी वह्नि को आर्द्रेन्धन का संयोग प्राप्त हो जाता है तब वह्नि का धूम के साथ सम्बन्ध हो जाता है। अतः धूम के साथ वह्नि का सम्बन्ध उपाधिकृत है, स्वाभाविक नहीं है। किन्तु वह्नि के साथ धूम का सम्बन्ध उपाधिकृत नहीं है, क्योंकि कोई उपाधि उपलब्ध नहीं है। अप्रत्यक्ष उपाधि की भी कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि कहीं भी धूम में

वह्नि का व्यभिचार नहीं देखा जाता, इसलिए लिङ्ग-लिङ्गी का नियत सम्बन्ध ही अनुमानाङ्ग है।

तात्पर्यटीका के एक वचन से लिङ्ग-लिङ्गी के अनुमानाङ्ग सम्बन्ध के व्याप्ति और प्रतिबन्ध यह दो नाम अवगत होते हैं, जैसे अनुमान-लक्षण-सूत्र के घटक 'तत्पूर्वक' शब्द की व्याख्या के प्रसङ्ग में टीकाकार का यह वचन है—

"न च द्वितीयलिङ्गदर्शनं व्याप्तिस्मरणसमये विनश्यदवस्थमप्यस्ति, व्याप्तिसंस्कारोद्बोधसमयजन्मना स्वजनितेन संस्कारेणास्य व्याप्तिस्मरण-समये विनाशाद् विनश्यदवस्थस्य द्वितीयलिङ्गदर्शनस्य व्याप्तिस्मरणेन सह यौगपद्येऽपि तयोः परस्परवार्ताऽनभिज्ञतया मिथो घटनायोगात्"।

आशय यह है कि 'तत्पूर्वक' शब्द की 'ते प्रत्यक्षे पूर्वे यस्य' इस व्युत्पत्ति के अनुसार दृष्टान्त में लिङ्ग-लिङ्गी के सम्बन्ध का पहला प्रत्यक्ष, उसके बाद पक्ष में लिङ्ग का दूसरा प्रत्यक्ष, यह दोनों जिस ज्ञान के पूर्व में हों वह अनुमान है। प्रश्न होता है कि ऐसे ज्ञान के रूप में दो ज्ञान प्राप्त हैं, एक है लिङ्ग-दर्शन के बाद होने वाला लिङ्ग-लिङ्गी के सम्बन्ध का स्मरण; दूसरा है उसके बाद उत्पन्न होने वाला पक्ष में लिङ्गि-सम्बद्ध लिङ्ग का तीसरा प्रत्यक्ष; फिर इन दोनों में कौन ज्ञान अनुमान है। उत्तर में कहा गया है कि वह ज्ञान व्याप्ति का स्मरण नहीं हो सकता, क्योंकि उसके समय द्वितीय लिङ्ग-दर्शन विनश्यदवस्था में नहीं रहता, क्योंकि लिङ्ग-दर्शन के द्वितीय क्षण में व्याप्ति-विषयक संस्कार का उद्बोध—स्मरण रूप कार्य के प्रति औन्मुख्य होता है और उसी समय लिङ्ग-दर्शन से लिङ्ग-विषयक संस्कार का जन्म होता है और उसके अगले क्षण में व्याप्ति-स्मरण के जन्म के साथ स्वजन्य संस्कार से लिङ्ग-दर्शन का नाश हो जाता है; हाँ यदि उद्बोधक के समवधान के अति-रिक्त संस्कारोद्बोध का अस्तित्व मान्य न हो तो लिङ्ग-दर्शन के द्वितीय क्षण में ही व्याप्ति-स्मरण का जन्म होने से व्याप्ति-स्मरण और विनश्यद-वस्थ लिङ्ग-दर्शन का सहभाव हो सकता है, किन्तु उस समय वे दोनों एक दूसरे के सहकारी नहीं हो सकते, क्योंकि द्वितीय लिङ्ग-दर्शन व्याप्ति को नहीं जानता और व्याप्ति का स्मरण पक्षगत लिङ्ग को नहीं जानता और व्याप्ति तथा पक्षगत लिङ्ग का योग हुए बिना अनुमान सम्भव नहीं हो सकता। अतः यह मानना आवश्यक है कि विनश्यदवस्थ द्वितीय

लिङ्ग-दर्शन और व्याप्ति-स्मरण के सहयोग से पक्ष में उत्पन्न होने वाला लिङ्गी से सम्बद्ध लिङ्ग—साध्यव्याप्य-हेतु का तृतीय प्रत्यक्ष ही प्रत्यक्ष-द्वय-पूर्वक-ज्ञान के रूप में अभिमत है और वही अनुमान है। इस प्रकार टीकाकार ने इस प्रसङ्ग में लिङ्ग-लिङ्गी के अनुमानाङ्ग-सम्बन्ध को व्याप्ति की संज्ञा प्रदान की है।

प्रस्तुत सन्दर्भ में ही लिङ्ग-लिङ्गी के अनुमानाङ्ग स्वाभाविक सम्बन्ध के ग्राहक का परिचय देकर टीकाकार ने कहा है—

"स्वभावतश्च प्रतिबद्धा हेतवः स्वसाध्येन यदि साध्यमन्तरेण भवेयुः स्वभावादेव प्रच्यवेरन्"—हेतु अपने साध्य से स्वभावतः प्रतिबद्ध होते हैं, यदि वे साध्य के बिना भी रहने लगें तो अपने स्वभाव से च्युत हो जाँय।

यहाँ हेतु को साध्य से स्वभावतः प्रतिबद्ध कहकर हेतु साध्य के स्वाभाविक सम्बन्ध की 'प्रतिबन्ध' संज्ञा का संकेत किया गया है।

परिशुद्धि

परिशुद्धि वाचस्पति मिश्र की तात्पर्यटीका के ऊपर प्रसिद्ध नैयायिक उदयनाचार्य का व्याख्या-ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में वह्नि-धूम के अनुमानाङ्ग-सम्बन्ध को अत्यन्त स्पष्ट रूप में व्याप्ति, अव्यभिचार, प्रतिबन्ध आदि शब्दों से व्यवहृत किया गया है; जैसे अनुमान-लक्षण के सन्दर्भ में प्रत्यक्ष-द्वय-पूर्वक ज्ञान के निरूपण के प्रसङ्ग में कहा गया है—

"न हि व्याप्तिस्मरणमात्रादनुमितिः, नापि लिङ्गदर्शनमात्रात्। किन्तर्हि ? व्याप्तिविशिष्टलिङ्गदर्शनात्।"

अर्थ सुस्पष्ट है। व्याप्ति के स्मरण-मात्र से अथवा पक्ष में हेतु के दर्शन-मात्र से अनुमिति नहीं होती, किन्तु पक्ष में व्याप्ति-विशिष्ट-हेतु के दर्शन से होती है।

इसी प्रकरण में धूम के साथ वह्नि का सम्बन्ध स्वाभाविक है, औपाधिक नहीं है, क्योकि सोपाधि में व्यभिचार आवश्यक होता है; धूम में कोई उपाधि नहीं है, अतः उसमें वह्नि का अव्यभिचार है, यह बताते हुए कहा गया है—**"उपाधाववश्यं व्यभिचारोऽनुपाधाववश्यम-व्यभिचारः, व्यभिचारोऽवश्यमुपाधिः, अव्यभिचारोऽवश्यमुपाधिभावः।"**

उपाधि होने पर व्यभिचार अवश्य होता है, उपाधि न होने पर अव्यभिचार अवश्य होता है। इसी प्रकार व्यभिचार होने पर उपाधि

अवश्य होती है और अव्यभिचार होने पर उपाधि का अभाव अवश्य होता है।

इस प्रकार यहाँ लिङ्ग-लिङ्गी के सम्बन्ध को निरुपाधि बताते हुए स्पष्ट रूप से उसे अव्यभिचार की संज्ञा दी गयी है।

आगे इसी प्रकरण में **"तदयं संक्षेपः—व्यभिचार एव प्रतिबन्धाभावः, उपाधेरेव व्यभिचारशङ्का"**—व्यभिचार ही प्रतिबन्ध का अभाव है, उपाधि से ही व्यभिचार की शङ्का होती है, ऐसा कहकर व्यभिचारात्मक अभाव के प्रतियोगी लिङ्ग-लिङ्गी के अनुमानाङ्ग-सम्बन्ध का प्रतिबन्ध शब्द से उल्लेख किया गया है।

कुछ और आगे चलकर **"पक्षधर्मता हि व्याप्त्या सह प्रतिसंहिता अनुमानोपयोगिनी"**—पक्षधर्मता—पक्ष के साथ हेतु का सम्बन्ध व्याप्ति के साथ ज्ञात होने पर अनुमान में उपयोगी होता है, यह कहते हुए असन्दिग्ध रूप में हेतु-साध्य के अनुमानाङ्ग-सम्बन्ध को व्याप्ति बताया गया है।

उदयनाचार्य ने परिशुद्धि के अतिरिक्त भी अपने ग्रन्थों में अनुमानाङ्ग का प्रतिबन्ध शब्द से उल्लेख किया है, जैसे न्यायकुसुमाञ्जलि तृतीय स्तवक की छठीं कारिका की व्याख्या में अनुपलम्भवादी की इस उक्ति का उल्लेख है—

"यद्येवमनुपलम्भेनादृश्यप्रतिषेधो नेष्यते, अनुपलम्भोपाधिप्रतिषेधोऽपि तर्हि नेष्टव्यः, तथा च कथं तथाभूतार्थासिद्धिरपि अनुमानबीज-प्रतिबन्धासिद्धेः।"

अनुपलम्भवादी की इस उक्ति का आशय यह है कि यदि अनुपलम्भ से अदृश्य के अभाव की सिद्धि न मानी जायगी तो अनुपलम्भ से अदृश्य उपाधि के अभाव की भी सिद्धि न होगी और तब फिर अदृश्य अभिमत अर्थ की भी सिद्धि न होगी, क्योंकि उपाधि का अभाव सिद्ध हुए बिना अदृश्य के साधक अनुमान का बीजभूत प्रतिबन्ध ही असिद्ध है।

यहाँ स्पष्ट रूप से अनुमान-बीज के रूप में प्रतिबन्ध का उल्लेख है।

उसी ग्रन्थ के तीसरे स्तवक की सातवीं कारिका की व्याख्या में अनुमानाङ्ग का अविनाभाव शब्द से भी उल्लेख किया गया है, जैसे—**"ननु तर्कोऽप्यविनाभावमपेक्ष्य प्रवर्तते ततोऽनवस्थया भवितव्यम्।"**

आत्मतत्त्वविवेक में भी उदयनाचार्य ने हेतु-साध्य के अनुमानाङ्ग-सम्बन्ध का प्रतिबन्ध शब्द से उल्लेख किया है, जैसे ग्रन्थ के आरम्भ में ही—

"यत्सत् तत् क्षणिकम्, यथा घटः सँश्च विवादाध्यासितशब्दादिः"— बौद्धों के इस अनुमान-प्रयोग के खण्डन में आचार्य ने कहा है 'प्रतिबन्धासिद्धेः', जिसका अर्थ है कि सत्त्व में क्षणिकत्व की व्याप्ति असिद्ध है; अतः सत्त्व से क्षणिकत्व का अनुमान नहीं हो सकता।

तत्त्वचिन्तामणि

यह सर्वविदित है कि तत्त्वचिन्तामणि नव्य-न्याय का सर्वश्रेष्ठ प्रथम ग्रन्थ माना जाता है। इसकी रचना मिथिला के महान् नैयायिक गङ्गेशोपाध्याय ने बारहवीं शताब्दी में की है। इस समय तक लिङ्ग के लिए हेतु शब्द का और लिङ्गी के लिए साध्य शब्द का तथा उन दोनों के अनुमानाङ्ग-सम्बन्ध के लिए व्याप्ति शब्द का प्रयोग अत्यन्त लोकप्रिय और प्रचलित हो चुका था, प्रतिबन्ध, अविनाभाव आदि शब्दों की महिमा पर्याप्त गिर चुकी थी। अतः गङ्गेशोपाध्याय ने तत्त्वचिन्तामणि में अभ्रान्त भाव से व्याप्ति शब्द का उल्लेख करते हुए अनुमान का लक्षण प्रस्तुत किया है—

"व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानजन्यं ज्ञानमनुमितिः, तत्करणमनुमानम्"—व्याप्तिविशिष्ट-पक्षधर्मता-ज्ञान—पक्ष के साथ साध्य-निरूपित व्याप्ति से विशिष्ट हेतु के सम्बन्ध ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान अनुमिति है। अनुमिति का करण अनुमान है।

लक्षणकार का आशय यह है कि महानस आदि कतिपय स्थानों में धूम में वह्नि का सामानाधिकरण्य देखकर जो व्यक्ति धूम में वह्नि की व्याप्ति का अनुभव प्राप्त कर लेता है, वह जब बाद में पर्वत आदि किसी नये स्थान से ऊपर की ओर उठते धूम को देखता है तब उसे धूम में वह्नि-व्याप्ति के पूर्वानुभव से जनित संस्कार के उद्बुद्ध हो जाने से धूम में वह्नि-व्याप्ति का स्मरण हो जाता है, जिसे "वह्निव्याप्यो धूमः" इस शब्द से अभिहित किया जाता है। इस स्मरण के बाद उसे दृश्यमान धूम का पर्वत में वह्नि-व्याप्ति-विशिष्ट धूम के रूप में दर्शन होता है, जिसे "वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः" इस शब्द से व्यवहृत किया जाता है। यही ज्ञान व्याप्ति-विशिष्ट-पक्षधर्मताज्ञान—पक्ष के साथ साध्य-व्याप्ति-विशिष्ट

हेतु के सम्बन्ध का ज्ञान है। इस ज्ञान से "पर्वतो वह्निमान्" इस प्रकार पर्वत में वह्नि की अनुमिति उत्पन्न होती है। इसका कारण होने से "वह्निव्याप्यो धूमः" धूम में वह्नि की व्याप्ति को विषय करने वाले इस ज्ञान को अनुमान कहा जाता है।

अनुमान के इस लक्षण में व्याप्ति का प्रवेश है, अतः उसका ज्ञान हुए बिना उससे घटित अनुमान-लक्षण का ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए अनुमिति के हेतुभूत-व्याप्ति-ज्ञान का विषयभूत व्याप्ति क्या है—**"अनुमितिहेतुव्याप्तिज्ञाने का व्याप्तिः"**—यह प्रश्न उठाकर तत्त्वचिन्तामणिकार ने व्याप्ति के अनेक लक्षणों को प्रस्तुत कर उनकी समीक्षा की है।

सर्वप्रथम अव्यभिचरितत्व—व्यभिचार का अभाव व्याप्ति के रूप में मान्य हो सकता है या नहीं इस बात की परीक्षा के लिए उसके पाँच लक्षण बताये हैं—

(१) साध्याभाववदवृत्तित्वम्

साध्याभाव के अधिकरण में अवृत्ति होना—न रहना—साध्याभावाधिकरणवृत्तित्वाभाव; जब धूम-हेतु से वह्नि का अनुमान किया जाता है तब साध्य होता है वह्नि, उसके अभाव का अधिकरण होता है जलाशय आदि। उसमें धूम अवृत्ति है—नहीं रहता। अतः धूम में साध्याभाववदवृत्तित्व होने से धूम वह्नि का व्याप्य है।

(२) साध्यवद्भिन्नसाध्याभाववदवृत्तित्वम्

साध्यवान् से भिन्न साध्याभाव के अधिकरण में अवृत्ति होना, अथवा साध्यवान् से भिन्न में रहने वाले साध्याभाव के अधिकरण में अवृत्ति होना।

इस लक्षण के अनुसार एतद्वृक्षत्व में कपिसंयोग की व्याप्ति उपपन्न हो जाती है। तात्पर्य यह है कि एतद्वृक्षत्व हेतु से कपिसंयोग का अनुमान करने पर कपिसंयोग साध्य होता है। उसके अभाव के अधिकरण दो प्रकार के हैं: एक ऐसा अधिकरण जहाँ कपिसंयोगाभाव के साथ कपिसंयोग भी रहता है, जैसे एतद्वृक्ष में उसकी शाखा के माध्यम से कपिसंयोग और मूल के माध्यम से कपिसंयोग का अभाव। दूसरा कपिसंयोगाभाव का वह अधिकरण जहाँ कपिसंयोग नहीं रहता, जैसे गुण, कर्म आदि। इन दोनों अधिकरणों में साध्यवान्—कपिसंयोगवान् से भिन्न

साध्याभाव—कपिसंयोगाभाव का अधिकरण एतद्वृक्ष नहीं, किन्तु गुण, कर्म आदि ही हैं। उसमें अवृत्ति होने से एतद्वृक्षत्व कपिसंयोग का व्याप्य है।

(३) साध्यवत्प्रतियोगिकान्योन्याभावासामानाधिकरण्यम्

साध्यवत्प्रतियोगिक अन्योन्याभाव—साध्यवद्भेद के सामानाधिकरण्य का अभाव—साध्यवद्भेदाधिकरण में अवृत्तित्व।

धूम में साध्यवद्भेद—वह्निमद्भेद का सामानाधिकरण्य—एकाधिकरण वृत्तित्व नहीं है। दोनों भिन्न अधिकरणों में रहते हैं। वह्निमद्भेद के अधिकरण जलाशय आदि में धूम नहीं रहता और धूम के अधिकरण महानस आदि में वह्निमद् भेद नहीं रहता। अतः साध्यवद् भेद का असमानाधिकरण साध्यवद्भेद के अधिकरण में अवृत्ति होने से धूम वह्नि का व्याप्य है।

(४) सकलसाध्याभाववन्निष्ठाभावप्रतियोगित्वम्

सकलसाध्याभाववान्—साध्याभाव के सब अधिकरणों में रहने वाले अभाव का प्रतियोगी होना।

साध्याभाव—वह्न्यभाव के सभी अधिकरणों में धूम का अभाव होता है। अतः साध्याभाव के सकल अधिकरणों में रहने वाले अभाव का प्रतियोगी होने से धूम वह्नि का व्याप्य है।

(५) साध्यवदन्यावृत्तित्वम्

साध्यवत् से भिन्न में अवृत्तित्व—साध्यवत्—वह्निमत् से भिन्न जलाशय आदि में अवृत्ति होने से धूम वह्नि का व्याप्य है।

चिन्तामणिकार ने इन पाँचों को त्याज्य बताया है, क्योंकि इनमें किसी में साध्याभाव का और किसी में साध्यवद्भेद का प्रवेश है। अतः इनको व्याप्ति मानने पर कोई भी पदार्थ केवलान्वयी पदार्थ का व्याप्य न हो सकेगा, जैसे "इदं वाच्यं ज्ञेयत्वात्"—यह वाच्य है, क्योंकि ज्ञेय है, इस प्रकार के साधु अनुमान-प्रयोग के लिए ज्ञेयत्व में वाच्यत्व की व्याप्ति अपेक्षित है, किन्तु व्याप्ति जब साध्याभाव या साध्यवद्भेद से घटित होगी तो ज्ञेयत्व में वाच्यत्व की व्याप्ति न हो सकेगी, क्योंकि वाच्यत्व केवलान्वयी है, सर्वत्र उसका केवल अन्वय ही होता है, अभाव कहीं नहीं होता। सारा जगत् ही वाच्य है। वाच्य से भिन्न कुछ नहीं

है। अतः कोई आश्रय न होने से साध्य—वाच्यत्व का अभाव तथा साध्यवत्—वाच्य का भेद अप्रसिद्ध है तो फिर ऐसे स्थलों में जब साध्याभाव तथा साध्यवद्भेद ही नहीं है तो उससे घटित व्याप्ति कैसे बन सकेगी।

उक्त पाँचो लक्षणों को त्याज्व बताने के बाद तत्त्वचिन्तामणिकार ने अव्यभिचरितत्व के दो और लक्षणों की समीक्षा की है जिन्हें सिंह और व्याघ्र उपनाम के विद्वानों द्वारा उद्भावित होने से सिंह-व्याघ्र-लक्षण कहा जाता है। वे लक्षण इस प्रकार हैं—

(१) साध्यासामानाधिकरण्यानधिकरणत्वम्

साध्य के असामानाधिकरण्य का अधिकरण न होना।

धूम में वह्नि का कहीं भी असामानाधिकरण्य नहीं है। ऐसा कोई स्थल नहीं हैं जहाँ धूम हो और वह्नि न हो जिससे धूम-वह्नि का असमानाधिकरण हो सके। अतः वह्नि के असामानाधिकरण्य का अधिकरण न होने से धूम वह्नि का व्याप्य है।

(२) साध्यवैयधिकरण्यानधिकरणत्वम्

साध्य के वैयधिकरण्य—विभिन्नाधिकरणकत्व का अधिकरण न होना।

धूम का ऐसा कोई आश्रय नहीं है जो वह्नि का अधिकरण न हो, जिससे धूम में वह्नि का वैयधिकरण्य प्राप्त हो। अतः वह्नि के वैयधिकरण्य का अधिकरण न होने से धूम वह्नि का व्याप्य है।

तत्त्वचिन्तामणिकार ने इन दोनों लक्षणों में कोई वास्तविक अन्तर न देखते हुए दोनों का एक निष्कृष्ट रूप प्रस्तुत कर उसे सदोष बताते हुए दोनों लक्षणों को अग्राह्य बताया है, जैसे उक्त दोनों लक्षणों का निष्कृष्ट रूप है—

"साध्यानधिकरणानधिकरणत्वम्"।

साध्य का अनधिकरण जिसका अनधिकरण हो वह साध्य का व्याप्य है। वह्नि का सभी अनधिकरण धूम का अनधिकरण है, क्योंकि वह्नि के विना धूम कहीं नहीं रहता, अतः धूम वह्नि का व्याप्य है।

तत्त्वचिन्तामणिकार ने उक्त दोनों लक्षणों के निष्कृष्ट रूप में प्रविष्ट साध्यानाधिकरण शब्द के अर्थ का विचार करते हुए देखा कि यदि साध्यानधिकरण शब्द का अर्थ साध्य के यत्किञ्चित् अधिकरण से भिन्न

किया जायगा तो धूम में वह्नि की व्याप्ति न हो सकेगी, क्योंकि वह्नि के यत्किञ्चित् अधिकरण महानस से भिन्न पर्वत धूम का अनधिकरण नहीं है और यदि उसका अर्थ किया जायगा साध्य के सभी अधिकरणों से भिन्न तो ज्ञेयत्व में वाच्यत्व की व्याप्ति न हो सकेगी, क्योंकि वाच्यत्व के सभी अधिकरणों में सारा जगत् आ जाता है, अतः साध्य—वाच्यत्व के सभी अधिकरणों का भेद आश्रय न होने से अप्रसिद्ध है।

उक्त सातों लक्षणों को व्याप्ति मानने में केवलान्वयी साध्य की व्याप्ति नहीं बन पाती, इसलिए अव्यभिचरितत्व शब्द के योगलभ्य अर्थों में व्याप्तित्व की सम्भावना का त्याग कर तत्त्वचिन्तामणिकार ने उसके पारिभाषिक अर्थों में व्याप्तित्व की सम्भावना की ओर संकेत करते हुए उसे भी परिहार्य बताया है।

इस सन्दर्भ में चिन्तामणिकार का यह कथन है कि साध्याभाव की अप्रसिद्धि के आधार पर केवलान्वयी साध्य की व्याप्ति की अनुपपत्ति से साध्याभाव-घटित लक्षणों की त्याज्यता पर पुनर्विचार किया जाना चाहिए। उनका कहना है कि केवलान्वयी साध्यक-स्थल में साध्याभाव की अप्रसिद्धि तब होती है जब उसका अर्थ किया जाता है साध्यसामान्याभाव—साध्यतावच्छेदक-धर्मेतर-धर्मानवच्छिन्न, साध्यतावच्छेदक-सम्बन्धेतर-सम्बन्धानवच्छिन्न, साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न-साध्यनिष्ठ-प्रतियोगिता का निरूपक अभाव; क्योंकि ऐसा अभाव "स्वरूपसम्बन्धेन वाच्यत्वं नास्ति" इस प्रतीति से गम्य अभाव ही हो सकता है, किन्तु स्वरूप-सम्बन्ध से वाच्यत्व के सर्वत्र रहने से कहीं भी ऐसी प्रामाणिक प्रतीति सम्भव नहीं है, अतः केवलान्वयिसाध्यकस्थल में साध्याभाव की अप्रसिद्धि न हो इस दृष्टि से उक्त अर्थ का परित्याग कर उसका अर्थ करना चाहिए साध्यतावच्छेदक-समनियत-प्रतियोगिता-निरूपक अभाव। साध्य का साध्यतावच्छेदक सम्बन्ध से भिन्न सम्बन्ध से अथवा साध्यतावच्छेदक सम्बन्ध और तदन्य उभय सम्बन्ध से साध्य का अभाव न लिया जाय, एतदर्थ प्रतियोगिता को साध्यतावच्छेदकसम्बन्धेतरसम्बन्धानवच्छिन्नत्व से विशेषित कर देना चाहिए। साध्याभाव का यह अर्थ करने पर "वह्निमान् धूमात्" इस स्थल में ऐसा साध्याभाव संयोग सम्बन्ध से वह्नि का अभाव होगा, क्योंकि इसकी प्रतियोगिता सम्पूर्ण वह्नि में रहने और वह्नि से भिन्न में न रहने से साध्यतावच्छेदक-वह्नित्व का समनियत

है। "वाच्यं ज्ञेयत्वात्" इस स्थल में जो धर्म वाच्यत्व में अवृत्ति होने से वाच्यत्व-निष्ठ-प्रतियोगिता का व्यधिकरण है, जैसे समवायिकारणत्व, घटत्व आदि; उस धर्म से वाच्यत्व का अभाव होगा। इस अभाव की अप्रसिद्धि नहीं है, क्योंकि वाच्यत्व समवायिकारण या घट आदि रूप न होने से अपने में अवृत्ति समवायिकारणत्व अथवा घटत्व आदि रूप से कहीं नहीं रहेगा, इसलिए "समवायिकारणतया वाच्यत्वं नास्ति", "घटत्वादिना वाच्यत्वं नास्ति" इन प्रतीतियों से सिद्ध व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न-वाच्यत्वनिष्ठ-प्रतियोगिता-निरूपक अभाव सर्वत्र रहेगा। इस अभाव की प्रतियोगिता यतः वाच्यत्व मात्र में है अतः इसकी प्रतियोगिता साध्यतावच्छेदक वाच्यत्वत्व का समनियत है, अतः साध्यतावच्छेदक-समनियत-प्रतियोगिता-निरूपक अभाव के अर्थ में यह साध्याभाव लिया जा सकेगा। इसलिए साध्याभाव की अप्रसिद्धि के कारण साध्याभावघटित लक्षणों की त्याज्यता उचित नहीं प्रतीत होती।

चिन्तामणिकार ने साध्याभाव के इस अर्थ को ध्यान में रखते हुए यह आलोचना की कि साध्याभाव का यह अर्थ ग्रहण करने पर अव्यभिचरितत्व के योगलभ्य अर्थ व्यभिचाराभाव को व्याप्ति नहीं माना जा सकेगा, क्योंकि व्यभिचार—साध्याभावाधिकरणवृत्तित्व के शरीर में जिस साध्याभाव का प्रवेश होगा, व्यभिचाराभाव रूप व्याप्ति के शरीर में भी उसी का प्रवेश होगा। अतः उक्त साध्याभाव को व्यभिचार का घटक बनाया जायगा तो हेतुमात्र के व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न-प्रतियोगिताक-साध्याभाव के अधिकरण में वृत्ति होने से सभी हेतु साध्य के व्यभिचारी हो जायेंगे, कोई भी हेतु साध्य का व्याप्य न हो सकेगा और यदि इस भय से व्यभिचार के शरीर में साध्य-सामान्याभाव का प्रवेश होगा तो व्यभिचाराभाव रूप व्याप्ति के शरीर में भी साध्य-सामान्याभाव का ही प्रवेश होगा और तब केवलान्वयिसाध्यक-स्थल में साध्याभाव की अप्रसिद्धि होगी।

इस दुःस्थिति के परिहारार्थ अव्यभिचरितत्व शब्द के योगलभ्य व्यभिचाराभाव को व्याप्ति न मानकर यदि यह कहा जाय कि व्यभिचार के शरीर में तो साध्य-सामान्याभाव का ही प्रवेश है, अतः हेतु-मात्र में साध्य-व्यभिचार की आपत्ति न होगी, किन्तु व्याप्ति भी व्यभिचाराभाव रूप नहीं है, अपितु अन्य रूप है, जिसमें साध्य-सामान्याभाव का प्रवेश

न होकर साध्यतावच्छेदक-समनियत-प्रतियोगिता के निरूपक अभाव का प्रवेश है, अतः साध्याभाव की अप्रसिद्धि न होने से केवलान्वयी साध्य की व्याप्ति की अनुपपत्ति भी न होगी।

व्याप्ति का वह रूप जिसमें साध्य-सामान्याभाव का प्रवेश न होगा वह अव्यभिचरितत्व शब्द का पारिभाषिक अर्थ होगा। उसके ज्ञान के प्रति व्यभिचार ज्ञान को बाधविधया—अभाव-प्रतियोगी के ज्ञान अथवा प्रतियोगी के अभाव ज्ञान के रूप में प्रतिबन्धक न मानकर मणि, मन्त्र, कामिनी-जिज्ञासा आदि के समान स्वतन्त्र रूप से प्रतिबन्धक माना जायगा।

चिन्तामणिकार ने अव्यभिचरितत्व के उन पारिभाषिक अर्थों का स्वयं उल्लेख नहीं किया है, संकेत मात्र किया है। दीधितिकार रघुनाथ ने ऐसे १४ व्याप्ति के लक्षणों का उल्लेख किया है जो व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न-प्रतियोगिताक-अभाव की मान्यता पर आधारित हैं। उनमें आद्य के दो उनके स्वोपज्ञ हैं और दूसरे बारह अन्यान्य विद्वानों द्वारा प्रस्तुत किये गये हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) **"यत्समानाधिकरणाः साध्यतावच्छेदकावच्छिन्नव्यापकतावच्छेदकप्रतियोगिताका यावन्तोऽभावाः प्रतियोगिसमानाधिकरणास्तत्त्वम्"।**

यत्समानाधिकरण का अर्थ है हेतु-समानाधिकरण—हेतु के अधिकरण में वृत्ति; अतः पूरे लक्षण का तात्पर्य यह है कि हेतु-समानाधिकरण जितने अभावों की प्रतियोगिता साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न—साध्य की व्यापकता का अवच्छेदक हो, वे सभी अभाव यदि अपने प्रतियोगी के समानाधिकरण हों—अपने प्रतियोगी के अधिकरण में रहते हों तो हेतु साध्य का व्याप्य होता है।

"वह्निमान् धूमात्" इस स्थल में धूम हेतु है। उसके अधिकरण पर्वत आदि में रहने वाले "घटत्वेन वह्न्यभाव, पटत्वेन वह्न्यभाव" आदि अभावों की वह्निनिष्ठ-प्रतियोगित्व वह्नित्वावच्छिन्न-वह्नि की की व्यापकता का अवच्छेदक है, क्योंकि वह्नि के अधिकरण में कहीं भी उन अभावों के प्रतियोगी वह्नि का अभाव न होने से उन अभावों का प्रतियोगी व्यापक है और प्रतियोगी में विद्यमान साध्य-व्यापकता का उन अभावों का प्रतियोगित्व अवच्छेदक है और वे सभी अभाव अपने

प्रतियोगो वह्नि के अधिकरण में विद्यमान हैं। अतः धूम वह्नि का व्याप्य है।

"धूमवान् वह्नेः" इस स्थल में वह्नि हेतु है, उसके अधिकरण तप्त अयोगोलक में विद्यमान अयोगोलकभेदाभाव का अयोगोलकभेदनिष्ठ-प्रतियोगित्व धूमत्वावच्छिन्न धूम की व्यापकता का अवच्छेदक है, क्योंकि धूम के अधिकरण में कहीं भी अयोगोलकभेदाभाव के प्रतियोगी अयोगोलकभेद का अभाव नहीं है, किन्तु यह अभाव अपने प्रतियोगी अयोगोलकभेद के अधिकरण में नहीं रहता। अतः हेतुसमानाधिकरण जिसके अभाव का प्रतियोगित्व साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न की व्यापकता का अवच्छेदक हो उन सभी अभावों के स्व-प्रतियोगी का समानाधिकरण न होने से वह्नि धूम का व्याप्य नहीं है।

"वाच्यं ज्ञेयत्वात्" इस स्थल में ज्ञेयत्व के समानाधिकरण "समवायितया वाच्यत्वं नास्ति", "घटत्वादिना वाच्यत्वं नास्ति" इत्यादि प्रतीतियों से सिद्ध अभावों का वाच्यत्वनिष्ठ-प्रतियोगित्व वाच्यत्वत्वावच्छिन्न-वाच्यत्व की व्यापकता का अवच्छेदक है, क्योंकि किसी वाच्यत्वाधिकरण में उन अभावों के प्रतियोगी का अभाव न होने से उन अभावों का प्रतियोगी व्यापक है और प्रतियोगित्व साध्यव्यापकता का अवच्छेदक है और वे सभी अभाव अपने प्रतियोगी वाच्यत्व के अधिकरण में रहते हैं, अतः ज्ञेयत्व वाच्यत्व का व्याप्य है।

(२) **"यत्समानाधिकरणानां साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न-व्यापकतावच्छेदकरूपावच्छिन्नप्रतियोगिताकानां यावतामभावानां प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नसामानाधिकरण्यं तत्त्वम्"।**

हेतुसमानाधिकरण जितने अभावों की प्रतियोगिता साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न—साध्य की व्यापकता के अवच्छेदक रूप से अवच्छिन्न हो वे सभी अभाव यदि अपने प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न के अधिकरण में रहते हों तो हेतु साध्य का व्याप्य होता है।

"वह्निमान् धूमात्" इस स्थल में धूम के समानाधिकरण 'वह्नित्वेन घटाभाव', 'वह्नित्वेन पटाभाव' आदि अभावों की प्रतियोगिता वह्नित्वावच्छिन्न-वह्नि के व्यापकतावच्छेदक वह्नित्व से अवच्छिन्न है और वे सभी अभाव अपने प्रतियोगितावच्छेदक वह्नित्वावच्छिन्न के अधिकरण महानस आदि में विद्यमान हैं, अतः धूम वह्नि का व्याप्य है।

"वाच्यं ज्ञेयत्वात्" इस स्थल में ज्ञेयत्व हेतु के समानाधिकरण 'ज्ञेयत्वत्वेन वाच्यत्वाभाव', 'वाच्यत्वत्वेन ज्ञेयत्वाभाव' आदि अभावों की प्रतियोगिता वाच्यत्वत्वावाच्छिन्नवाच्यत्व के व्यापकतावच्छेदक वाच्यत्वत्व, ज्ञेयत्वत्व से अवच्छिन्न है और वे सभी अभाव अपने प्रतियोगितावच्छेदक वाच्यत्वत्व, ज्ञेयत्वत्व से अवच्छिन्न वाच्यत्व, ज्ञेयत्व के अधिकरण में रहते हैं। अतः ज्ञेयत्व वाच्यत्व का व्याप्य है।

दीधितिकार ने अपने इन दो लक्षणों को प्रस्तुत करने के बाद चक्रवर्ती के तीन लक्षणों को उद्धृत किया है, जैसे—

(१) **"व्याप्यवृत्तिहेतुसमानाधिकरणसाध्याभावप्रतियोगिताया अनवच्छेदकं यत्साध्यतावच्छेदकं तदवच्छिन्नसामानाधिकरण्यम्"।**

व्याप्य-वृत्ति—देश, कालरूप अवच्छेदक के विना रहने वाले हेतु-समानाधिकरण—हेतु के अधिकरण में रहने वाले साध्याभाव की प्रतियोगिता के अनवच्छेदक साध्यतावच्छेदक से अवच्छिन्न साध्य के अधिकरण में रहना।

"वाच्यं ज्ञेयत्वात्" इस स्थल में व्याप्य-वृत्ति, हेतुसमानाधिकरण, साध्याभाव है घटत्वादिना वाच्यत्व का अभाव, उसकी प्रतियोगिता का अनवच्छेदक साध्यतावच्छेदक है वाच्यत्वत्व, उससे अवच्छिन्न वाच्यत्व के अधिकरण घट आदि में रहने से ज्ञेयत्व वाच्यत्व का समानाधिकरण होने के कारण ज्ञेयत्व वाच्यत्व का व्याप्य है।

(२) **"व्याप्यवृत्तिहेतुसमानाधिकरणाभावस्य प्रतियोगितायाः सामानाधिकरण्येन अनवच्छेदकं यत्साध्यतावच्छेदकं तदवच्छिन्नसामानाधिकरण्यम्"।**

हेतुसमानाधिकरण व्याप्य-वृत्ति अभाव की प्रतियोगिता के सामानाधिकरण्येन अवच्छेदक से भिन्न साध्यतावच्छेदक से अवच्छिन्न साध्य के अधिकरण में रहना।

"वाच्यं ज्ञेयत्वात्" इस स्थल में हेतुसमानाधिकरण व्याप्य-वृत्ति अभाव शब्द से वाच्यत्वाभाव को नहीं लिया जा सकता, क्योंकि वाच्यत्व के केवलान्वयी होने से वह कहीं प्रसिद्ध नहीं है। वाच्यत्वत्वेन घट आदि के अभाव को भी नहीं लिया जा सकता, क्योंकि उसकी प्रतियोगिता का समानाधिकरण अवच्छेदक अप्रसिद्ध है, अतः हेतुसमानाधिकरण व्याप्य-

वृत्ति अभाव के रूप में घटादि का अभाव ही लिया जा सकेगा, उसकी प्रतियोगिता के अवच्छेदक घटत्व आदि से साध्यतावच्छेदक वाच्यत्वत्व भिन्न है, ज्ञेयत्व उससे अवच्छिन्न वाच्यत्व के अधिकरण में रहने से वाच्यत्व का व्याप्य है।

(३) **"हेतुसमानाधिकरणप्रतियोगिव्यधिकरणाभावप्रतियोगितायाः सामानाधिकरण्येन अनवच्छेदकं यत्साध्यतावच्छेदकं तदवच्छिन्नसामानाधिकरण्यम्"** ।

हेतु के अधिकरण में विद्यमान अपने प्रतियोगी के व्यधिकरण अभाव की प्रतियोगिता के समानाधिकरण अवच्छेदक से भिन्न साध्यतावच्छेदक से अवच्छिन्न साध्य के अधिकरण में रहना।

"वाच्यं ज्ञेयत्वात्" इस स्थल में हेतु के अधिकरण में विद्यमान प्रतियोगी का व्यधिकरण अभाव वाच्यत्वाभाव या वाच्यत्वत्वेन घटादि का अभाव नहीं होगा, क्योंकि वाच्यत्वाभाव कहीं प्रसिद्ध नहीं है और वाच्यत्वत्वेन घटादि के अभाव की प्रतियोगिता का समानाधिकरण अवच्छेदक अप्रसिद्ध है, अतः हेतुसमानाधिकरण प्रतियोगिव्यधिकरण अभाव घटादि का अभाव ही होगा, उसकी प्रतियोगिता के समानाधिकरण अवच्छेदक घटत्व आदि से भिन्न साध्यतावच्छेदक वाच्यत्वत्व से अवच्छिन्न वाच्यत्व के अधिकरण में रहने से ज्ञेयत्व वाच्यत्व का व्याप्य है।

चक्रवर्ती के लक्षणों को प्रस्तुत करने के बाद दीधितिकार ने प्रगल्भ के निम्न तीन लक्षणों को प्रस्तुत किया है :

(१) **"साध्यतावच्छेदकावच्छिन्नसाध्यसामानाधिकरण्यावच्छेदकस्वसमानाधिकरणसाध्याभावत्वकत्वम्"** ।

इस लक्षण में स्वसमानाधिकरण का अर्थ है हेतुसमानाधिकरण, अतः पूरे लक्षण का मन्तव्य यह है कि हेतु के अधिकरण में वृत्ति सभी साध्याभाव यदि साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न साध्य के अधिकरण में विद्यमान हों तो हेतु साध्य का व्याप्य होता है।

"वाच्यं ज्ञेयत्वात्" इस स्थल में ज्ञेयत्व हेतु के अधिकरण घट आदि में वृत्ति वाच्यत्वत्वेन घटाभाव आदि सभी साध्याभाव साध्यतावच्छेदक वाच्यत्वत्व से अवच्छिन्न वाच्यत्व के अधिकरण में वृत्ति होने से ज्ञेयत्व वाच्यत्व का व्याप्य है।

(२) **"यत्समानाधिकरणसाध्याभावप्रमायां साध्यवत्ताज्ञानप्रतिबन्धकत्वं नास्ति तत्त्वम्" ।**

यत्समानाधिकरण का अर्थ है हेतुसमानाधिकरण। यह प्रमा का विशेषण है। अतः इसका अभीष्ट अर्थ है हेतुमद्विशेष्यक। इसके अनुसार लक्षण का यह अभिमत है कि हेतुमान् में साध्याभाव की जितनी प्रमा हों उन सबमें यदि साध्यप्रकारक ज्ञान की प्रतिबन्धकता का अभाव हो तो हेतु साध्य का व्याप्य होता है।

"वाच्यं ज्ञेयत्वात्" इस स्थल में हेतुमान् घटादि में वाच्यत्वत्वेन घटादि के अभाव रूप साध्याभाव की जितनी प्रमा हैं उन सभी में "वाच्यत्ववान् घटादिः" इस साध्यप्रकारक ज्ञान की प्रतिबन्धकता का अभाव है, क्योंकि वाच्यत्व के साथ वाच्यत्वत्वेन घटादि के अभाव का कोई विरोध नहीं है, अतः इस लक्षण के अनुसार ज्ञेयत्व वाच्यत्व का व्याप्य है।

(३) **"साध्याभाववति यद्वृत्तौ प्रकृतानुमितिविरोधित्वं नास्ति तत्त्वम्।"**

यद्-वृत्ति शब्द का अर्थ है हेतुनिष्ठ-वृत्तित्व-सामान्य। वृत्तित्व में साध्याभाववति शब्द के अर्थ साध्याभाववन्निरूपितत्व का अन्वय है। अतः पूरे लक्षण का अभिमत यह है कि—

हेतु में जितनी साध्याभाववन्निरूपित वृत्तिता हो, उन सभी में प्रकृत अनुमिति के विरोधित्व का अभाव हो तो हेतु साध्य का व्याप्य होता है।

"वाच्यं ज्ञेयत्वात्" इस स्थल में ज्ञेयत्व हेतु में वाच्यत्वत्वेन घटाभाववन्निरूपित, वाच्यत्वत्वेन पटाभाववन्निरूपित आदि जितनी वृत्तिता है, उन सभी में प्रकृत अनुमिति-ज्ञेयत्व से वाच्यत्व की अनुमिति की विरोधिता का अभाव होने से ज्ञेयत्व वाच्यत्व का व्याप्य है। आशय यह है कि हेतु में साध्याभाववन्निरूपित वृत्तित्व, हेतुगत साध्य का व्यभिचार है। व्यभिचार ज्ञान अनुमिति के जनक व्याप्य ज्ञान का विरोधी होने से प्रकृत अनुमिति का विरोधी होता है। "वाच्यं ज्ञेयत्वात्" इस स्थल में साध्य-सामान्याभाव के अप्रसिद्ध होने से हेतुनिष्ठ-साध्याभाववन्निरूपित-वृत्तित्व के रूप में साध्यसामान्याभाववन्निरूपित-वृत्तित्व न मिलकर व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न – प्रतियोगिताक – साध्याभाववन्निरूपित–वृत्तित्व

मिलेगा, जो व्यभिचार रूप न होने से व्याप्ति-ज्ञान के प्रतिबन्धक ज्ञान का विषय न होने के नाते प्रकृतानुमिति का विरोधी नहीं है, अतः ज्ञेयत्वनिष्ठ-साध्याभाववन्निरूपित-वृत्तित्व-सामान्य में प्रकृतानुमिति के विरोधित्व का अभाव होने से प्रकृत लक्षण के अनुसार ज्ञेयत्व में साध्य की व्याप्ति सुघट है।

प्रगल्भ के उक्त लक्षणों की प्रस्तुति के बाद मिश्र के तीन लक्षण प्रस्तुत किये गये हैं :

(१) "यावन्तः साध्याभावाः प्रत्येकं तत्तत्सजातीया ये तत्तदधिकरण-वृत्तित्वाभावास्तद्वत्त्वं तत्त्वम्"।

जितने साध्याभाव—साध्यव्यापकतावच्छेदक रूपावच्छिन्न प्रति-योगितानिरूपक अभाव हों, उनमें प्रत्येक तत्तद् अभाव के सजातीय तत्तदभावाधिकरण-निरूपित-वृत्तित्वाभाव का आश्रय होना व्याप्ति है।

"वाच्यं ज्ञेयत्वात्" इस स्थल में जितने साध्याभाव सम्भव हैं उनमें अप्रसिद्ध होने के कारण वाच्यत्वाभाव नहीं लिया जा सकता, किन्तु वाच्यत्वत्वेन घट आदि का ही अभाव लिया जायगा। यह अभाव व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव है। अतः इसका सजातीय वाच्यत्वत्वेन घटाद्यभावाधिकरण निरूपित वृत्तित्व का व्यधिकरणधर्मा-वच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव ही होगा और वह ज्ञेयत्व हेतु में रहता है। अतः ज्ञेयत्व में उक्त व्याप्ति का समन्वय सुकर है।

"धूमवान् वह्नेः" इस स्थल में सम्भावित साध्याभावों में धूम-सामान्याभाव और अयोगोलक-भेदाभाव भी आयेगा। वह समाना-धिकरण-धर्मावच्छिन्न-प्रतियोगिताक है, उसका सजातीय उसके अधिकरण से निरूपित वृत्तिता का समानाधिकरण-धर्मावच्छिन्न-प्रतियोगिताक अभाव ही होगा, जैसे धूमाभावाधिकरणवृत्तित्व-सामान्याभाव, अयो-गोलकभेदाभावाधिकरण-वृत्तित्व-सामान्याभाव। यह अभाव वह्नि में नहीं है, अतः वह्नि में धूम की व्याप्ति नहीं होगी।

(२) "यावन्तस्तादृशाः साध्याभावाः प्रत्येकं तेषां सजातीयस्य व्यापकीभूतस्य व्याप्यवृत्तेरभावस्य प्रतियोगितावच्छेदको धर्मो यद्रूपा-वच्छिन्नस्य व्यापकताया अवच्छेदकस्तद्रूपवत्त्वं तत्त्वम्"।

साध्याभाव—साध्यव्यापकतावच्छेदक-रूपावच्छिन्न-प्रतियोगिता के निरूपक अभाव जितने हों, उनमें प्रत्येक के सजातीय तथा व्यापक एवं व्याप्य-वृत्ति अभाव का प्रतियोगिता-वच्छेदक धर्म यद्रूपावच्छिन्न का व्यापकतावच्छेदक हो, तद्रूप का आश्रय होना व्याप्ति है। यद्-रूप का अर्थ है हेतुतावच्छेदक-रूप।

"वाच्यं ज्ञेयत्वात्" इस स्थल में साध्याभाव है 'वाच्यत्वत्वेन घटाभाव', 'वाच्यत्वत्वेन पटाभाव' आदि। उनमें प्रत्येक अभाव का सजातीय और व्यापक तथा व्याप्य-वृत्ति अभाव वही अभाव है, उसका प्रतियोगिता-वच्छेदक धर्म वाच्यत्वत्व हेतुतावच्छेदक-ज्ञेयत्वत्व से अवच्छिन्न ज्ञेयत्व का व्यापकतावच्छेदक है, अतः ज्ञेयत्वत्व का आश्रय ज्ञेयत्व वाच्यत्व का व्याप्य है।

"धूमवान् वह्नेः" इस स्थल में धूमाभाव भी साध्याभाव है। उसका सजातीय तथा व्यापक एवं व्याप्य-वृत्ति वही अभाव है, उसका प्रतियोगितावच्छेदक धर्म धूमत्व वह्नित्वावच्छिन्न का व्यापकतावच्छेदक नहीं हैं। अतः वह्नित्वाश्रयत्व के व्याप्ति रूप न होने से वह्नि धूम का व्याप्य नहीं है।

(३) "यावन्तस्तादृशाः साध्याभावाः प्रत्येकं तत्प्रतियोगितावच्छेदकधर्मेण यद्रूपावच्छिन्नं प्रति व्यापकत्वमवच्छिद्यते तद्रूपवत्त्वं तत्त्वम्"।

साध्याभाव—साध्यव्यापकतावच्छेदक-रूपावच्छिन्न-प्रतियोगिता के निरूपक अभाव जितने हों, उनमें प्रत्येक का प्रतियोगितावच्छेदक धर्म यद्रूपावच्छिन्न का व्यापकतावच्छेदक हो, तद्रूप का आश्रय होना।

"वाच्यं ज्ञेयत्वात्" इस स्थल में साध्याभाव हैं 'वाच्यत्वेन घटाभाव', 'वाच्यत्वत्वेन पटाभाव' आदि। उनमें प्रत्येक का प्रतियोगितावच्छेदक वाच्यत्वत्व हेतुतावच्छेदक ज्ञेयत्वत्व से अवच्छिन्न ज्ञेयत्व का व्यापकता-वच्छेदक है, अतः ज्ञेयत्वत्व का आश्रय ज्ञेयत्व वाच्यत्व का व्याप्य है।

"धूमवान् वह्नेः" इस स्थल में धूमाभाव भी साध्याभाव है। उसका प्रतियोगितावच्छेदक धर्म धूमत्व वह्नित्वावच्छिन्न वह्नि का व्यापकता-वच्छेदक नहीं है, अतः वह्नित्व का आश्रय वह्नि धूम का व्याप्य नहीं है।

मिश्र के उक्त तीन लक्षणों को प्रस्तुत करने के बाद सार्वभौम के निम्न तीन लक्षण प्रस्तुत किये गये हैं :

(१) **"वृत्तिमद्वृत्तयो यावन्तः साध्याभाववद्वृत्तित्वाभावास्तद्वत्त्वं व्याप्तिः"** ।

साध्याभावाधिकरण-निरूपित हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न-वृत्तिता के जितने अभाव हेतुतावच्छेदक सम्बन्ध से वृत्तिमान् में रहते हों, उन सभी का आश्रय होना व्याप्ति है।

"वाच्यं ज्ञेयत्वात्" इस स्थल में हेतु है ज्ञेयत्व, हेतुतावच्छेदक सम्बन्ध है, स्वरूप साध्याभाव है वाच्यत्वत्वेन घटादि का अभाव। इसके अनुसार हेतुतावच्छेदक स्वरूप सम्बन्ध से रहने वाले वाच्यत्व आदि में विद्यमान साध्याभावाधिकरणनिरूपित-हेतुतावच्छेदक-सम्बन्धावच्छिन्न–वृत्तित्वाभाव है वाच्यत्वत्वेन घटाभावाधिकरणनिरूपित-स्वरूपसम्बन्धावच्छिन्न-वृत्तिता का घटत्वादि-रूप से अभाव, वह ज्ञेयत्व में है। अतः ज्ञेयत्व वाच्यत्व का व्याप्य है।

"धूमवान् वह्नेः" इस स्थल में हेतुतावच्छेदक-संयोगसम्बन्ध से रहने वाले धूम में वृत्ति साध्याभावाधिकरणनिरूपित-संयोगसम्बन्धावच्छिन्न-वृत्तित्वाभाव है धूमाभावाधिकरणनिरूपित-संयोगसम्बन्धावच्छिन्न-वृत्तिता का सामान्याभाव, वह वह्नि में नहीं है, क्योंकि उसमें धूमाभावाधिकरण-तप्त-अयःपिण्डनिरूपित-संयोगसम्बन्धावच्छिन्न-वृत्तिता है, अतः वह्नि धूम का व्याप्य नहीं है।

(२) **"वृत्तिमद्वृत्तयो यावन्तः साध्याभावसमुदायाधिकरणवृत्तित्वाभावास्तद्वत्त्वं व्याप्तिः"** ।

साध्याभाव-समुदाय के अधिकरण से निरूपित हेतुतावच्छेदक-सम्बन्धावच्छिन्न-वृत्तिता के जितने अभाव हेतुतावच्छेदक-सम्बन्ध से वृत्तिमान् में वृत्ति हों, उन सबका आश्रय होना व्याप्ति है। साध्याभाव का अर्थ है साध्यतावच्छेदक-समनियतप्रतियोगिताक अभाव।

"वाच्यं ज्ञेयत्वात्" इस स्थल में हेतुतावच्छेदक-स्वरूप-सम्बन्ध से वृत्तिमान् वाच्यत्व आदि में वृत्ति साध्याभावसमुदायाधिकरण-वृत्तित्वाभाव के मध्य घटत्वादि-रूप से वाच्यत्व के अभाव-समुदाय के अधिकरण घटादि से निरूपित वृत्तिता का सामान्याभाव नहीं आता, क्योंकि घटत्वादिना वाच्यत्वाभाव-समुदाय के अधिकरण की वृत्तिता ही सभी वृत्तिमान् में विद्यमान है, किन्तु घटत्वादिना वाच्यत्वाभाव-समुदाय के

अधिकरण से निरूपित वृत्तिता का व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव ही वृत्तिमद्वृत्ति, साध्याभाव-समुदायाधिकरण-वृत्तित्वाभाव के मध्य में आता है। अतः इसका आश्रय होने से ज्ञेयत्व वाच्यत्व का व्याप्य है।

"धूमवान् वह्नेः" इस स्थल में वृत्तिमान् में वृत्ति साध्याभाव-समुदायाधिकरण-वृत्तित्वाभाव के मध्य धूमसामान्याभावाधिकरण-वृत्तित्व-सामान्याभाव भी आता है। वह्नि में उसके न होने से वह्नि धूम का व्याप्य नहीं होता।

(३) **"साध्यतावच्छेदकावच्छिन्नव्यापकतावच्छेदकरूपावच्छिन्नप्रतियोगिताकव्याप्यवृत्तिस्वसमानाधिकरणयावदभावाधिकरणवृत्तित्वाभावा यावन्तो वृत्तिमद्वृत्तियस्तदवत्त्वं व्याप्तिः"।**

स्वसमानाधिकरण का अर्थ है हेतुसमानाधिकरण, इसलिए पूरे लक्षण का स्वरूप यह है कि—

साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न के व्यापकतावच्छेदक रूप से अवच्छिन्न-प्रतियोगिता के निरूपक जितने अभाव हेतुसमानाधिकरण और व्याप्य-वृत्ति हों, उन सभी अभावों के अधिकरण की वृत्तिता के जितने अभाव वृत्तिमान् में वृत्ति हों, उन सभी का आश्रय होना व्याप्ति है।

"वाच्यं ज्ञेयत्वात्" इस स्थल में हेतुसमानाधिकरण-व्याप्य-वृत्ति, साध्यव्यापकतावच्छेदक-रूपावच्छिन्न-प्रतियोगितानिरूपक अभाव के मध्य में 'वाच्यत्वत्वेन घटाभाव', 'वाच्यत्वत्वेन पटाभाव' आदि जितने अभाव आते हैं, उन सभी के अधिकरण घटादिनिरूपित-वृत्तिता के वृत्तिमद्वृत्ति अभावों में 'वाच्यत्वत्वेन घटाभावादि' के अधिकरण घटादिनिरूपित-वृत्तिता का सामान्याभाव नहीं आ सकता, क्योंकि सभी वृत्तिमान् में वाच्यत्वत्वेन घटाद्यभावाधिकरण-वृत्तिता के रहने से उसका सामान्याभाव वृत्तिमान् में वृत्ति नहीं होता, किन्तु उक्त वृत्तित्वाभाव के मध्य में वाच्यत्वत्वेन घटाद्यभावाधिकरण-निरूपित-वृत्तिता का व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव ही आता है, ज्ञेयत्व उसका आश्रय होने से वाच्यत्व का व्याप्य है।

"धूमवान् वह्नेः" इस स्थल से हेतुसमानाधिकरण-व्याप्य-वृत्ति साध्य-व्यापकतावच्छेदक-रूपावच्छिन्न-प्रतियोगिताक अभाव के मध्य में धूम-सामान्याभाव भी आता है। अतः धूमाभावाधिकरण ही हेतुसमानाधिकरण-व्याप्य-वृत्ति यावत्साध्याभाव का अधिकरण होता है, फलतः

तन्निरूपित-वृत्तिता का सामान्याभाव भी वृत्तिमान् धूम आदि में वृत्ति होने से उक्त वृत्तित्वाभाव के मध्य में आता है। उसका आश्रय न होने से वह्नि धूम का व्याप्य नहीं है।

तत्त्वचिन्तामणिकार ने इस प्रकरण के अन्त में अभाव की प्रतियोगिता में व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नत्व का खण्डन कर यह भाव व्यक्त किया है कि जब व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न-प्रतियोगिताक अभाव ही अप्रामाणिक होने से अमान्य है तक उसकी मान्यता पर निर्भर व्याप्ति के लक्षण कैसे मान्य हो सकते हैं। अतः व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव पर आश्रित दीधितिकार तथा अन्यों द्वारा उद्भावित उक्त सभी व्याप्ति-लक्षण अग्राह्य हैं।

व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव के सम्बन्ध में चिन्तामणिकार का कहना है कि प्रतियोगी से विशेषित अभाव की बुद्धि अभाव में प्रतियोगितावच्छेदक-विशिष्ट-प्रतियोगी के वैशिष्ट्य—सम्बन्ध को विषय करती है; अतः वह प्रतियोगितावच्छेदक-विशिष्ट-प्रतियोगी के ज्ञान से जन्य होती है। यदि ऐसा न माना जायगा तो घट, घटत्व के निर्विकल्पक से भी "घटो नास्ति" इस प्रतीति की आपत्ति होगी। ऐसी स्थिति में व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि अभाव की बुद्धि यदि प्रतियोगी में अवृत्ति धर्म से विशिष्ट प्रतियोगी को अभाव के विशेषण रूप में विषय न करेगी, तो उससे प्रतियोगी में अवृत्ति धर्म में प्रतियोगितावच्छेदकता की सिद्धि नहीं होगी और यदि प्रतियोगी में अवृत्ति धर्म से विशिष्ट प्रतियोगी को अभाव के विशेषण रूप में ग्रहण करेगी, तो भ्रमात्मक हो जाने से अभिमत का साधक न हो सकेगी, क्योंकि भ्रम अपने विषय के अस्तित्व का साक्षी नहीं होता।

यदि "गवि शशशृङ्गं नास्ति" यह प्रतीति लोक को मान्य होती तो इससे गो में शशवृत्तित्वरूप प्रतियोगिता के व्यधिकरण धर्म से शृङ्ग का अभाव भी मान्य होता, किन्तु ऐसी प्रतीति लोक को मान्य नहीं है। हाँ "शशशृङ्गं नास्ति" यह प्रतीति लोकमान्य हो सकती है, पर इसकी उपपत्ति शश में शृङ्गाभाव को विषय करने से भी हो जाती है, अतः साधक-प्रमाणभूत-प्रतीति के अभाव में व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव अप्रसिद्ध है।

व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव का खण्डन कर उस पर आश्रित व्याप्ति-लक्षणों को अस्वीकार्य बताने के बाद चिन्तामणिकार ने अपने समय तक प्रचलित अन्य विद्वानों द्वारा उद्भावित अनेक व्याप्ति-लक्षणों को पूर्व-पक्ष के रूप में प्रस्तुत कर उनकी समीक्षा की है जैसे—

(१) **"साध्यासामानाधिकरण्यानधिकरणत्वे सति साधिकरणत्वं व्याप्तिः"** ।

इसमें 'असमानाधिकरण्यं यत्र'—जिसमें साध्य का असामानाधिकरण्य हो, इस बहुव्रीहिमूलक व्युत्पत्ति के अनुसार साध्यासामानाधिकरण्य का अर्थ है साध्य का असमानाधिकरण—साध्याधिकरण्य में अवृत्ति; 'सति' शब्द के योग से अनधिकरणत्व शब्द में लगी सप्तमी का अर्थ है अन्यनुवृत्तित्व, इसलिए पूरे लक्षण का अर्थ है—साध्याधिकरण में अवृत्ति पदार्थ की अनधिकरणता जिस हेतु की अधिकरणता से न्यून वृत्ति न हो वह हेतु साध्य का व्याप्य है। 'अधिकरणत्वेन सह' इस व्युत्पत्ति से साधिकरणत्व शब्द का अधिकरणता-युक्त-हेतु अर्थ होने से यह अर्थ लब्ध होता है।

"वह्निमान् धूमात्" इस स्थल में साध्य वह्नि के अधिकरण महानस आदि में अवृत्ति है वह्नि का अभाव, उसकी अनधिकरणता धूम की अधिकरणता का न्यून वृत्ति नहीं है, क्योंकि सभी धूमाधिकरण वह्न्यभाव के अनधिकरण हैं, अतः धूम वह्नि का व्याप्य है।

"वाच्यं ज्ञेयत्वात्" इस स्थल में साध्याधिकरण घटादि में अवृत्ति है आकाशादि नित्य द्रव्य, उसका कोई आश्रय न होने से उसका अनधिकरणत्व—अधिकरणता सम्बन्ध से उसका अभाव सर्वत्र है, अतः वह भी ज्ञेयत्व की अधिकरणता का न्यून वृत्ति नहीं है, इसलिए ज्ञेयत्व भी वाच्यत्व का व्याप्य है।

"धूमवान् वह्नेः" इस स्थल में धूमाधिकरण में आवृत्ति धूमाभाव का अनधिकरणत्व वह्नि की अधिकरणता का न्यून वृत्ति है, क्योंकि वह्नि के अधिकरण तप्त अयःपिण्ड में धूमाभाव के रहने से उसका अनधिकरणत्व उसमें नहीं है, अतः वह्नि धूम का व्याप्य नहीं होता।

चिन्तामणिकार ने 'साध्यस्य असामानाधिकरण्यं यत्र" इस व्यधिकरण बहुव्रीहि को आदर न देने से तथा "वाच्यं ज्ञेयत्वात्" इस स्थल में

साध्याधिकरण में अवृत्ति आकाश आदि का अधिकरण न होने से उसके अनधिकरणत्व की अप्रसिद्धि से साध्यासामानाधिकरण्य का साध्याधिकरणावृत्ति अर्थ उचित नहीं समझा। उन्होंने उसके दो अर्थों की सम्भावना मानी। पहला साध्यानधिकरणाधिकरणकत्व और दूसरा साध्याधिकरणानधिकरणकत्व। पहले का अर्थ है साध्य का अनधिकरण जिसका अधिकरण न हो, जैसे साध्य वह्नि का अनधिकरण जलाशय वह्न्यभाव का अधिकरण है, अतः वह्न्यभाव साध्यानधिकरणाधिकरणक है। दूसरे का अर्थ है साध्याधिकरण जिसका अनधिकरण हो, जैसे साध्य वह्नि का अधिकरण महानस आदि वह्न्यभाव का अनधिकरण है। अतः वह्न्यभाव साध्याधिकरणानधिकरणक है; किन्तु चिन्तामणिकार ने इन अर्थों को भी ग्राह्य नहीं माना, क्योंकि पहले में "वाच्यं ज्ञेयत्वात्" इस स्थल में साध्य वाच्यत्व का अनधिकरण अप्रसिद्ध है और दूसरे में यह दोष है कि कोई न कोई साध्याधिकरण किसी न किसी धूम का अनधिकरण है, वह्नि का अधिकरण पर्वत महानसीय धूम का अनधिकरण है, अतः धूम भी साध्यासामानाधिकरण्य शब्द से गृहीत होगा और उसका अनधिकरणत्व धूम की अधिकरणता का न्यून वृत्ति है, इसलिए धूम वह्नि का व्याप्य न हो सकेगा।

(२) **"स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः"।**

जो हेतु अपने अधिकरण में विद्यमान अभाव के अप्रतियोगी साध्य का समानाधिकरण हो वह साध्य का व्याप्य है।

किन्तु यह लक्षण भी ठीक नहीं है, क्योंकि सभी वह्नि चालनी-न्याय से धूमाधिकरण में विद्यमान अभाव का प्रतियोगी है, यतः जिस धूमाधिकरण में जो वह्नि नहीं रहता, उसमें उसका अभाव है, इसलिए साध्य में हेतुसमानाधिकरण अभाव का अप्रतियोगित्व न होने से धूम में वह्नि की उक्त व्याप्ति नहीं उपपन्न हो सकती।

(३) **"साधनवन्निष्ठान्योन्याभावाप्रतियोगिसाध्यवत्कत्वं व्याप्तिः"।**

साध्यवान् जिस हेतु के अधिकरण में विद्यमान भेद का अप्रतियोगी हो वह हेतु साध्य का व्याप्य है।

चिन्तामणिकार की दृष्टि में यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि "वह्निमान् धूमात्" इस स्थल में धूमाधिकरण इर्वत में वह्निमन् महानस का भेद

एवं धूमाधिकरण महानस में वह्निमत् पर्वत का भेद रहने से सभी वह्निमान् धूमवन्निष्ठ भेद का प्रतियोगी बन जायगा; अतः वह्निमान् में धूमवन्निष्ठ अन्योन्याभाव का अप्रतियोगित्व न होने से धूम वह्नि का व्याप्य न हो सकेगा।

(४) **"साधनसमानाधिकरणयावद्धर्मनिरूपितवैयधिकरण्यानधिकरण-सामानाधिकरण्यं व्याप्तिः"।**

ऐसे साध्य का सामानाधिकरण्य व्याप्ति है जो हेतु समानाधिकरण धर्मों में किसी का भी व्यधिकरण न हो।

धूम के अधिकरण में जितने भी धर्म हैं, साध्य वह्नि उनमें किसी का भी व्यधिकरण नहीं है, क्योंकि सभी धूमाधिकरण में वह्नि के रहने से वह्नि में धूमसमानाधिकरण सभी धर्मों का सामानाधिकरण्य ही रहता है, अतः धूम में वह्नि का सामानाधिकरण्य धूमनिष्ठ वह्नि की व्याप्ति है।

"धूमवान् वह्नेः" इस स्थल में साधन वह्नि के समानाधिकरण धर्मों में धूमाभाव भी आता है, क्योंकि वह वह्नि के अधिकरण तप्त अयःपिण्ड में रहता है, साध्य धूम उसका व्यधिकरण है, अतः वह्निनिष्ठ-धूमसामानाधिकरण्य वह्नि में धूम की व्याप्ति नहीं है।

तत्त्वचिन्तामणिकार की दृष्टि में यह लक्षण भी ठीक नहीं है, क्योंकि साधनसमानाधिकरण धर्मों में प्रमेयत्व आदि केवलान्वयी धर्म भी आते हैं। अतः किसी में भी उनका वैयधिकरण्य न होने, साधनसमानाधिकरण सभी धर्मों के वैयधिकरण्य की अप्रसिद्धि होने से सद्धेतु मात्र में अव्याप्ति होगी।

(५) **"अनौपाधिकसम्बन्धो व्याप्तिः"।**

उपाध्यभाव से विशिष्ट हेतु के साथ साध्य का सामानाधिकरण्य सम्बन्ध हेतु में साध्य की व्याप्ति है।

"वह्निमान् धूमात्" इस स्थल में धूम में उपाधि का अभाव है, अतः धूम में विद्यमान वह्नि का सामानाधिकरण्य धूम में वह्नि की व्याप्ति है।

"धूमवान् वह्नेः" इस स्थल में वह्नि में आर्द्र इन्धन उपाधि है। अतः वह्निनिष्ठ-धूमसामानाधिकरण्य-उपाध्यभाव से विशिष्ट न होने के कारण वह्नि में धूम की व्याप्ति नहीं है।

चिन्तामणिकार की दृष्टि में यह लक्षण भी समीचीन नहीं है, क्योंकि साध्यव्यापक और साधनाव्यापक को उपाधि कहा जाता है, अतः उपाध्यभाव से यदि यत्किञ्चित् साध्य के व्यापक और साधन के अव्यापक का अभाव विवक्षित हो तो ऐसे धर्म का निषेध धूम में भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि यत्किञ्चित् साध्य—पर्वतीय वह्नि का व्यापक और धूम का अव्यापक धर्म पर्वतत्व व्यभिचारित्व सम्बन्ध से धूम में विद्यमान है, अतः धूम भी वह्नि का व्याप्य न हो सकेगा।

यदि उपाध्यभाव का तात्पर्य प्रकृतसाध्य के व्यापक और प्रकृतसाधन के अव्यापक धर्म के अभाव में हो तो भी धूम में उसका निषेध नहीं हो सकता, क्योंकि वह्नि-व्यापक और धूम का अव्यापक कोई धर्म सिद्ध होगा तो उसका निषेध कैसे किया जा सकेगा और यदि उक्त धर्म असिद्ध होगा तो भी उसका निषेध कैसे किया जायगा, क्योंकि असिद्ध का अभाव नहीं होता, अतः धूम में उपाध्यभाव का उपपादन शक्य न होने से धूम में वह्नि की व्याप्ति न हो सकेगी।

यदि यह कहा जाय कि उपाध्यभाव कहने का अभिप्राय है यावत्साध्य के व्यापक में साधनाव्यापकत्व का अभाव तथा यावत्साधन के अव्यापक साध्यव्यापकत्व का अभाव बताने में, और यह "वह्निमान् धूमात्" इस स्थल में सम्भव है, क्योंकि वह्नि के व्यापक प्रमेयत्व में धूम के अव्यापकत्व का और धूम के अव्यापक घटत्व आदि में वह्नि-व्यापकत्व का अभाव है तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि इससे धूम में उपाधि का अभाव नहीं लब्ध होता।

यदि यह कहा जाय कि उपाध्यभाव के कथन से यह बताना है कि साधन के यावद्-अव्यापक को साध्य का अव्यापक होना चाहिए, अथवा साध्य के यावद्-व्यापक को साधन का व्यापक होना चाहिए, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि यह सोपाधि हेतु में भी है, जैसे "धूमवान् वह्नेः" इस स्थल में वह्नि आर्द्र इन्धन उपाधि से ग्रस्त है, किन्तु फिर भी साधन वह्नि का अव्यापक यावद् आर्द्र इन्धन प्रत्येक धूम का अव्यापक है एवं साध्य धूम का व्यापक आर्द्र इन्धन वह्नित्व रूप से साधन महानसीय वह्नि का व्यापक है।

यदि यह कहा जाय कि अनौपाधिक कहने का अर्थ है—साध्य जिस-जिसका अव्यभिचारी हो, साधन को भी उन सबका अव्यभिचारी

होना चाहिए, जैसे "वह्निमान् धूमात्" इस स्थल में वह्नि द्रव्यत्व, प्रमेयत्व आदि जिस-जिसका अव्यभिचारी है, धूम भी उन सबका अव्यभिचारी है, अतः वह्नि को साध्य करने पर धूम में अनौपाधिकत्व है; किन्तु "धूमवान् वह्नेः" इस स्थल में ऐसा नहीं है, क्योंकि साध्य धूम आर्द्र इन्धन का अव्यभिचारी है, पर साधन वह्नि उसका अव्यभिचारी नहीं है, अपितु तप्त अयःपिण्ड में उसका व्यभिचारी है, अतः धूम साध्यक-स्थल में वह्नि में अनौपाधिकत्व नहीं है। किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि अनौपाधिकत्व के उक्त निर्वचन के अनुसार साधन में साध्यव्यापक की अव्यभिचारिता में गमकता—साध्यव्यापक की अनुमापकता का लाभ होता है जो उचित नहीं है; उचित है साध्य की अव्यभिचारिता को साध्य का गमक मानने में, जो उक्त निर्वचन से लब्ध नहीं होता और यदि अनौपाधिकत्व का तात्पर्य साध्य की अव्यभिचारिता में साधन की अव्यभिचारिता का नियम माना जायगा, तो "वाच्यं ज्ञेयत्वात्" इस स्थल में साध्य के केवलान्वयी होने से साध्यसामान्याभाव से घटित साध्य की व्यभिचारिता की अप्रसिद्धि होने के कारण साध्य की अव्यभिचारिता भी अप्रसिद्ध हो जायगी।

(६) **"कात्स्न्येंन सम्बन्धो व्याप्तिः"।**

हेतु में कात्स्न्येंन—साकल्येन विद्यमान साध्यसम्बन्ध व्याप्ति है।

कृत्स्न धूम में वह्नि का सामानाधिकरण्य होने से धूम वह्नि का व्याप्य है, कृत्स्न वह्नि में धूम का सामानाधिकरण्य न होने से वह्नि में धूम की व्याप्ति नहीं है।

चिन्तामणिकार की दृष्टि में यह लक्षण भी ठीक नहीं है, क्योंकि कृत्स्न शब्द अनेक की अशेषता बताता है, अतः जहाँ साधन एक ही व्यक्ति होगा वहाँ जैसे "सत्तावान् द्रव्यत्वात्" इस स्थल में कृत्स्न साधन न होने से व्याप्ति न हो सकेगी, यदि "कात्स्न्येंन सम्बन्धः" का तात्पर्य साधन के कृत्स्न अधिकरण में साधन में साध्य का सामानाधिकरण्य हो तो जहाँ साधन का एक ही आश्रय है, जैसे "तद्रूपवान् तद्रसात्" इस स्थल में साधन तद्रस का एक ही अधिकरण होता है वहाँ कृत्स्न साधनाधिकरण न होने से व्याप्ति न बन सकेगी।

साध्य के 'कात्स्न्येंन सम्बन्ध' को अर्थात् हेतु में साध्य के सामनैयत्य को भी व्याप्ति नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर विषम-

व्याप्त—साध्य से न्यून वृत्ति हेतु में—सत्ता साध्यक द्रव्यत्व हेतु में व्याप्ति की अनुपपत्ति होगी।

(७) **"यावत्साधनाश्रयाश्रितसाध्यसम्बन्धो व्याप्तिः"।**

साधन के सभी आश्रयों में आश्रित साध्य का सम्बन्ध व्याप्ति है।

"सत्तावान् द्रव्यत्वात्" इस स्थल में साधन द्रव्यत्व के आश्रय सभी द्रव्यों में साध्य सत्ता आश्रित है, अतः द्रव्यत्व में विद्यमान सत्ता का सामानाधिकरण्य सम्बन्ध व्याप्ति है।

चिन्तामणिकार को यह व्याप्ति भी अभीष्ट नहीं है, क्योंकि "वह्निमान् धूमात्" इस स्थल में साधन धूम के सब आश्रयों में साध्य कोई भी वह्नि आश्रित नहीं है।

(८) **"साधनसमानाधिकरणयावद्धर्मसमानाधिकरणसाध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः"।**

हेतु-समानाधिकरण समस्त धर्मों के अधिकरण में विद्यमान साध्य के अधिकरण में हेतु का रहना व्याप्ति है।

चिन्तामणिकार ने यह कह कर इसे भी अस्वीकार कर दिया है कि "वह्निमान् धूमात्" इस स्थल में धूम समानाधिकरण पर्वतत्व, महानसत्व आदि सभी धर्मों का एक अधिकरण अप्रसिद्ध है।

(९) **"स्वाभाविकः सम्बन्धो व्याप्तिः"।**

हेतु के साथ साध्य का जो सम्बन्ध स्वाभाविक हो, वह व्याप्ति है।

चिन्तामणिकार को यह लक्षण भी मान्य नहीं है, क्योंकि स्वभाव शब्द से ठञ् प्रत्यय द्वारा निष्पन्न स्वाभाविक शब्द का अर्थ यदि स्वभाव-निरूपित किया जायगा तो स्वभावजन्यता में और यदि स्वभावगत अर्थ किया जायगा तो स्वभावनिष्ठ आश्रितत्व में व्याप्ति-लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। यदि स्वाभाविक का अर्थ अनौपाधिक किया जायगा तो अनौपाधिकः सम्बन्धो व्याप्तिः" में बताये गये दोषों से यह ग्रस्त होगा।

(१०) **"अविनाभावो व्याप्तिः"।**

"न विनाभावः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार अविनाभाव शब्द के दो अर्थ होते हैं, एक है विना—साध्यं विना—साध्याभाववति, अभावः—भावस्य वृत्तित्वस्य अभावः, अर्थात् साध्याभाववन्निरूपित-वृत्तित्वाभाव; दूसरा अर्थ

है विना–साध्यं विना–साध्यशून्ये, अभावः–हेतोरभावः, अर्थात् साध्याभाव व्यापकाभाव का प्रतियोगित्व। इनमें दोनों ही अर्थों में अविनाभाव को व्याप्ति मानने में चिन्तामणिकार ने अपनी असहमति प्रकट की है, क्योंकि "वाच्यं ज्ञेयत्वात्" आदि केवलान्वयि-साध्यक-स्थलों में साध्याभाव की अप्रसिद्धि होने से व्याप्ति की अनुपपत्ति होगी।

(११) **"सम्बन्धमात्रं व्याप्तिः"।**

सम्बन्धमात्र व्याप्ति है। सम्बन्ध में कोई विशेषण नहीं है। यदि कहा जाय कि सम्बन्धमात्र को व्याप्ति मानने पर वह्निनिष्ठ धूमसामानाधिकरण्य भी वह्नि के साथ धूम का सम्बन्ध होने से व्याप्ति हो जायगा, तो इसका उत्तर यह है कि इसमें कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि वह्निनिष्ठ धूमसामानाधिकरण्य भी द्रव्यत्व रूप से धूम की वह्निनिष्ठ व्याप्ति ही है। उसमें धूमत्व रूप से भी धूम के व्याप्तित्व की आपत्ति होगी, यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह सामान्यतः व्याप्ति-सामान्य का लक्षण है, अतः उससे व्याप्ति-विशेषरूपता की आपत्ति नहीं हो सकती। धूमत्व रूप से धूम की व्याप्ति तो हेतुव्यापकतावच्छेदक-धूमत्व से अवच्छिन्न धूम का सामानाधिकरण्य होगा, जो वह्नि को हेतु बनाने पर सम्भव नहीं है, क्योंकि वह्नि के अधिकरण तप्त अयःपिण्ड में धूम का अभाव होने से धूमत्व हेतु-वह्नि का व्यापकतावच्छेदक नहीं है।

चिन्तामणिकार ने 'सम्बन्धमात्र' को व्याप्तिसामान्य का भी लक्षण मानना अस्वीकार कर दिया है। उनका कहना है कि "अनुमितिहेतुव्याप्तिज्ञाने का व्याप्तिः", इस जिज्ञासा के अनुसार अनुमितिजनक परामर्श के विषयीभूत व्याप्ति का निरूपण प्रक्रान्त है। अतः इस बीच व्याप्ति का ऐसा लक्षण बताना जो अनुमिति के अनुकूल नहीं है, अर्थान्तरग्रस्त है; "सम्बन्धमात्रं व्याप्तिः"—व्याप्ति का ऐसा ही स्वरूप है जिसका ज्ञान होने पर अनुमिति का होना मान्य नहीं है, क्योंकि सम्बन्धमात्र का ज्ञान हेतु में साध्य का व्यभिचार ज्ञान रहने पर भी हो जाता है जब कि अनुमिति का होना किसी को अभिमत नहीं है।

"सम्बन्धमात्रं व्याप्तिः" इस लक्षण को व्याप्ति-पद के प्रवृत्ति-निमित्त का भी लक्षण नहीं माना जा सकता, क्योंकि सम्बन्धमात्र का ज्ञान होने पर सम्बन्ध को व्याप्ति-पद से तथा सम्बन्ध के आश्रय को व्याप्य-पद से व्यवहृत नहीं किया जाता।

(१२) चिन्तामणिकार ने एक इस पक्ष की भी आलोचना की है कि केवलान्वयिसाध्यक "वाच्यं ज्ञेयत्वात्" इत्यादि स्थलों के लिए हेतु में केवलान्वयी धर्म का सम्बन्धमात्र व्याप्ति है और व्यतिरेकी वह्नि आदि साध्यक-स्थल में "साध्यवदन्यावृत्तित्व" व्याप्ति है। पूर्व व्याप्ति का ज्ञान केवलान्वयी साध्य की अनुमिति के प्रति कारण है और दूसरी व्याप्ति का ज्ञान व्यतिरेकी वह्नि आदि साध्यक अनुमिति का कारण है, अतः केवलान्वयिसाध्यक स्थल में साध्यवदन्यत्व की प्रसिद्धि न होने पर भी कोई क्षति नहीं है।

प्रश्न होता है कि उक्त दोनों व्याप्तियों का ज्ञान अलग-अलग दो विशेष अनुमितियों का कारण है तो अनुमिति-सामान्य का जन्म कैसे होगा, अर्थात् अनुमितित्व का प्रयोजक क्या होगा? अनुमितित्व यतः अनुमित्यात्मक कार्यमात्र का धर्म है, अतः उसे किसी कारण से प्रयुक्त होना आवश्यक है, अन्यथा प्रयोजक-निरपेक्ष होने पर प्रत्यक्ष आदि में भी अनुमितित्व की आपत्ति होगी। इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि अनुमिति सामान्य के प्रति पक्षधर्मता—पक्ष के साथ हेतुसम्बन्ध का ज्ञान कारण है, अतः पक्षधर्मता से प्रयुक्त होने के कारण प्रत्यक्ष आदि में अनुमितित्व की आपत्ति न होकर अनुमितिमात्र में उसकी विश्रान्ति होगी।

चिन्तामणिकार ने इस पक्ष को भी मान्यता नहीं दी है। उन्होंने दूसरी व्याप्ति में यह त्रुटि वतायी है कि वह्निमत् पर्वत से अन्य महानस में रहने से धूम में वह्निमदन्यावृत्तित्व की अव्याप्ति होगी।

साध्य-साधनघटित सभी व्याप्ति-लक्षणों के सम्बन्ध में चिन्तामणिकार की यह समीक्षा है कि व्याप्ति-लक्षण को सभी स्थलों में अनुगत बनाने की दृष्टि से उसमें साध्य, साधन का साध्यत्व साधनत्व रूप से ही प्रवेश करना होगा, क्योंकि वह्नित्व, धूमत्व आदि विशेष रूप से साध्य, साधन का प्रवेश करने पर साध्य, साधनभेद से लक्षण अननुगत हो जायगा और साध्यत्व, साधनत्व रूप से साध्य, साधन का प्रवेश करने पर यह संकट होगा कि यतः साध्यत्व अनुमिति-विधेयत्व रूप है और साधनत्व अनुमितिकरणत्व रूप है और अनुमिति के लक्षण में व्याप्ति का प्रवेश है, अतः व्याप्ति के ज्ञान में व्याप्ति-ज्ञान की ही अपेक्षा हो जाने से आत्माश्रय होना अनिवार्य है।

व्याप्ति का सिद्धान्त-लक्षण

उक्त लक्षणों को सदोष बताने के बाद चिन्तामणिकार ने व्याप्ति का सिद्धान्त-लक्षण प्रस्तुत किया है जो निम्न प्रकार है—

"प्रतियोग्यसमानाधिकरणयत्समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नं यन्न भवति तेन समं तस्य सामानाधिकरण्यं व्याप्तिः"।

इस लक्षण-वाक्य में 'तेन' और 'तस्य' इन दो शब्दों का सम्बन्ध सामानाधिकरण्य शब्द के साथ तो है ही, व्याप्ति-पद के साथ भी है, अतः "तेन तस्य व्याप्तिः" इतना भाग लक्ष्य का बोधक है और शेष पूरा जिसमें 'तेन' 'तस्य' ये दोनों शब्द भी हैं लक्षण का बोधक है।

"यत्समानाधिकरण" में 'यत्' पद हेतु का बोधक है, अतः उसका अर्थ है हेतुसमानाधिकरण, 'यन्न' में 'यत्' पद का अर्थ है साध्य; उसके बाद सुन पड़ने वाला 'न' पद का 'यत्' पद के पूर्व में होना अभीष्ट है, 'तेन' का अर्थ है 'साध्येन', 'तस्य' का अर्थ है 'साध्यस्य'।

लक्ष्य-बोधक-भाग में रहने की स्थिति में 'तेन' का अर्थ है 'तत्साध्यक' और 'तस्य' का अर्थ है 'तद्धेतुक'। लक्षण-बोधक-भाग में रहने की स्थिति में 'तेन' का अर्थ 'तन्निरूपित'—साध्यनिरूपित और 'तस्य' का अर्थ है 'तन्निष्ठ'–हेतुनिष्ठ; दोनों का अन्वय है सामानाधिकरण्य के साथ। प्रतियोग्यसमानाधिकरण का अर्थ है स्वप्रतियोगी का असमानाधिकरण।

उक्त योजना और शब्दार्थ-निर्देश के अनुसार उक्त वाक्य का अर्थ है—

स्वप्रतियोगी के असमानाधिकरण, हेतुसमानाधिकरण अभाव के प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न से भिन्न साध्य का हेतुनिष्ठ-सामानाधिकरण्य हेतु में साध्य की व्याप्ति है।

"वह्निमान् धूमात्" इस स्थल में हेतु धूम के अधिकरण वह्नि का अभाव अपने प्रतियोगी वह्नि का असमानाधिकरण होकर नहीं रहता, किन्तु घट, पट आदि का अभाव रहता है। अतः स्वप्रतियोगी के असमानाधिकरण हेतु-समानाधिकरण घटाद्यभाव के प्रतियोगितावच्छेदक घटत्वादि से अवच्छिन्न घटादि से भिन्न वह्नि का धूमनिष्ठ-सामानाधिकरण्य धूम में वह्नि की व्याप्ति है। इस व्याप्ति से विशिष्ट धूम का ज्ञान पर्वत में होने पर "पर्वतो वह्निमान्" इस प्रकार पर्वत में वह्नि की अनुमिति होती है।

इस लक्षण में साध्याभाव, साध्यवद्भेद, साध्यानधिकरणत्व आदि का प्रवेश न होने से "वाच्यं ज्ञेयत्वात्" आदि केवलान्वयिसाध्यक-स्थलों में केवलान्वयी साध्यों की व्याप्ति में कोई बाधा नहीं है।

"धूमवान् वह्नेः" इस स्थल में हेतु वह्नि के अधिकरण तप्त अयःपिण्ड में धूमाभाव अपने प्रतियोगी धूम का असमानाधिकरण होकर रहता है। साध्य धूम उस अभाव के प्रतियोगितावच्छेदक धूमत्व से अवच्छिन्न हो जाने से स्वप्रतियोगी के असमानाधिकरण हेतुसमानाधिकरण अभाव के प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न से भिन्न नहीं होता, अतः वह्निनिष्ठ-धूम-सामानाधिकरण्य को वह्नि में धूम की व्याप्ति नहीं माना जाता।

दीधितिकार रघुनाथ ने इस लक्षण में यह दोष देखा कि "वह्निमान् धूमात्" इस स्थल में यह लक्षण अव्याप्ति से ग्रस्त हो जाता है, क्योंकि जिस धूम के अधिकरण में जो वह्नि नहीं रहता, उस वह्नि का अभाव उस धूम के अधिकरण में स्वप्रतियोगी का असमानाधिकरण होकर रहता है और वह उस अभाव के प्रतियोगितावच्छेदक तत्तद् वह्नित्व से अवच्छिन्न हो जाता है। इस प्रकार सभी वह्नि के स्वप्रतियोगी के असमानाधिकरण हेतुसमानाधिकरण अभाव के प्रतियोगितावच्छेदक से अवच्छिन्न हो जाने के कारण साध्य वह्नि स्वप्रतियोगी के असमानाधिकरण हेतु-समानाधिकरण अभाव के प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न से भिन्न नहीं होता।

इसलिए उन्होंने इस लक्षण की व्याख्या करने के लिए "यन्न" में 'यत्' पद को साध्यतावच्छेदक विशिष्ट पद का बोधक और "प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न" में 'अवच्छेदक' पद को अवच्छेदकत्वबोधक एवं 'अवच्छिन्न' पद को आश्रय का बोधक मानकर यत्-पदार्थ के एकदेश साध्यतावच्छेदक में स्वप्रतियोग्यसमानाधिकरण-हेतुसमानाधिकरण अभाव के प्रतियोगितावच्छेदकत्वाश्रय—प्रतियोगितावच्छेदक के भेद का निवेश कर लक्षण का निम्न रूप प्रस्तुत किया—

स्वप्रतियोग्यसमानाधिकरण-हेतुसमानाधिकरण अभाव के प्रतियोगितावच्छेदक से भिन्न साध्यतावच्छेदक से विशिष्ट साध्य का हेतुनिष्ठ-सामानाधिकरण्य हेतु में साध्य की व्याप्ति है।

लक्षण का यह स्वरूप प्रस्तुत होने पर "वह्निमान् धूमात्" इस स्थल में अव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि धूम के अधिकरण में वह्न्यभाव नहीं

मिलता। मिलता है तत्तद् वह्नि का अभाव और घट, पट आदि का अभाव। साध्यतावच्छेदक-वह्नित्व इन अभावों के प्रतियोगितावच्छेदक तत्तद् वह्नित्व, घटत्व पटत्व आदि से भिन्न हो जाता है।

लक्षण में स्वप्रतियोग्यसमानाधिकरण को यदि अभाव के विशेषण रूप में न प्रविष्ट किया जायगा तो "कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वात्" इस स्थल में हेतु के अधिकरण एतद्वृक्ष में मूल देश में कपिसंयोगाभाव के रहने से कपिसंयोगत्व रूप साध्यतावच्छेदक हेतु-समानाधिकरण अभाव का प्रतियोगितानवच्छेदक न हो सकेगा, फलतः इस स्थल में लक्षण अव्याप्त हो जायगा, स्वप्रतियोग्यसमानाधिकरण विशेषण देने पर यह दोष नहीं होगा, क्योंकि एतद्वृक्ष में शाखा में कपिसंयोग के रहने से कपिसंयोगाभाव स्वप्रतियोगी का असमानाधिकरण न होगा, किन्तु घट आदि का अभाव होगा; साध्यतावच्छेदक कपिसंयोगत्व के उन अभावों के प्रतियोगितावच्छेदक से भिन्न होने के कारण उक्त दोष सम्भव न होगा।

दीधितिकार ने आगे चलकर इस लक्षण के सम्बन्ध में और विचार किया, जैसे स्वप्रतियोगी के असमानाधिकरण का स्वप्रतियोगी के अधिकरण में अवृत्ति अर्थ करने पर "कपिसंयोगी सत्त्वात्" इस स्थल में गुण, कर्म में कपिसंयोग के व्यभिचारी 'सत्ता' में कपिसंयोग की व्याप्ति की आपत्ति होगी, क्योंकि स्वप्रतियोगी कपिसंयोग के अधिकरण वृक्ष में वृत्ति होने से कपिसंयोगाभाव स्वप्रतियोगी का असमानाधिकरण हेतुसमानाधिकरण अभाव न होगा, किन्तु घट आदि का अभाव होगा। कपिसंयोगत्व उन अभावों के प्रतियोगितावच्छेदक से भिन्न हो जाता है। यदि इस दोष के परिहारार्थ स्वप्रतियोग्यसमानाधिकरण शब्द का अर्थ स्वप्रतियोगी के अनधिकरण में वृत्ति किया जायगा, तो "कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वात्" इस स्थल में अव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि हेतुसमानाधिकरण कपिसंयोगाभाव अपने प्रतियोगी कपिसंयोग के अनधिकरण गुण आदि में रहता है, अतः साध्यतावच्छेदक कपिसंयोगत्व स्वप्रतियोग्यसमानाधिकरण हेतु-समानाधिकरण अभाव का प्रतियोगितानवच्छेदक न हो सकेगा।

इसलिए दीधितिकार ने स्वप्रतियोग्यसमानाधिकरण हेतुसमानाधिकरण अभाव का स्वप्रतियोगी के अनधिकरण हेत्वधिकरण में वृत्ति-अभाव अर्थ करके उक्त दोष का निराकरण कर दिया।

यह अर्थ करने के बाद दीधितिकार ने यह प्रश्न उठाया कि स्वप्रतियोग्यनधिकरण का क्या अर्थ होगा ? यदि स्वप्रतियोगी यत्किञ्चित् का अनधिकरण होगा तो "कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वात्" इस स्थल में कपिसंयोगाभाव भी मिल जायगा, क्योंकि हेत्वधिकरण एतद्वृक्ष उसके यत्किञ्चित् प्रतियोगी एतद्वृक्षावृत्ति कपिसंयोग का अनधिकरण है।

यदि स्वप्रतियोगिसामान्य का अनधिकरण अर्थ किया जायगा तो संयोगसामान्याभाव द्रव्य में अवृत्ति होता है इस मत के अनुसार संयोगसामान्याभाव के व्यभिचारी सत्ता हेतु में संयोग-सामान्याभाव की व्याप्ति की अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि संयोगसामान्याभाव का अभाव संयोगसामान्य-स्वरूप होने से कपिसंयोग-स्वरूप भी है, अतः कपिसंयोग-स्वरूप कपिसंयोगाभावाभाव का प्रतियोगी कपिसंयोगाभाव भी संयोगसामान्याभावाभाव के प्रतियोगिसामान्य के अन्तर्गत होगा और वह हेत्वधिकरण में रहता है; अतः संयोगसामान्याभावाभाव स्वप्रतियोगिसामान्य के अनधिकरण हेत्वधिकरण में वृत्ति अभाव न होगा, किन्तु घटाधिकरणत्व आदि का अभाव होगा; अतः संयोगसामान्याभावत्व-रूप साध्यतावच्छेदक के स्वप्रतियोग्यनधिकरण-हेत्वधिकरणवृत्ति अभाव का प्रतियोगितानवच्छेदक होने से सत्ता में संयोगसामान्याभाव की व्याप्ति का अतिप्रसङ्ग दुर्वार है।

यदि स्वप्रतियोगितावच्छेदक यत्किञ्चिद्धर्मावच्छिन्न-सामान्य का अनधिकरण अर्थ किया जायगा तो "कपिसंयोगाभाववान् आत्मत्वात्" इस स्थल में आत्मा में कपिजन्म के पूर्व कपिसंयोगाभाव के रहने से और कपिकाल में भी कपिशून्यदेशावच्छेदेन कपिसंयोगाभाव के रहने से कपिसंयोगाभाव के व्याप्य आत्मत्व में कपिसंयोगाभाव की व्याप्ति की अव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि कपिसंयोगस्वरूप कपिसंयोगाभावाभाव के गुणसामान्य के अन्तर्गत आने से गुणसामान्यस्वरूप गुणसामान्याभावाभाव का प्रतियोगितावच्छेदक गुणसामान्याभावत्व भी कपिसंयोगाभावाभाव का प्रतियोगितावच्छेदक होगा; अतः कपिसंयोगाभावाभाव अपने यत्किञ्चित् प्रतियोगितावच्छेदक गुणसामान्याभावत्वावच्छिन्न के अनधिकरण हेत्वधिकरण आत्मा में वृत्ति होगा, फलतः साध्यतावच्छेदक कपिसंयोगाभावत्व के उसका प्रतियोगितावच्छेदक होने से उक्त दोष की आपत्ति अनिवार्य है।

इन आपत्तियों के निराकरण के लिए दीधितिकार ने लक्षण का निम्न रूप प्रस्तुत किया—

हेतु का अधिकरण यादृश-प्रतियोगिता—जिस अभाव की जिस प्रतियोगिता के अवच्छेदकावच्छिन्न-सामान्य का अनधिकरण हो, तादृश-प्रतियोगिता—उस अभाव की उस प्रतियोगिता के अनवच्छेदक साध्यतावच्छेदक से अवच्छिन्न साध्य का सामानाधिकरण्य।

लक्षण का ऐसा स्वरूप प्रस्तुत हो जाने पर उक्त दोषों को अवसर नहीं मिल पाता, जैसे "कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वात्" इस स्थल में एतद्वृक्ष कपिसंयोगाभाव की प्रतियोगिता के अवच्छेदक कपिसंयोगत्वावच्छिन्न का अनधिकरण नहीं होता, किन्तु घटाभाव की प्रतियोगिता के अवच्छेदक घटत्व से अवच्छिन्न का अनधिकरण होता है, साध्यतावच्छेदक कपिसंयोगत्व उस अभाव की प्रतियोगिता का अनवच्छेदक हो जाता है।

"संयोगाभाववान् सत्त्वात्" इस स्थल में अतिव्याप्ति भी नहीं होगी, क्योंकि हेत्वधिकरण द्रव्य साध्याभावसंयोग सामान्याभावाभाव की संयोग-सामान्याभावनिष्ठ-प्रतियोगिता के अवच्छेदक संयोगसामान्याभावत्वावच्छिन्न का अनधिकरण है और साध्यतावच्छेदक संयोगसामान्याभावत्व साध्याभाव की साध्यनिष्ठ प्रतियोगिता का अवच्छेदक ही है, अनवच्छेदक नहीं है।

"कपिसंयोगाभाववान् आत्मत्वात्" इस स्थल में अव्याप्ति भी नहीं होगी, क्योंकि हेत्वधिकरण आत्मा साध्याभाव की साध्यनिष्ठ-प्रतियोगिता के अवच्छेदक कपिसंयोगाभावत्वावच्छिन्न का अधिकरण है, अनधिकरण है साध्याभाव की गुणसामान्याभावनिष्ठ-प्रतियोगिता के अवच्छेदक गुण-सामान्याभावत्वावच्छिन्न का; अतः साध्यतावच्छेदक कपिसंयोगाभावत्व के उस प्रतियोगिता के अनवच्छेदक होने से उक्त अव्याप्ति को कोई अवकाश नहीं है।

दीधितिकार ने और आगे यह प्रश्न उठाया कि लक्षण में हेत्वधिकरण में प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नानधिकरणत्व साध्यतावच्छेदक सम्बन्ध से ही कहना होगा, अन्यथा यत्किञ्चित् सम्बन्ध से प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नानधिकरणत्व का निवेश करने पर "वह्निमान् धूमात्" इस स्थल में अव्याप्ति होगी, क्योंकि धूमाधिकरण पर्वत आदि समवाय

सम्बन्ध से वह्न्यभाव के प्रतियोगितावच्छेदक वह्नित्वावच्छिन्न का अनधिकरण है, अतः उस अभाव के भी लक्षण-घटक होने से साध्यता-वच्छेदक-वह्नित्व के उस अभाव का प्रतियोगितावच्छेदक होने से अव्याप्ति दुर्वार है। यदि इस दोष के भय से सम्बन्ध-सामान्य से प्रतियोगिता-वच्छेदकावच्छिन्नानधिकरणत्व का प्रवेश किया जायगा और धूमाधिकरण तत्पर्वत में तत्पर्वत के असमानकालीन तद्घट के किसी सम्बन्ध से न रहने के कारण तद्घटाभाव को लेकर लक्षण समन्वय किया जायगा तो "धूमवान् वह्नेः" इस स्थल में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि वह्नि का अधि-करण तप्त अयःपिण्ड आदि धूमाभाव के प्रतियोगितावच्छेदक धूमत्व से अवच्छिन्न धूम का कालिक-सम्बन्ध से अधिकरण होने से धूमाभाव लक्षण-घटक न होगा, किन्तु वह्नि के अधिकरण तत् तप्त अयःपिण्ड में उसके असमानकालीन तद्घट का अभाव ही लक्षण-घटक होगा, जिसका साध्यतावच्छेदक धूमत्व प्रतियोगितानवच्छेदक हो जायगा।

ऐसी स्थिति में "घटवान् महाकालत्वात्" इस स्थल में कालिक-सम्बन्ध से घट के व्याप्य महाकालत्व में व्याप्ति-लक्षण की अव्याप्ति होगी, क्योंकि हेत्वधिकरण महाकाल साध्यतावच्छेदक कालिक-सम्बन्ध सारे जगत् का अधिकरण है, अतः वहाँ ऐसा कोई अभाव ही नहीं मिलेगा महाकाल जिसके प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न का कालिक-सम्बन्ध से अनधिकरण हो।

इस आपत्ति का निराकरण दीधितिकार ने लक्षण के निम्न स्वरूप से सम्पन्न किया—

साध्यतावच्छेदक सम्बन्ध-सामान्य में जिस अभाव की जिस प्रति-योगिता के अवच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिकत्व और यत्किञ्चिद्हेत्वधि-करणानुयोगिकत्व इस उभय का अभाव हो, उस अभाव की उस प्रति-योगिता के अनवच्छेदक साध्यतावच्छेदक से अवच्छिन्न साध्य का सामानाधिकरण्य।

लक्षण का यह स्वरूप बन जाने पर "घटवान् महाकालत्वात्" इस स्थल में गगनाभाव को लेकर अव्याप्ति का परिहार हो जायगा। कहने का आशय यह है कि गगन अवृत्ति होने से कालिक-सम्बन्ध से भी कहीं नहीं रहता, अतः कालिक-सम्बन्ध गगन-प्रतियोगिक नहीं होता; इसलिए साध्यतावच्छेदक कालिक-सम्बन्ध में महाकालानुयोगिकत्व होने पर भी

गगनप्रतियोगिकत्व न होने से उसमें गगनाभावप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न गगन-प्रतियोगिकत्व और महाकालानुयोगिकत्व इस उभय का अभाव होने से गगनाभाव लक्षण-घटक होगा और साध्यतावच्छेदक-घटत्व उसकी प्रतियोगिता का अनवच्छेदक होगा, अतः उक्त अव्याप्ति निरवकाश है।

"गगनं सर्वदा अस्ति"—गगन सभी काल में रहता है, इस प्रतीति से यदि गगन को कालिक-सम्बन्ध से काल में वृत्ति माना जाय तो कालिक-सम्बन्ध में गगनाभावप्रतियोगिप्रतियोगिकत्व और महाकालानुयोगिकत्व दोनों के रह जाने से गगनाभाव को लेकर "घटवान् महाकालत्वात्" इस स्थल में व्याप्ति की उपपत्ति नहीं हो सकती, अतः दीधितिकार ने व्याप्ति-लक्षण को निम्न रीति से पुनः दूसरे रूप में प्रस्तुत किया :—

स्वप्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध से स्वप्रतियोग्यनधिकरण हेत्वधिकरणवृत्ति अभाव की समस्त प्रतियोगिताओं में यत्सम्बन्धावच्छिन्नत्व और यद्धर्मावच्छिन्नत्व इस उभय का अभाव हो, तत्सम्बन्ध से तद्धर्मावच्छिन्न का सामानाधिकरण्य व्याप्ति है।

यत्सम्बन्धावच्छिन्नत्व का अर्थ है साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नत्व और यद्धर्मावच्छिन्नत्व का अर्थ है साध्यतावच्छेदकधर्मावच्छिन्नत्व। सद्धेतु-स्थल में साध्यतावच्छेदक-सम्बन्ध से साध्य का अभाव नहीं मिलेगा, इसलिए प्रतियोग्यनधिकरण-हेत्वधिकरण-वृत्ति अभाव के प्रतियोगिता-सामान्य में साध्यतावच्छेदक-सम्बन्धावच्छिन्नत्व साध्यतावच्छेदक-धर्मावच्छिन्नत्व इन दोनों का अभाव होने से लक्षण समन्वय होगा।

"घटवान् महाकालत्वात्" इस स्थल में हेत्वधिकरण में समवाय सम्बन्ध से घटाभाव के रहने से उसे लेकर लक्षण समन्वय होगा।

दीधितिकार की दृष्टि में इस लक्षण में पुनः एक भारी त्रुटि आई, वह यह कि लघु धर्म में प्रतियोगितावच्छेदकत्व सम्भव होने पर गुरु-धर्म अभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक नहीं होता। इस मत में "प्रमेय-धूमवान् वह्नेः" इस गुरुधर्मावच्छिन्न साध्यक-स्थल में व्यभिचारी हेतु में उक्त व्याप्ति-लक्षण की अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि साध्यतावच्छेदक प्रमेय धूमत्व हेतुसमानाधिकरण अभाव की प्रतियोगिता का अनवच्छेदक हो जायगा, एवं व्याप्ति के उक्त निष्कृष्ट लक्षण की भी "प्रमेयवह्निमान् धूमात्" इस स्थल में अव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि प्रमेय-वह्नित्व वह्नित्व की

अपेक्षा गुरु है, अतः उसके प्रतियोगितावच्छेदक न होने से प्रमेयवह्नित्वावच्छिन्नत्व की किसी भी प्रतियोगिता में न रहने के नाते प्रमेयवह्नित्वावच्छिन्नत्व साध्यतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्नत्व उभयाभाव अप्रसिद्ध है।

दीधितिकार ने इस दोष का निराकरण दो बातों के आधार पर किया—एक यह कि उक्त व्याप्ति-लक्षण में प्रतियोगिता के स्वरूप-सम्बन्धविशेषरूप अवच्छेदकता का प्रवेश न कर अनतिरिक्त वृत्तित्वरूप अवच्छेदकता का प्रवेश कर लक्षण में साध्यतावच्छेदक में हेतुसमानाधिकरणाभाव प्रतियोगितानतिरिक्त वृत्ति के भेद का निवेश किया जाय। ऐसा करने पर प्रमेय धूमत्व आदि गुरु-धर्म के भी हेतुसमानाधिकरणाभाव की प्रतियोगिता का अनतिरिक्त वृत्ति होने से उक्त दोषों की प्रसक्ति न होगी।

दूसरी बात यह कि घट-शून्य देश में "अत्र कम्बुग्रीवादिमान् नास्ति" इस प्रतीति से गुरु-धर्म में भी अभाव की प्रतियोगिता की स्वरूपसम्बन्धविशेषरूप अवच्छेदकता सिद्ध होती है, क्योंकि यह नहीं कहा जा सकता कि उक्त प्रतीति अभाव में कम्बुग्रीवादिमत्त्व से विशिष्ट प्रतियोगी के वैशिष्ट्य को विषय नहीं करती, अपितु कम्बुग्रीवादिमत्त्व से उपलक्षित घट के विशेषाभाव—तत्तद् घटाभाव को विषय करती है, क्योंकि ऐसा मानने पर यत्किञ्चिद् घट के रहते हुए भी "अत्र कम्बुग्रीवादिमान् नास्ति"—यहाँ कम्बुग्रीवादिमान् नहीं है ऐसी प्रतीति की आपत्ति होगी, यदि उसे कम्बुग्रीवादिमत्त्व से उपलक्षित घट के सम्पूर्ण विशेषाभाव का ग्राहक मान कर इस आपत्ति का निराकरण किया जाय तो यह भी उचित नहीं हो सकता, क्योंकि "कम्बुग्रीवादिमान् नास्ति" इस शब्द से जन्य प्रतीति में नञ् के अर्थ अभाव में प्रतियोगी का भान और प्रतियोगी में उपलक्षणविधया कम्बुग्रीवादिमत्त्व का भान होने पर कम्बुग्रीवादिमत् प्रतियोगिक अभाव का ही भान हो सकता है, न कि समग्र तत्तद् घटाभाव का, क्योंकि उसके भान का कोई प्रयोजक नहीं है। अतः घटवान् देश में भी उक्त शब्द के प्रयोग के प्रामाण्य की आपत्ति होना अनिवार्य है।

साध्यतावच्छेदक में हेतुसमानाधिकरण अभाव की प्रतियोगिता के अनवच्छेदकत्व के प्रवेश को लेकर यह प्रश्न उठता है कि "धूमवान् वह्नेः" इस स्थल में व्याप्ति-लक्षण की अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि धूमत्व वह्निसमानाधिकरण अभाव की प्रतियोगिता का अनवच्छेदक हो जायगा।

इसका कारण यह है कि "तत्तद्धूमो नास्ति" इस प्रतीति से तत्तद्-धूमाभाव सिद्ध है। फिर उसी के समूह से 'धूमो नास्ति' इस प्रतीति की उपपत्ति हो जाने से धूम-सामान्याभाव का अस्तित्व निराधार है।

चिन्तामणिकार ने इस प्रश्न का उत्तर यह कह कर दिया कि यदि विशेषाभाव कूट से भिन्न सामान्याभाव न माना जायगा तो वायु में रूप का संशय न होगा, क्योंकि जितने रूप प्रसिद्ध हैं उन सबमें प्रत्येक का अभाव वायु में निश्चित है; अतः रूप और तत्तद्-रूपाभाव कूट को लेकर रूप के संशय की उपपत्ति नहीं की जा सकती, क्योंकि संशय की दो कोटियों में एक कोटि का निश्चय संशय का विरीधी होता है। और रूप सामान्याभाव का स्वतन्त्र अस्तित्व मानने पर तत्तद्-रूपाभाव कूट का निश्चय होने पर भी रूपसामान्याभाव का निश्चय न होने से रूप और सामान्याभाव इन दो कोटियों को लेकर वायु में रूप-संशय की उपपत्ति हो सकती है

यदि यह कहा जाय कि रूप-सामान्याभाव का स्वतन्त्र अस्तित्व न मान कर तत्तद्-रूपाभाव कूट में रूपत्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताकत्व की कल्पना कर यह कहा जा सकता है कि वायु में तत्तद्-रूपाभाव कूट का तत्तद्-रूपाभावत्वेन निश्चय होने पर भी रूपत्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताकत्व रूप से उसका निश्चय न होने से रूप तथा रूपत्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताकत्वेन तत्तद्-रूपाभाव कूट को लेकर वायु में रूप-संशय की उपपत्ति की जा सकती है तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि अनन्त तत्तद्-रूपाभाव में रूपत्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताकत्व की कल्पना की अपेक्षा एक अभाव में रूपत्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताकत्व की कल्पना में लाघव है।

दीधितिकार ने इस पर अपना विचार प्रकट कहते हुए कहा है कि धूम-शून्य-देश में "धूमो नास्ति" इस प्रतीति के आधार पर धूमाभाव का अस्तित्व स्वीकार करना आवश्यक है, अन्यथा उस प्रतीति की विषयता अनन्त तत्तद्धूमाभाव में मानने पर गौरव होगा और जब धूमाभाव हेतुसमानाधिकरण अभाव के रूप में मिल जायगा तब धूमत्व के उसकी प्रतियोगिता का अवच्छेदक हो जाने से "धूमवान् वह्नेः" इस स्थल में अतिव्याप्ति न होगी।

व्याप्ति के सिद्धान्त-लक्षण को प्रस्तुत करने के बाद चिन्तामणिकार ने कुछ विशेष व्याप्तियों को प्रस्तुत किया है, जैसे—

(१) "प्रतियोगिव्यधिकरणस्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगिना सामानाधिकरण्यम्"।

अपने प्रतियोगी के व्यधिकरण, हेतुसमानाधिकरण अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी से भिन्न साध्य का सामानाधिकरण्य व्याप्ति है। यह धूम-सामान्य में वह्नि-सामान्य की व्याप्ति न होकर तत्तद्-धूम में तत्तद्-वह्नि की व्याप्ति होने से विशेष व्याप्ति है और तत्तद्-धूम के अधिकरण में तत्तद्-वह्नि का अभाव न होने से इसकी उपपत्ति होती है, जैसे हेतु-तत्तद् धूम के अधिकरण में वृत्ति और अपने प्रतियोगी का व्यधिकरण अभाव तत्तद्-वह्नि का अभाव नहीं है, क्योंकि तत्तद्-धूम के अधिकरण में तत्तद्-वह्नि रहता है, किन्तु घट आदि अभाव है। उसके प्रतियोगी घट आदि से तत्तद्-वह्नि भिन्न है और उसका सामानाधिकरण्य उसके साथ एक अधिकरण में तत्तद्-धूम का वृत्तित्व है।

यह विशेष व्याप्ति ही एक-एक कर सभी धूम में सभी वह्नि का होने से धूम-सामान्य में वह्नि-सामान्य की व्याप्ति कही जाती है। वास्तव में विशेष व्याप्ति से भिन्न कोई सामान्य व्याप्ति नहीं है।

(२) "यत्समानाधिकरणान्योन्याभावप्रतियोगियद्वन्न भवति तेन समं तस्य सामानाधिकरण्यम्"।

'यत्समानाधिकरण' का अर्थ है हेतु-समानाधिकरण; 'यद्वत्' का अर्थ है साध्यवत्; 'तेन' का अर्थ है साध्येन; 'तस्य' का अर्थ है हेतोः। पूरे लक्षण का अर्थ है साध्यवान् हेतु के अधिकरण में वृत्ति अन्योन्याभाव का यदि प्रतियोगी न हो तो हेतुनिष्ठ-साध्य का सामानाधिकरण्य व्याप्ति होता है। अन्य शब्दों में इसका अर्थ है हेतु के अधिकरण में वृत्ति-भेद की प्रतियोगिता के अनवच्छेदक साध्य का हेतुनिष्ठ-सामानाधिकरण्य व्याप्ति है। "वह्निमान् धूमात्" इस स्थल में हेतु-तत्तद्धूम के अधिकरण में तत्तद्-वह्निमान् का भेद नहीं रहता, अतः तत्तद्-धूम के अधिकरण में विद्यमान 'घटवान् न' 'पटवान् न' आदि अन्योन्याभाव के प्रतियोगितानवच्छेदक तत्तद्-वह्नि का तत्तद्-धूम में विद्यमान सामानाधिकरण्य धूम में वह्नि की व्याप्ति है।

(३) "यत्समानाधिकरणान्योन्याभावाप्रतियोगियद्वत्कत्वं व्याप्तिः"।

यद्वान्—साध्यवान् यदि हेतु के अधिकरण में वृत्ति अन्योन्याभाव का प्रतियोगी न हो, अर्थात् साध्य यदि हेतु के अधिकरण में वृत्ति-भेद की प्रतियोगिता का अनवच्छेदक हो तो हेतु साध्य का व्याप्य होता है।

"वह्निमान् धूमात्" इस स्थल में तत्तद्-धूम के अधिकरण में 'तत्तद्-वह्निमान् न' यह भेद न रहने से तत्तद्-वह्निमान् उसमें विद्यमान 'घटवान् न', 'पटवान् न' इत्यादि अन्य भेद का प्रतियोगी नहीं है, अर्थात् तत्तद्-वह्नि-रूप साध्य तत्तद्-धूम-रूप हेतु के अधिकरण में वृत्ति-भेद की प्रतियोगिता का अनवच्छेदक है, क्योंकि तत्तद्-धूम के अधिकरण में तत्तद्-वह्निमान् का भेद नहीं रहता, अतः तत्तद्-धूम में तत्तद्-वह्नि का सामानाधिकरण्य तत्तद्-धूम में तत्तद्-वह्नि की व्याप्ति है और वही धूम-सामान्य में वह्नि-सामान्य की व्याप्ति कही जाती है।

चिन्तामणिकार ने उक्त तीनों लक्षणों के सम्बन्ध में एक प्रश्न और उसका एक समाधान प्रस्तुत किया है जो ध्यान में रखने योग्य है—

पहले लक्षण के विषय में यह प्रश्न है कि हेतु धूम तत्तद्-धूम के अधिकरण में वृत्ति "वह्निह्रदौ न स्तः" इस प्रतीति से सिद्ध अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी हो जाने से साध्य हेतु समानाधिकरण अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी से भिन्न नहीं होगा, अतः धूम में वह्नि की व्याप्ति कैसे होगी।

अन्य दो लक्षणों के विषय में यह प्रश्न है कि धूम तत्तद्-धूम के अधिकरण में वृत्ति "वह्निमद्ह्रदौ न" इस प्रतीति से सिद्ध अन्योन्याभाव का वह्निमान् प्रतियोगी और वह्नि प्रतियोगितावच्छेदक हो जाता है, फिर उक्त लक्षणों के अनुसार धूम में वह्नि की व्याप्ति कैसे होगी।

समाधान यह है कि जिस स्थान में जो वस्तु नहीं रहती उस स्थान में उसी का अभाव तथा उसी के आश्रय का भेद प्रामाणिक है, न कि उस स्थान में रहने वाली वस्तु का भी न रहने वाली वस्तु के साथ अभाव और उसके आश्रय का भी उसके अनाश्रय के साथ भेद प्रामाणिक है। अतः उक्त प्रतीतियों से उक्त प्रकार के अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव की सिद्धि मान्य न होने से उक्त प्रश्नों का कोई अवसर ही नहीं है। यदि यह कहा जाय कि उक्त प्रतीतियों की विरोधी प्रतीति, जैसे धूम के अधिकरण में "अथ वह्निह्रदौ स्तः" अथवा "अयं वह्निमद् ह्रदौ" न होने से उक्त प्रतीतियों के साक्ष्य से उक्त अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव की सिद्धि अनिवार्य है तो ऐसा होने पर भी उन अभावों के कारण धूम में वह्नि-व्याप्ति की अनुपपत्ति न होगी, क्योंकि उन अभावों का प्रतियोगी वह्नि-ह्रद और वह्निमान् ह्रद उभय ही होगा, केवल वह्नि और केवल वह्निमान् उन अभावों के प्रतियोगी से भिन्न हो जायगा, क्योंकि उक्त

अभावों की प्रतियोगिता वह्नि-ह्रद और वह्निमान् ह्रद इस उभय में व्यासज्य वृत्ति है—उभय में पर्याप्त है, अतः 'उभयन्न' इस भेद के समान 'उक्ताभावप्रतियोगी न' यह भेद प्रत्येक वह्नि और वह्निमान् में अक्षुण्ण है।

(४) **"अनौपाधिकत्वं व्याप्तिः, तच्च यावत्स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नं यत्तत्प्रतियोगिकात्यन्ताभावसमानाधिकरणं यत् तेन समं सामानाधिकरण्यम्"।**

अनौपाधिकत्व व्याप्ति है। उसका अर्थ उपाध्यभाव नहीं, किन्तु पारिभाषिक है और वह है हेतुसमानाधिकरण अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी जो जो हो उस उसके अन्त्यन्ताभाव का समानाधिकरण यदि साध्य हो तो ऐसे साध्य का समानाधिकरण होना ही हेतु का अनौपाधिक होना है। यह अनौपाधिकता ही व्याप्ति है।

"वह्निमान् धूमात्" इस स्थल में तत्तद्-धूम के समानाधिकरण अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी तत्तद्-वह्नि नहीं है, किन्तु घट आदि है। तत्तद्-वह्नि उस सभी के अभाव का समानाधिकरण है और तत्तद्-धूम उसका समानाधिकरण होने से अनौपाधिक है, अतः तत्तद्-धूम तत्तद्-वह्नि का व्याप्य है।

"धूमवान् वह्नेः" इस स्थल में वह्नि अनौपाधिक नहीं है, क्योंकि तप्त अयःपिण्ड में वह्नि के समानाधिकरण आर्द्र इन्धनाभाव का प्रतियोगी आर्द्र-इन्धन है, साध्य धूम उसके अभाव का समानाधिकरण नहीं है; क्योंकि धूम का व्यापक होने से धूमाधिकरण में आर्द्र-इन्धन का अभाव नहीं रहता।

उक्त अनौपाधिकत्व को ही निम्न रूप में परिभाषित किया गया है, जैसे—

"यावत्स्वव्यभिचारिव्यभिचारिसाध्यसामानाधिकरण्यमनौपाधिकत्वम्"।

"स्वं व्यभिचारि यस्य तत् स्वव्यभिचारि, यावतः स्वव्यभिचारिणो व्यभिचारि यत् साध्यं तत् यावत्स्वव्यभिचारिव्यभिचारिसाध्यम्। एवंभूतस्य साध्यस्य सामानाधिकरण्यम्"—इस व्युत्पत्ति के अनुसार उक्त का अर्थ निम्न है—

हेतु जिस जिसका व्यभिचारी हो उस सबका यदि साध्य भी व्यभिचारी हो तो ऐसे साध्य का समानाधिकरण होना हेतु की अनौपाधिकता है।

"वह्निमान् धूमात्" इस स्थल में हेतु धूम जिस जिसका व्यभिचारी है साध्य वह्नि भी उस उसका व्यभिचारी है, क्योंकि वह्नि की अपेक्षा अल्प देश में वृत्ति धूम जिसका व्यभिचारी होगा धूम की अपेक्षा अधिक देश में रहने वाले वह्नि को भी उसका व्यभिचारी होना अनिवार्य है, अतः वह्नि का समानाधिकरण धूम अनौपाधिक है।

"धूमवान् वह्नेः" इस स्थल में वह्नि अनौपाधिक नहीं है, क्योंकि वह्नि हेतु आर्द्र-इन्धन का तप्त अयःपिण्ड में व्यभिचारी है, किन्तु साध्य धूम उसका व्यभिचारी नहीं है, क्योंकि आर्द्र-इन्धन उसका व्यापक है और कोई अपने व्यापक का व्यभिचारी नहीं होता।

अनौपाधिकत्व की एक और परिभाषा चिन्तामणिकार ने प्रस्तुत की है—

"यावद् यत्समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिप्रतियोगिकात्यन्ताभावासामानाधिकरण्यं यस्य तस्य तदेवानौपाधिकत्वम्"।

इसमें यत्समानाधिकरण का अर्थ है साध्यसमानाधिकरण; यस्य का अर्थ है हेतोः, अतः पूरे वाक्य का यह अर्थ है कि—

जो जो साध्य समानाधिकरण अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगी अर्थात् साध्य का व्यापक हो उस सबके अत्यन्ताभाव का समानाधिकरण न होना हेतु की अनौपाधिकता है।

"वह्निमान् धूमात्" इस स्थल में वह्नि के सभी व्यापकों के अत्यन्ताभाव का असमानाधिकरण होने से धूम अनौपाधिक है।

"धूमवान् वह्नेः" इस स्थल में धूम के व्यापक आर्द्र-इन्धन के अभाव का तप्त अयःपिण्ड में समानाधिकरण ही होने से वह्नि अनौपाधिक नहीं है।

(५) **"यत्सम्बन्धितावच्छेदकरूपवत्त्वं यस्य तस्य सा व्याप्तिः"।**

हेतुतावच्छेदक धर्म साध्य की जिस सम्बन्धिता का अवच्छेदक—[illegible]तिप्रसक्त हो, हेतु में साध्य की वह सम्बन्धिता व्याप्ति है।

"वह्निमान् धूमात्" इस स्थल में हेतुतावच्छेदक धूमत्व वह्नि-सामानाधिकरण्य-रूप वह्निसम्बन्धिता का अवच्छेदक है, क्योंकि धूममात्र में वह्नि का सामानाधिकरण्य है, अतः धूमनिष्ठ-वह्निसामानाधिकरण्य-रूप वह्निसम्बन्धिता धूम में वह्नि की व्याप्ति है।

"धूमवान् वह्नेः" इस स्थल में हेतुतावच्छेदक वह्नित्व धूमसामानाधिकरण्य-रूप धूमसम्बन्धिता का अवच्छेदक नहीं है, क्योंकि वह्नित्व धूम के असमानाधिकरण अयोगोलक-निष्ठ वह्नि में रहने से धूमसामानाधिकरण्य का अतिप्रसक्त है, अतः वह्निनिष्ठ-धूमसामानाधिकरण्य वह्नि में धूम की व्याप्ति नहीं है।

अनुमान में व्याप्ति की अनन्यथासिद्ध महत्ता को ध्यान में रखते हुए चिन्तामणिकार ने व्याप्ति के स्वरूप-निर्धारण में निःसीम रुचि प्रदर्शित की है जो व्याप्ति का सिद्धान्त-लक्षण और अनेक विशेष व्याप्तियों का निरूपण करने के बाद व्याप्य हेतु की अनौपाधिकता को पुष्ट करने के विचार से उपाधि के चार स्वरूपों की प्रस्तुति से विदित होती है, जो निम्न प्रकार है—

"यत्सामानाधिकरण्यावच्छेदकावच्छिन्नं यस्य स्वरूपं तत् तस्य व्याप्यम्।"

जिस हेतु का स्वरूप जिस साध्य के सामानाधिकरण्य के अवच्छेदक से अवच्छिन्न—विशिष्ट हो वह हेतु उस साध्य का व्याप्य होता है।

"वह्निमान् धूमात्" इस स्थल में धूम का स्वरूप अर्थात् स्वयं धूम वह्निसामानाधिकरण्य के अवच्छेदक धूमत्व से अवच्छिन्न है, अतः धूम वह्नि का व्याप्य है।

"धूमवान् वह्नेः" इस स्थल में हेतु वह्नि का स्वरूप अर्थात् स्वयं वह्नि धूम सामानाधिकरण्य के अवच्छेदक वह्नित्व से अवच्छिन्न नहीं है, क्योंकि तप्त-अयःपिण्ड-निष्ठ वह्नि में धूम-सामानाधिकरण्य का अतिप्रसक्त होने से वह्नित्व उसका अवच्छेदक नहीं है, किन्तु आर्द्र-इन्धन अवच्छेदक है, क्योंकि वह वह्निनिष्ठ-संयोग-सम्बन्ध से धूम-सामानाधिकरण्य का अनतिप्रसक्त है। अतः वह्निस्वरूप के धूमसामानाधिकरण्य के अवच्छेदक आर्द्र-इन्धन-रूप उपाधि से अवच्छिन्न न होने के कारण वह्नि धूम का व्याप्य नहीं है।

प्रथम अत एव

"अत एव साधनतावच्छेदकभिन्नेन येन साधनताभिमते साध्य-सम्बन्धोऽवच्छिद्यते स एव तत्र साधने विशेषणमुपाधिरिति वदन्ति"।

अव्यभिचारी हेतु ही साध्यसम्बन्धिता के अवच्छेदक हेतुतावच्छेदक से अवच्छिन्न होता है, व्यभिचार हेतु साध्यसम्बन्धिता के अवच्छेदक उपाधि से ही अवच्छिन्न होता है, यह नियम है। इसलिए हेतुतावच्छेदक से भिन्न हेतु के उस विशेषण को उपाधि कहा जाता है, जो साधन रूप में अभिमत हेतु में विद्यमान साध्यसम्बन्ध-साध्यसामानाधिकरण्य का अवच्छेदक होता है, जैसे वह्नित्व से भिन्न जन्यता-सम्बन्ध से वह्नि में विशेषण आर्द्र-इन्धन धूमसामानाधिकरण्य का अवच्छेदक होने से वह्नि में धूम का उपाधि कहा जाता है।

द्वितीय अत एव

"अत एव च साधनाव्यापकत्वे सति साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकत्वं लक्षणं ध्रुवम्"।

जो साधन—हेतु का व्यापक न हो और साधनविशिष्ट साध्य का व्यापक हो वह उपाधि है।

यदि यह लक्षण न किया जायगा तो जब मूर्तत्व-अपकृष्ट परिमाण हेतु से प्रत्यक्षत्व साध्य का अनुमान किया जायगा तब उद्भूत रूप (साध्य का व्यापक और साधन का अव्यापक उपाधि है) इस लक्षण के अनुसार उपाधि न हो सकेगा, क्योंकि प्रत्यक्षत्व के आश्रय आत्मा में उद्भूत रूप का अभाव होने से उद्भूत रूप साध्य-प्रत्यक्षत्व का व्यापक नहीं है। इसका फल यह होगा कि मूर्तत्व हेतु के प्रत्यक्षत्व रूप साध्य के सामानाधिकरण्य के अवच्छेदक उद्भूत रूप से विशिष्ट होने पर भी सोपाधि–अव्याप्य हेतु का स्वरूप साध्य सामानाधिकरण्य के अवच्छेदक उपाधि से ही अवच्छिन्न होता है, इस नियम की उपपत्ति न हो सकेगी; किन्तु उपर्युक्त द्वितीय लक्षण के अनुसार मूर्तत्व रूप साधन से विशिष्ट प्रत्यक्षत्व रूप साध्य के अधिकरण पृथिवी, जल और तेज में रहने से उद्भूत रूप भी उसका व्यापक और साधन मूर्तत्व का अव्यापक होने से उपाधि हो सकेगा। अतः मूर्तत्व हेतु के साध्य-प्रत्यक्षत्व सामानाधिकरण्य के अवच्छेदक उद्भूत रूप से अवच्छिन्न होने पर "अव्याप्य

हेतु का स्वरूप साध्य-सम्बन्ध के अवच्छेदक उपाधि से ही अवच्छिन्न होता है", इस नियम की उपपत्ति हो जायगी।

तृतीय अत एव

"अत एव च व्यभिचारे चावश्यमुपाधिरिति सङ्गच्छते"।

साध्य-सम्बन्धिता—साध्यसामानाधिकरण्य का अवच्छेदक शुद्ध हेतुतावच्छेदक ही व्याप्ति है जो अव्यभिचारी हेतु में रहती है, जैसे वह्नि सामानाधिकरण्य का अवच्छेदक हेतुतावच्छेदक धूमत्व रूप व्याप्ति वह्नि के अव्यभिचारी धूम में है, व्यभिचारी हेतु में यह व्याप्ति नहीं रहती, क्योंकि व्यभिचारी हेतु के स्थल में शुद्ध हेतुतावच्छेदक साध्यसामान्याधिकरण्य का अवच्छेदक नहीं होता, अपितु उपाधि विशिष्ट ही उसका अवच्छेदक होता है, जैसे धूमानुमान के लिए वह्नि हेतु का प्रयोग होने पर हेतुतावच्छेदक शुद्ध वह्नित्व धूम सामान्याधिकरण्य का अवच्छेदक नहीं है, किन्तु आर्द्रेन्धन विशिष्ट वह्नित्व है।

इसलिए ही "व्यभिचारे चावश्यमुपाधिः"—जहाँ व्यभिचार होता है वहाँ अवश्य उपाधि होती है, इस नियम की सङ्गति होती है, अन्यथा यदि यह नियमन होता कि व्यभिचारी हेतु स्थल में उपाधि-विशिष्ट ही हेतु-रूप-साध्य-सम्बन्धिता का अवच्छेदक होता है तो व्यभिचार से उपाधि का अनुमान न होता, क्योंकि व्यभिचार से ही हेतु अगमकत्व—अनुमापकत्व की सिद्धि हो जाने से व्यभिचार से उपाधि के अनुमान में कोई प्रयोजक अनुकूल तर्क नहीं रह जाता और उस स्थिति में 'व्यभिचारे चावश्यमुपाधिः' इस नियम की सङ्गति नहीं हो सकती।

चतुर्थं अत एव

"अत एव च तस्य साध्यसम्बन्धितावच्छेदकलक्षणाव्याप्तिः साधनाभिमते चकास्तीति स्फटिके जपाकुसुमवदुपाधिरसावुच्यते। लक्षणं तु साध्यसाधनसम्बन्धव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वम्"।

उपाधि शब्द का यौगिक अर्थ है अपने समीपवर्ती में अपने धर्म का आधान—सङ्क्रमण कराने वाला, ज्ञान कराने वाला; जपाकुसुम अपने समीपवर्ती धवल स्फटिक मणि में अपने धर्म रक्त रूप का आधान—ज्ञान कराने से उपाधि कहा जाता है। इसके अनुसार व्यभिचारी हेतु में उपाधि कहे जाने वाले पदार्थ का व्यवहारौपयिक लक्षण यही है कि

जो अपने समीपवर्ती अर्थात् अपने समानाधिकरण व्यभिचारी हेतु में अपने धर्म साध्यसम्बन्धितावच्छेदक रूप व्याप्ति का आधान करे—सङ्क्रमण करे—ज्ञान कराये, वह उपाधि है। आर्द्र-इन्धन में धूम-सम्बन्धितावच्छेदक-रूप व्याप्ति है, उसका सङ्क्रमण आर्द्र-इन्धन के समीपस्थ वह्नि में होता है। आर्द्र-इन्धन को वह्नि में धूम की उपाधि धूम-व्याप्ति का सङ्क्रामक उपाधि कहा जाता है। इस लक्षण के अनुसार साध्य का व्याप्य ही उपाधि होगा, क्योंकि यदि वह साध्य का व्यापक—साध्य की अपेक्षा अधिक देश वृत्ति होगा तो उसमें साध्य की व्याप्ति न होने से वह उसका सङ्क्रामक न हो सकने से उक्त लक्षण के अनुसार उपाधि-पद से व्यपदेश्य न होगा।

यह ध्यान देने की बात है कि उपाधि को साध्य का व्याप्य होने के साथ साध्य का व्यापक भी होना चाहिये, साध्य-व्याप्य इसलिए होना चाहिए जिससे वह अपने धर्म साध्य-व्याप्ति का व्यभिचारी हेतु में सङ्क्रमण करा सके और साध्य का व्यापक इसलिए होना चाहिए जिससे उसके व्यभिचार से हेतु में साध्य-व्यभिचार का अनुमान हो सके। साध्य का व्याप्य मात्र होने पर उसके व्यभिचार से साध्य-व्यभिचार का अनुमान न हो सकेगा, क्योंकि जो जिसके व्याप्य का व्यभिचारी होता है वह उसका भी व्यभिचारी होता है, यह नियम धूम के व्याप्य महानसीय वह्नि के व्यभिचार से धूम में धूम के व्यभिचार का अनुमान न हो सकने से असिद्ध है, किन्तु उपाधि यदि साध्य का व्यापक होगा तो उसके व्यभिचार से साध्य-व्यभिचार का अनुमान हो सकेगा, क्योंकि जो जिसके व्यापक का व्यभिचारी होता है, वह उसका भी व्यभिचारी होता है। यह नियम पृथिवीत्व के व्यापक द्रव्यत्व के व्यभिचारी सत्ता में पृथिवीत्व का व्यभिचार होने से मान्य है, अतः उपाधि की दूषकता के उपपादनार्थ उपाधि का दूषणौपयिक लक्षण किया गया—**"साध्य-साधनसम्बन्ध-व्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वम्"**—जो साध्य-साधन के सम्बन्ध—सामानाधिकरण्य का व्यापक और साधन का अव्यापक हो वह हेतु का दूषक उपाधि है।

"धूमवान् वह्नेः" इस स्थल में आर्द्र-इन्धन धूम और वह्नि के सामानाधिकरण्य सम्बन्ध का व्यापक है, क्योंकि जहाँ आर्द्र-इन्धन होता है वहीं धूम वह्नि का सामानाधिकरण्य होता है। वह्नि के अधिकरण

तप्त अयःपिण्ड में आर्द्र-इन्धन नहीं है। अतः वहाँ धूम वह्नि का सामानाधिकरण्य सम्बन्ध भी नहीं है। वह इस कारण कि वहाँ साधन तो है पर धूम नहीं है। इस प्रकार साध्य-साधन-सम्बन्ध के व्यापक उपाधि के अभाव से साध्य-साधन-सम्बन्ध के अभाव की सिद्धि साध्याभाव की सिद्धि में पर्यवसित होती है, इसलिए लक्षण का तात्पर्य 'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्व' में है।

इस प्रकार अत एव चतुष्टय के द्वारा यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जो हेतु जिस साध्य का अव्यभिचारी होता है उसी में साध्य-सम्बन्धिता–साध्य-सामानाधिकरण्य-रूप अथवा साध्य-सम्बन्धितावच्छेदक-हेतुतावच्छेदक-रूप व्याप्ति होती है। और जो हेतु जिस साध्य का व्यभिचारी होता है उसमें उपाधि द्वारा ही उक्त व्याप्ति का सङ्क्रमण होता है। अतः वह अपने साध्य का व्याप्य नहीं होता, क्योंकि अनौपाधिक सम्बन्ध ही व्याप्ति है।

व्याप्ति-ग्राहक

गङ्गेश ने अपने तत्त्वचिन्तामणि ग्रन्थ में व्याप्ति-ज्ञान के उपायों के सम्बन्ध में पर्याप्त विचार किया है जो संक्षेप में इस प्रकार ज्ञातव्य है—

व्याप्ति-ज्ञान के सम्बन्ध में साधारणतया यह समझा जाता है कि हेतु में साध्य-सहचार के भूयोदर्शन से व्याप्ति का ज्ञान होता है। जब कोई व्यक्ति अनेक बार वह्नि के साथ ही धूम को देखता है तो उसे यह ज्ञान हो जाता है "यत्र यत्र धूमः, तत्र तत्र अग्निः"—जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होता है। यह ज्ञान ही धूम के वह्नि की व्याप्ति का ज्ञान है। यह ज्ञान केवल एक बार धूम-वह्नि के सहचार-दर्शन से नहीं होता। अतः यह मानना आवश्यक हो जाता है कि हेतु-साध्य के सहचार का भूयोदर्शन व्याप्ति-ज्ञान का कारण है।

गङ्गेश ने इस बात का खण्डन यह कह कर किया है कि भूयोदर्शन का अर्थ है अनेक दर्शन, अतः उसे कारण मानने पर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि भूयोदर्शन का एक-एक व्यक्ति व्याप्ति-ज्ञान का कारण है अथवा उसके सभी व्यक्ति मिल कर व्याप्ति-ज्ञान के कारण हैं; किं वा भूयोदर्शन के सभी व्यक्तियों से उत्पन्न संस्कार मिल कर व्याप्ति-ज्ञान को उत्पन्न करते हैं।

इन तीनों पक्षों में प्रथम पक्ष इसलिए मान्य नहीं है कि केवल एक सहचार-दर्शन से व्याप्ति का ज्ञान नहीं होता और यदि कदाचित् ऐसा हो तो एक दर्शन से ही प्रयोजन की सिद्धि हो जाने से द्वितीय, तृतीय आदि सहचार-दर्शन की अपेक्षा न रह जाने से भूयोदर्शन को व्याप्ति-ज्ञान का कारण कहने का कोई अर्थ ही नहीं होता।

दूसरा पक्ष इसलिए ग्राह्य नहीं है कि वह कथमपि सम्भव ही नहीं है, क्योंकि सभी सहचार-दर्शन क्षणिक—अपने जन्म के तीसरे क्षण नष्ट हो जाने वाले हैं तथा क्रमभावी हैं, अतः किसी एक समय उन सभी का रह सकना असम्भव है।

तीसरा पक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि तीसरे पक्ष का अर्थ यह हो सकता है कि जैसे किसी वस्तु के पूर्व-दर्शन से उत्पन्न संस्कार के सहयोग से चक्षु आदि इन्द्रिय से पूर्व-दृष्ट वस्तु की 'स एव अयम्' इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा उत्पन्न होती है, उसी प्रकार भूयः-सहचार-दर्शन से उत्पन्न अनेक संस्कारों के सहयोग से चक्षु आदि से व्याप्ति का प्रत्यक्ष बोध हो सकता है। पर यह बात सम्भव नहीं है, क्योंकि जिस विषय का जो संस्कार होता है उससे उसी विषय के स्मरण या प्रत्यभिज्ञा की उत्पत्ति होती है, यह नियम है, अन्यथा किसी एक के संस्कार से किसी दूसरे के स्मरण और प्रत्यभिज्ञा की आपत्ति होगी, फिर ऐसी स्थिति में सहचार-दर्शन-जन्य संस्कार और इन्द्रिय से व्याप्ति-ज्ञान के जन्म की सम्भावना कैसे की जा सकती है, क्योंकि उत्पादक संस्कार और उत्पाद्य ज्ञान के विषय सहचार और व्याप्ति में भेद स्पष्ट है।

आशय यह है कि व्याप्ति का जो सिद्धान्तभूत स्वरूप बताया गया है वह है हेतु-व्यापक-साध्य-सामानाधिकरण्य। इसके दो अर्थ हैं। एक है साध्य-सामानाधिकरण्य जो 'हेतुनिष्ठ-साध्य-सहचार-रूप' है और दूसरा है 'साध्यनिष्ठ-हेतुव्यापकता' जिसका अर्थ है हेतु-समानाधिकरण अत्यन्ताभाव के प्रतियोगित्व का अभाव। इसमें पहला तो हेतु-साध्य के प्रथम दर्शन से ही गृहीत हो जाता है। इसके लिए भूयोदर्शन या तज्जन्य संस्कार की अपेक्षा नहीं है और दूसरा भूयोदर्शन किं वा तज्जन्य संस्कार के विषय से सर्वथा भिन्न है, अतः उसका बोध कराने में संस्कार सर्वथा असमर्थ है।

भूयःसहचार-दर्शन को व्याप्ति-ज्ञान का हेतु मानने में एक और बाधा है, वह है भूयोदर्शन की दुर्वचता, क्योंकि भूयोदर्शन के निम्न ही अर्थ सम्भाव्य हैं, जो दोष-मुक्त नहीं हैं, जैसे भूयोदर्शन का एक अर्थ है 'भूयःसु स्थानेषु हेतुसाध्यसम्बन्धदर्शनम्'—अनेक स्थानों में हेतुसाध्य के सहचार का प्रत्यक्ष। दूसरा अर्थ है—'भूयसां दर्शनम्'—हेतुसाध्य के अनेक सहचारों का प्रत्यक्ष; और तीसरा अर्थ है 'भूयांसि दर्शनानि'—हेतुसाध्य सहचार के अनेक दर्शन। ये तीनों ही अर्थ स्वीकार योग्य नहीं हैं, क्योंकि उनके अभाव में भी रस में रूप की तथा घटत्व में द्रव्यत्व की व्याप्ति का ज्ञान होता है।

उक्त के अतिरिक्त एक बात यह है कि भूयस्त्व तीन, चार, पाँच आदि अनेक संख्यात्मक है, अतः यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि त्रित्व चतुष्ट्व पञ्चत्व आदि में कौन भूयस्त्व भूयोदर्शन-गत-व्याप्ति-ज्ञान-हेतुता का अवच्छेदक होगा। इस प्रश्न का कोई निरापद उत्तर सम्भव नहीं है।

भूयोदर्शन को व्याप्ति का ग्राहक मानने में एक और दुर्वार बाधा है वह यह कि मृत्पात्र, पाषाण, काष्ठ आदि सहस्रों पार्थिव पदार्थों में पार्थिवत्व में लोहलेख्यत्व—लोह यन्त्र से उत्कीर्ण किये जाने की अर्हता का सहस्रशः दर्शन होने पर भी मणि, वज्र आदि पार्थिव द्रव्यों में लोहलेख्यव न होने से पार्थिवत्व में लोहलेख्यत्व का व्यभिचार ही उपलब्ध होता है, व्याप्ति नहीं उपलब्ध होती, अतः भूयोदर्शन में व्याप्ति-ज्ञान की हेतुता व्यभिचार-बाधित है।

यदि यह कहा जाय कि धूम-सामान्य में वह्नि-सामान्य की व्याप्ति का ज्ञान हुए विना वह्नि के साथ पूर्व में अदृष्ट पर्वतीय धूम से वह्नि की अनुमिति सम्भव नहीं है, अतः सम्पूर्ण धूम में सम्पूर्ण वह्नि के व्याप्ति-ज्ञान के लिए धूम-वह्नि के सहचार के भूयोदर्शन की अपेक्षा अनिवार्य है, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि दस बीस धूम-वह्नि सहचार का दर्शन हो जाने पर भी अन्य धूम-वह्नि को लेकर व्यभिचार-शङ्का की सम्भावना बनी ही रह सकती है।

यदि यह कहा जाय कि अनौपाधिकत्व—उपाधिराहित्य का ज्ञान व्याप्ति-ज्ञान का हेतु है और वह ज्ञान तभी होगा जब जिस जिसमें उपाधित्व सम्भावित है उन सबों में उपाधित्वाभाव का ज्ञान हो जाय; यह ज्ञान किसी में साध्य के अव्यापकत्व और किसी में साधन के व्यापकत्व

ज्ञान से ही होगा, क्योंकि इस ज्ञान के विना 'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वरूप' उपाधित्व के अभाव का ज्ञान असम्भव है, अतः उपाधित्व-ज्ञान के विघटक-ज्ञान के सम्पादनार्थ हेतु-साध्य के भूयः-सहचारदर्शन की अपेक्षा अनिवार्य है तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि अयोग्य उपाधि की शङ्का से हेतु में साध्य-व्यभिचार की शङ्का का परिहार भूयोदर्शन से सम्भव नहीं है, अतः तदर्थ उपायान्तर का अवलम्बन करने पर भूयोदर्शन का अवसर समाप्त हो जाता है।

उक्त रीति से व्याप्ति-ज्ञान के लिए भूयोदर्शन की अनुपयोगिता को विस्तार के साथ बताने के बाद गङ्गेश ने अपना यह निर्णय दिया है कि 'व्यभिचारज्ञानाभावसहकृत सहचारदर्शन व्याप्ति-ज्ञान का कारण है'।

उनके कहने का आशय यह है कि यदि हेतु में साध्य के व्यभिचार का संशय या निर्णय न हो तो हेतु में साध्य-सहचार का दर्शन होने पर व्याप्ति का निर्णय हो जाता है भले यह सहचारदर्शन प्रथम बार ही हो रहा हो, हाँ, यदि उपाधि के सन्देह से या विशेषादर्शन सहित साधारण धर्म दर्शन से हेतु में साध्य-व्यभिचार की शङ्का हो जायगी तो सहचारदर्शन व्याप्ति का निर्णय न करा सकेगा, अतः उस स्थिति में यह आवश्यक होगा कि उस शङ्का का तत्काल परिहार किया जाय। उसके लिए तर्क की अपेक्षा होगी, जैसे यदि यह शङ्का हो जाय कि 'धूमो वह्निव्यभिचारी न वा' तो इसके परिहारार्थ यह तर्क होगा कि 'धूमो यदि वह्निव्यभिचारी स्यात् वह्निजन्यो न स्यात्'—धूम यदि वह्नि का व्यभिचारी हो जाय—वह्नि के विना हो जाय तो वह वह्नि-जन्य न होगा। इस तर्क का फल इस रूप में उपलब्ध होगा 'धूमो यस्मात् वह्निजन्यः तस्मात् न वह्निव्यभिचारी'—धूम यतः वह्नि-जन्य है, अतः वह्नि का व्यभिचारी नहीं है। इस प्रकार तर्कमूलक अनुमान से धूम में वह्नि-व्यभिचाराभाव का निर्णय हो जाने से धूम में वह्नि-व्यभिचार की उक्त शङ्का निराकृत हो जाती है।

यदि यह कहा जाय कि व्याप्ति-ज्ञान को उक्त रीति से तर्कापेक्ष मानने पर अनवस्था होगी, क्योंकि आपादक-व्याप्य के आरोप से आपाद्य-व्यापक का आरोप ही तर्क है। इसमें आपादक में आपाद्य की व्याप्ति का ज्ञान तथा तर्क के धर्मी में आपाद्य के अभाव का निश्चय कारण होता है। ये दोनों कारण आपादक में आपाद्य के व्यभिचार की शङ्का और

तर्क के धर्मी में आपाद्याभाव की शङ्का से अवरुद्ध हो सकते हैं। यदि इन शङ्काओं के निराकरणार्थ अन्य तर्क का अवलम्बन किया जायगा तो उसके सम्बन्ध में भी इसी प्रकार बाधाएँ उठने पर तर्कान्तर की अपेक्षा होगी, अतः व्याप्ति-ज्ञान के लिए तर्क का अवलम्बन अनवस्था-ग्रस्त है तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि तर्क का अवलम्बन तभी तक करना होता है जब तक तर्क को विघटित करने वाली शङ्का सम्भावित रहती है, यतः यह शङ्का निरवधि नहीं है, इसकी एक सीमा है जहाँ पहुँचने पर शङ्का के उन्मेष की सम्भावना ही समाप्त हो जाती है, अतः उस सीमा पर पहुँचने पर तर्क की अपेक्षा न होने से अनवस्था का भय समाप्त हो जाता है, जैसे 'धूमो यदि वह्निव्यभिचारी स्यात् वह्निजन्यो न स्यात्' इस तर्क में उसके धर्मी धूम में वह्नि-जन्यत्वाभाव-रूप आपाद्य के अभाव—वह्निजन्यत्व का निश्चय अपेक्षित है, उसे विघटित करने के लिए यह शङ्का हो सकती है कि 'धूमो वह्निजन्यो न वा', फिर इस शङ्का के निराकरणार्थ यह तर्क होगा कि 'धूमो यदि वह्न्यसमवहिताजन्यत्वे सति वह्निसमवहिताजन्यः स्यात् नोत्पन्नः स्यात्'—धूम वह्नि की अनुपस्थिति में तो नहीं ही उत्पन्न होता, अब यदि वह वह्नि की उपस्थिति में भी न उत्पन्न होगा तो वह उत्पन्न ही न होगा।

अब इस तर्क के विरोध में यह शङ्का नहीं खड़ी हो सकती कि 'धूम उत्पद्यते न वा', क्योंकि प्रत्येक मनुष्य जिसे धूम की अपेक्षा होती है धूम को उत्पन्न करने के लिए अग्नि, आर्द्र-इन्धन आदि एकत्र करने का प्रयत्न करता है। यदि उसे यह शङ्का हो कि 'धूम उत्पद्यते न वा' तो धूम के लिए उसके लोकसिद्ध प्रयत्न की उपपत्ति न हो सकेगी, फलतः इस सीमा पर तर्क की अपेक्षा समाप्त हो जाने से पूर्वोक्त तर्क से धूम में वह्नि की व्याप्ति का ज्ञान निर्बाध रूप से सम्पन्न हो जाता है।

अतः यह तथ्य निर्विवाद रूप से मान्य है कि व्यभिचार का अदर्शन और सहचार-दर्शन व्याप्ति-ज्ञान का कारण है। व्यभिचार-शङ्का सम्भव होने पर उसकी निवृत्ति के लिए कभी-कभी तर्क की भी अपेक्षा हो जाती है।

व्याप्ति की सर्वोपसंहारिता

व्याप्ति के विषय में यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि जो हेतु साध्य एक-एक ही व्यक्ति हैं उनमें व्याप्य-व्यापकभाव का ज्ञान होने की

कोई समस्या नहीं है, जैसे पृथिवीत्व और द्रव्यत्व का सहचार एक स्थान में दृष्ट हो जाने पर पृथिवीत्व में द्रव्यत्व की व्याप्ति का ज्ञान होकर अन्यत्र कहीं भी जहाँ पृथिवीत्व ज्ञात होगा वहाँ उसे द्रव्यत्व की अनुमिति हो जायगी, किन्तु जो हेतु और साध्य भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं और भिन्न अधिकरणों में रहते हैं उन सभी के क्रोडीकृत व्याप्ति का ज्ञान दुःसाध्य है, जैसे धूम और वह्नि अनन्त हैं, उनके अधिकरण भी अनन्त हैं। किसी स्थान या काल में यह सम्भव नहीं है कि वहाँ सभी धूम और वह्नि का प्रत्यक्ष होकर धूम-सामान्य में वह्नि की व्याप्ति का जन्म हो सके। ऐसी स्थिति में दूर से पर्वत के मध्य से उठती धूम-माला को देख कर उसमें वह्नि की अनुमिति की उपपत्ति करना अत्यन्त कठिन है। इसका कारण यह है कि महानस आदि कतिपय स्थानों में जिन धूम और वह्नि का सहचार देखा जाता है उनमें ही व्याप्य-व्यापकभाव का ज्ञान होगा। पर्वत में जो धूम दीख रहा है उसमें वह्नि का सहचार दृष्ट न होने से उसमें वह्नि की व्याप्ति का ज्ञान नहीं है। अतः पर्वतीय धूम को देख कर जिस व्याप्ति का स्मरण होगा वह महानसीय धूम में महानसीय वह्नि की व्याप्ति होगी, वह पर्वतीय धूम में विद्यमान नहीं है। अतः पर्वतीय धूम में उसका भान नहीं हो सकता, जो महानसीय धूम वह्नि व्याप्ति के आश्रय रूप में स्मृत है पर्वत में उसका अभाव होने से उसमें उसका निश्चय हो नहीं सकता, अतः पर्वत में वह्नि व्याप्यत्व रूप से धूम का निश्चय न हो सकने से पर्वत में वह्नि की अनुमिति न हो सकेगी।

इस प्रश्न के उत्तर में नैयायिकों का कहना है कि यह सत्य है कि किसी एक स्थान और एक काल में सभी धूम, वह्नि की उपस्थिति सम्भव न होने से सम्पूर्ण धूम और वह्नि का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, किन्तु यह बात चक्षु के लौकिक सन्निकर्ष—चक्षु के संयोग से होने वाले प्रत्यक्ष में ही लागू होती है, किन्तु लौकिक सन्निकर्ष से भिन्न भी इन्द्रिय का सन्निकर्ष होता है जिसके लिए सन्निकृष्यमाण की उपस्थिति आवश्यक नहीं होती। ऐसे सन्निकर्ष तीन माने गये हैं—सामान्यलक्षण, ज्ञानलक्षण और योगजधर्म। इनमें सामान्यलक्षण सन्निकर्ष से उक्त का समाधान किया जा सकता है। कहने का आशय यह है कि किसी एक व्यक्ति में जब किसी सामान्य का किसी इन्द्रिय से लौकिक प्रत्यक्ष होता है तब वह सामान्य अपने सभी आश्रयों के साथ उस इन्द्रिय का सन्निकर्ष बन जाता

है और उसके द्वारा उसके सभी आश्रय इन्द्रिय-सन्निकृष्ट हो जाते हैं, अतः सन्निकर्षभूत सामान्य के सभी आश्रयों का अलौकिक प्रत्यक्ष हो जाता है। ऐसी स्थिति में समग्र धूम में समग्र वह्नि की व्याप्ति का ज्ञान होने में कोई बाधा नहीं हो सकती, क्योंकि यह जिसमें चक्षु से संयुक्तधूम और वह्नि का प्रत्यक्ष होने पर धूमत्व और वह्नित्व सामान्य के सन्निकर्ष हो जाने से उनके आश्रयभूत सभी धूम और वह्नि का प्रत्यक्ष हो जाता है, अतः महानसीय धूम में महानसीय वह्नि की व्याप्ति के ज्ञान-काल में ही सम्पूर्ण धूम में सम्पूण वह्नि की व्याप्ति का ज्ञान हो जाने से पर्वत में धूमत्व वह्नित्व रूप से पर्वतीय धूम और पर्वतीय वह्नि को विषय करने वाले वह्नि-व्याप्य-धूम के निश्चय का जन्म होने में कोई कठिनाई नहीं है।

दूसरा उत्तर यह है कि धूम-व्यापक-वह्निसमानाधिकरणवृत्ति-धूमत्व ही धूम में वह्नि की व्याप्ति है। यह सम्पूर्ण वह्नि से निरूपित तथा सम्पूर्ण धूम में आश्रित (रहने वाली) एक व्याप्ति है; धूम, वह्नि के भेद से इस व्याप्ति में भेद नहीं होता। महानसीय धूम में इस व्याप्ति का दर्शन होते समय यद्यपि यह व्याप्ति पर्वतीय धूम में नहीं अवगत होती, क्योंकि पर्वतीय धूम उस समय सन्निहित नहीं है तथापि पर्वत में वह्नि-व्याप्यत्व-रूप से धूम का परामर्श होने में कोई बाधा नहीं है, क्योंकि पर्वतीय धूम को देखने पर महानसीय धूम में पूर्वदृष्ट वह्नि व्याप्ति का स्मरण होकर पर्वत में वह्नि-व्याप्य-धूम का निश्चय हो सकता है, क्योंकि सभी धूम में सभी वह्नि की एक व्याप्ति होने से महानसीय-धूम-निष्ठ व्याप्ति पर्वतीय धूम में भी है, अतः पर्वतीय धूम को देखने पर व्याप्ति का स्मरण होने पर पर्वतीय धूम में उस व्याप्ति को विषय करने वाले 'पर्वतो वह्निव्याप्य-धूमवान्' इस निश्चय के होने में कोई बाधा नहीं है, क्योंकि विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही अनुभव और विशेषणतावच्छेदक-प्रकारक-विशेषणधर्मिक ज्ञान के कार्य-कारण-भाव के गर्भ में विशेषण का विशेष रूप से प्रवेश न कर सामान्य रूप से ही कार्य-कारण-भाव है, अर्थात् इस प्रकार का कार्य-कारण-भाव नहीं है कि तद्धर्म विशिष्ट तत् के वैशिष्ट्यावगाही अनुभव में तद्धर्मप्रकारकतद्विशेष्यक ज्ञान कारण है। यदि ऐसा कार्य-कारण-भाव होता तो महानसीय धूम में वह्नि व्याप्य के स्मरण से वह्निव्याप्तिप्रकारेण पर्वतीय धूम का परामर्श न होता। पर ऐसा कार्य-कारण-भाव नहीं है, क्योंकि विशेषण का विशेष रूप से कार्य-कारण-भाव के गर्भ में प्रवेश

करने पर विशेषण के भेद से कार्य-कारण-भाव में आनन्त्य की प्रसक्ति होगी।

फिर प्रश्न होगा कि उक्त रीति से पर्वतीय धूम में वह्नि-व्याप्ति का पूर्वानुभव न होने पर भी पर्वत में वह्नि-व्याप्य-धूम के परामर्श से पर्वत में वह्नि की अनुमिति उपपन्न हो जाने पर भी समग्र धूम में समग्र वह्नि की व्याप्ति का ज्ञान न हो सकने से धूम-सामान्य में वह्नि-सामान्य की व्याप्ति का व्यवहार कैसे होगा, तो इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जायगा कि महानस में एक धूम में एक वह्नि की व्याप्ति का दर्शन होने पर धूमत्व, वह्नित्व रूप सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति से समग्र धूम और समग्र वह्नि का अलौकिक प्रत्यक्ष होकर धूम-सामान्य में वह्नि-सामान्य के व्याप्ति के निश्चय से उक्त व्यवहार की उपपत्ति हो सकती है।

व्याप्ति का अनुगम

प्रश्न यह होता है कि उक्त व्याप्तियों में विशेष कर सिद्धान्तभूत व्याप्तियों में किसी भी व्याप्ति का ज्ञान होने पर अनुमिति का होना अनुभव-सिद्ध है, अतः उनमें किसी एक व्याप्ति के ज्ञान को अनुमिति का जनक मानने पर अन्य व्याप्ति के ज्ञान से होने वाली अनुमिति को लेकर व्यभिचार होगा और यदि सभी व्याप्तियों के ज्ञान को कारण माना जायगा तो केवल एक व्याप्ति-ज्ञान से अनुमिति न होगी।

यदि तत्तद्-व्याप्ति ज्ञान के अव्यवहितोत्तर अनुमिति में तत्तद्-व्याप्ति-ज्ञान को कारण मान कर उक्त दोष का परिहार करने की चेष्टा की जायगी तो अनेक कार्य-कारण-भाव की कल्पना करने में गौरव होगा तथा सामान्य रूप से अनुमिति के प्रति व्याप्ति-ज्ञान की कारणता न बन सकेगी, अतः अनेक व्याप्तियों का निर्वचन संकटाधायक है।

इस संकट का परिहार करना आवश्यक समझ कर गङ्गेश ने कहा कि उक्त व्याप्तियों में केवल एक ही व्याप्ति ऐसी है जिसका ज्ञान अनुमिति का कारण है और वह है अन्योन्याभाव से घटित व्याप्ति। उसका स्वरूप है 'स्वप्रतियोगी में अवृत्ति, हेत्वधिकरण में वृत्ति अन्योन्याभाव की प्रतियोगिता के अनवच्छेदक साध्य का सामानाधिकरण्य', जैसे "पर्वतो वह्निमान् धूमात्" इस स्थल में स्वप्रतियोगी में अवृत्ति तथा हेत्वधिकरण में वृत्ति अन्योन्याभाव है 'घटवान् न, पटवान् न' इत्यादि; उसकी प्रति-

योगिता का अवच्छेदक है घट, पट आदि; अनवच्छेदक है वह्नि, क्योंकि धूमाधिकरण में 'वह्नि मान् न' यह अन्योन्याभाव नहीं रहता, उस वह्नि का सामानाधिकरण्य धूम में है।

उक्त व्याप्ति-ज्ञान को अनुमिति का कारण मानने में एक त्रुटि है, वह यह कि उसमें अन्योन्याभाव में स्वप्रतियोग्यवृत्तित्व का निवेश है, अतः उसका ज्ञान रहने पर ही उक्त व्याप्ति का ज्ञान सम्भव होने से स्वप्रतियोग्यवृत्तित्व के अज्ञान-दशा में अनुमिति न हो सकेगी, किन्तु अनुभव यह है कि उसके अज्ञान-दशा में भी साध्य में हेतुसमानाधिकरण अन्योन्याभाव के प्रतियोगितावच्छेदकत्व को विषय करने वाले ज्ञान से भी अनुमिति होती है। इस त्रुटि का निराकरण दीधिति में रघुनाथ ने यह कर किया कि साध्य में हेतुसमानाधिकरण अन्योन्याभावप्रतियोगितानवच्छेदकत्व तथा स्वप्रतियोग्यवृत्ति हेतुसमानाधिकरण अन्योन्याभाव की प्रतियोगिता के अनवच्छेदकत्व को विषय करने वाले ज्ञानों का साध्य में स्वप्रतियोग्यवृत्ति हेत्वधिकरणवृत्ति अन्योन्याभावप्रतियोगितावच्छेदकत्व ज्ञानविरोधिज्ञानत्व रूप से अनुगम करके उक्त दोनों ज्ञानों को कारण माना जा सकता है।

वैशेषिक दर्शन में व्याप्ति-चर्चा

वैशेषिक-सूत्र में कणाद ने साध्य के अनुमापक का उल्लेख लिङ्ग शब्द से अनेक स्थानों में किया है, किन्तु उसकी अनुमापकता के उपपादक साध्य-सम्बन्ध का कोई स्पष्ट सङ्केत नहीं किया है।

प्रशस्तपाद-भाष्य में साधननिष्ठ-साध्यानुमापक-सम्बन्ध का उल्लेख कई शब्दों से किया गया है, जैसे समय, अविनाभाव, साहचर्य, प्रसिद्धि आदि।

अनुमान-प्रकरण के भाष्य में इस प्रकार कहा गया है—

> **"लिङ्गात् संजायमानं लैङ्गिकम्। लिङ्गं पुनः—**
> **यदनुमेयेन सम्बद्धं प्रसिद्धं च तदन्विते।**
> **तदभावे च नास्तेव तल्लिङ्गमनुमापकम्" ॥**

लिङ्ग से उत्पन्न ज्ञान लैङ्गिक-अनुमान है। लिङ्ग वह है जो अनुमेय-साध्य के आश्रय रूप पक्ष में अनुमिति के विषय पक्ष में रहता हो। साध्य के आश्रय में प्रसिद्ध—ज्ञात हो तथा साध्य-शून्य में न रहता हो। धूम

वह्नि के आश्रय रूप में अनुमेय पर्वत में रहने, वह्नि के आश्रय महानस में प्रसिद्ध होने तथा वह्नि-शून्य जलाशय आदि में न रहने से वह्नि का अनुमापक लिङ्ग है। वह्नि धूम से शून्य तप्त अयोगोलक में रहने के कारण उक्त में तीसरी अर्हता न धारण करने से धूम का अनुमापक नहीं होता।

लिङ्ग के इस लक्षण से साध्य-सामानाधिकरण्य और साध्याभाव का असामानाधिकरण्य मुख्य रूप से हेतुनिष्ठ-साध्यानुमापकता का सम्बन्ध विदित होता है। प्रस्तुत सन्दर्भ में ही भाष्यकार ने कहा है कि—

"प्रसिद्धसमयस्य असन्दिग्धधूमदर्शनात् साहचर्यानुस्मरणात् तदनन्तरमग्न्यध्यवसायो भवति"।

जिस व्यक्ति को हेतु-साध्य का समय पहले से ज्ञात है उसे धूम का असन्दिग्ध दर्शन होने पर धूम में वह्नि के साहचर्य का स्मरण होने के अनन्तर अग्नि का अध्यवसाय—अनुमान होता है।

यहाँ समय और साहचर्य शब्द से हेतुनिष्ठ-साध्य व्याप्ति का उल्लेख किया गया है।

वहीं फिर **"देशकालाविनाभूतमितरस्य लिङ्गम्"** कह कर अविनाभाव शब्द से व्याप्ति का निर्देश किया गया है।

इसी प्रकरण में अनुमान में शब्द आदि परानुमत प्रमाणों का अन्तर्भाव बताते हुए पुनः कहा गया है—

"यथा प्रसिद्धसमयस्य असन्दिग्धलिङ्गदर्शनप्रसिद्ध्यनुस्मरणाभ्यामतीन्द्रियेऽर्थे भवत्यनुमानमेवं शब्दादिभ्योऽपीति"।

यहाँ व्याप्ति-स्मरण को प्रसिद्ध्यनुस्मरण कह कर व्याप्ति को प्रसिद्धि शब्द से व्यपदिष्ट किया है।

श्रीधरभट्ट ने प्रशस्तपादभाष्य के अपने न्यायकन्दली नामक व्याख्या-ग्रन्थ में **"विधिस्तु यत्र धूमस्तत्राग्निः, अग्न्यभावे धूमोऽपि न भवतीत्येवं प्रसिद्धसमयस्य असन्दिग्धधूमदर्शनात् साहचर्यानुस्मरणात् तदनन्तरमग्न्यध्यवसायो भवति"**, इस भाष्य-भाग के अवतरण में कहा है कि **"इदमेवाविनाभूतमिति ज्ञानं यस्य नास्ति तं प्रति धर्मिणि धर्मस्यान्वयव्यतिरेकवतोऽपि लिङ्गत्वं न विद्यते, तदर्थमविनाभावस्मरणमनुमेयप्रतीतावनुमानाङ्गम्"।**

जिस हेतु साध्य का अविनाभाव—साध्य के विना न होना ज्ञात नहीं होता, उसके प्रति वह हेतु भी लिङ्ग नहीं बन पाता जो धर्मी—पक्ष में विद्यमान होता है तथा साध्य के अन्वय और व्यतिरेक का अनुविधान करता है। अतः अनुमेय की प्रतीति के लिए अविनाभाव के स्मरण को अनुमान का अङ्ग माना जाता है। फिर इसी सन्दर्भ में उन्होंने **"कोऽयमविनाभावो नाम"** इस प्रकार अविनाभाव की जिज्ञासा उत्पन्न कर उसके निर्वचन का प्रयास किया है।

बौद्धों का कहना है कि अविनाभाव का अर्थ है अव्यभिचार। इसका निश्चय होता है उत्पत्ति और तादात्म्य से। जिससे जिसकी उत्पत्ति होती है उसमें उसका अव्यभिचार होता है एवं जिसमें जिसका तादात्म्य होता है उसमें भी उसका अव्यभिचार होता है। वह्नि से धूम की उत्पत्ति होती है। अतः धूम में वह्नि का अव्यभिचार है एवं शिंशपा में वृक्ष का तादात्म्य है। अतः शिंशपा में वृक्ष का अव्यभिचार है। इसका ज्ञान सपक्ष—साध्य के आश्रय में साधन के दर्शन और विपक्ष—साध्याभाव के आश्रय में साधन के अदर्शन से नहीं होता, किन्तु कार्य-कारणभाव अथवा स्वभाव से होता है।

"कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात्।
अविनाभावनियमो दर्शनान्न न दर्शनात्॥"

कन्दलीकार ने इस बौद्ध-मत का यह कहते हुए खण्डन किया है कि तदुत्पत्ति और तत्तादात्म्य से तत् के अव्यभिचार का नियम नहीं हो सकता, क्योंकि तदुत्पत्ति से तत् के अव्यभिचार का नियम दो ही स्थितियों में हो सकता है। एक यह कि ऐसा नियम हो कि जिसका अव्यभिचारी होता है वह उससे उत्पन्न होता है और दूसरी यह कि जो जिससे उत्पन्न होता है वह उसका अव्यभिचारी होता है। इनमें प्रथम स्थिति दोष-ग्रस्त है, क्योंकि वह्नि से जैसे धूमत्वविशिष्टधूम उत्पन्न होता है उसी प्रकार पार्थिवत्व, द्रव्यत्व आदि से विशिष्ट ही धूम उत्पन्न होता है, पर पार्थिवत्व द्रव्यत्व आदि से विशिष्ट पट आदि वह्नि का अव्यभिचारी नहीं है। दूसरी स्थिति भी दोष-मुक्त नहीं है, क्योंकि जो जिसका अव्यभिचारी है वह उससे उत्पन्न होता है, ऐसा मानने पर ग्राहक होने से अव्यभिचार पहले गृहीत होगा और ग्राह्य होने से उत्पत्ति बाद में गृहीत होगी, फिर ऐसी स्थिति में प्रथम गृहीत अव्यभिचार द्वारा ही अनुमेय अर्थ की प्रतिपत्ति के सम्भव हो जाने से तदुत्पत्ति-ग्रह की अपेक्षा न रह जायगी।

स्वभाव को अव्यभिचार का नियामक होने का खण्डन यह कह कर किया गया है कि यदि शिंशपा में वृक्ष का तादात्म्य है तो शिंशपा का ज्ञान होते ही उसकी वृक्षात्मकता भी ज्ञात हो जायगी, क्योंकि जब शिंशपा और वृक्ष एकात्मक हैं तब यह सम्भव नहीं है कि शिंशपा का ज्ञान हो और उसकी वृक्षरूपता अज्ञात हो, अतः शिंशपा से वृक्ष-तादात्म्य का अनुमान नहीं किया जा सकता।

प्रस्तुत बौद्ध-मत के खण्डन के प्रसङ्ग में कन्दलीकार ने व्याप्ति के लिए अविनाभाव, अव्यभिचार, नियम, व्याप्ति आदि पदों का प्रयोग किया है तथा सिद्धान्त-पक्ष से व्याप्ति का निरूपण करते हुए स्वभाव—नियत सम्बन्ध एवं स्वभावमात्राधीन सहभाव नियम को व्याप्ति बताया है और उपाध्यभाव से ग्राह्य बताया है, जैसे—

"स्वभावेन हि कस्यचित् केनचित् सह सम्बन्धो नियतो निरुपाधिकत्वात्" एवं **"सहभावदर्शनजसंस्कारसहकारिणा निरस्तप्रतिपक्षशङ्केन चरमप्रत्यक्षेण धूमसामान्यस्य अग्निसामान्येन स्वभावमात्राधीनं सहभावं निश्चित्य इदमनेन नियतमिति नियमं निश्चिनोति। यद्यपि प्रथमदर्शनेऽपि सहभावो गृहीतः, तथापि न नियमग्रहणम्, न हि सहभावमात्रान्नियमः, अपि तु निरुपाधिकसहभावात्, निरुपाधिकत्वं च तस्य भूयोदर्शनाभ्यासावशेषमित्यतो भूयःसहभावग्रहणबलभुवा सविकल्पकप्रत्यक्षेण सोऽध्यवसीयते"।**

किसी के साथ किसी का सम्बन्ध स्वभाव से ही होता है जो उपाधि के अभाव से ज्ञात होता है।

धूम-सामान्य में अग्नि-सामान्य का सहभाव स्वभाव-मात्र-मूलक है, उसका निश्चय उस अन्तिम प्रत्यक्ष से होता है जिसके विपरीत कोई शङ्का नहीं होती तथा जिसे पूर्वजात-सहभाव-दर्शन से उत्पन्न संस्कार का सन्निधान प्राप्त रहता है। स्वभावाधीन-सहभाव के इस निश्चय से ही 'धूम अग्नि नियत है' इस प्रकार नियम—व्याप्ति का निश्चय होता है। सहभाव का बोध यद्यपि धूम, वह्नि का प्रथम दर्शन होने के समय ही हो जाता है, किन्तु उस समय उसके नियम का निश्चय नहीं होता, क्योंकि उस समय धूम में वह्नि के क्वचित् असहभाव का भी सन्देह सम्भावित रहता है। अतः नियम-ग्रहण के लिए उपाधिमुक्त सहभाव के

ग्रहण की अपेक्षा होती है, निरुपाधिकत्व के ग्रहण के लिए भूयोदर्शन—सहभाव का पुनः दर्शन वाञ्छनीय होता है। उसके सम्पन्न हो जाने पर सविकल्पक प्रत्यक्ष से ही उपाध्यभाव का निश्चय होता है।

सामान्यतोदृष्ट अनुमान का लक्षण बताते हुए कन्दलीकार ने व्याप्ति के लिए अविनाभाव शब्द का प्रयोग किया है, जैसे **"लिङ्गसामान्यस्य साध्यसामान्येन सहाविनाभावाद् यदनुमानं तत् सामान्यतोदृष्टम्"**।

शब्द आदि प्रमाणों का अनुमान में अन्तर्भाव के सम्बन्ध में विचार करते हुए कन्दलीकार ने व्याप्ति के लिए व्याप्ति-पद का ही प्रयोग बड़ी स्पष्टता से किया है, जैसे **"यथा व्याप्तिग्रहणबलेनानुमानं प्रवर्तते तथा शब्दादयोऽपि; शब्दोऽनुमानं व्याप्तिबलेनार्थप्रतिपादकत्वाद् धूमवत्"**।

उसी स्थल में व्याप्ति के लिए प्रसिद्धि शब्द भी कन्दली में उपलब्ध होता है, जैसे **"यत्र धूमस्तत्राग्निरित्येवंभूतायाः प्रसिद्धेरनुस्मरणम्"**।

व्याप्ति के लिए अव्यभिचार शब्द का भी प्रयोग वहीं प्राप्त होता है; जैसे—

"तावद्धि शब्दो नार्थं प्रतिपादयति यावदयमस्याव्यभिचारीति नावगम्यते, ज्ञाते त्वव्यभिचारे प्रतिपादयन् धूम इव लिङ्गम्"।

भाष्य में पञ्चावयव वाक्य रूप न्याय के निम्न पाँच अवयव वाक्य बताये गये हैं—

प्रतिज्ञा, अपदेश (हेतु), निदर्शन (उदाहरण), अनुसन्धान (उपनय) और प्रत्याम्नाय (निगमन)।

भाष्यकार ने प्रतिज्ञा का लक्षण किया है—अविरोधी अनुमेय का उद्देश; और अनुमेय का अर्थ किया है—जिस साध्य का अनुमान कराना हो उससे विशिष्ट धर्मी—पक्ष। अतः लक्षण का स्वरूप है पक्ष में साध्य-सम्बन्ध का बोधक अविरोधी वाक्य, जैसे "वायुः द्रव्यम्" यह वाक्य। अविरोधी विशेषण से यह बताया गया कि प्रत्यक्ष-विरुद्ध, अनुमान-विरुद्ध, आगम-विरुद्ध, स्वशास्त्र-विरुद्ध तथा स्ववचन-विरुद्ध साध्यविशिष्ट-पक्ष-बोधक वाक्य प्रतिज्ञा नहीं है, जैसे "अग्निरनुष्णः" प्रत्यक्ष-विरुद्ध होने से, 'अम्बरं घनम्—निबिडावयवयम्" निरवयव-आकाश-साधक अनुमान से विरुद्ध होने से, "ब्राह्मणेन सुरा पेया" यह सुरापान-निषेधक-आगम से विरुद्ध होने से, "कार्यं सत्" यह असत्कार्यवादी स्वशास्त्र से विरुद्ध होने से और

"शब्दो नार्थबोधकः" यह अर्थ-बोधनार्थ-प्रयुक्त-स्ववचन से विरुद्ध होने से प्रतिज्ञा नहीं है। इस प्रतिज्ञा-लक्षण के निरूपण के सन्दर्भ में कन्दली में अबाधित विषयत्व सहित त्रैरूप्य—पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षसत्त्व को अविनाभाव कहा गया है, जैसे—

"बाधाविनाभावयोः विरोधाद् अविनाभूतस्य बाधानुपपत्तिरिति चेत् यदि त्रैरूप्यमविनाभावोऽभिमतः तदा अस्त्येवाविनाभूतस्य बाधः, यथा अग्निरनुष्णः कृतकत्वादित्यत्रैव। अथाबाधितविषयत्वे सति त्रैरूप्यमविनाभाव इत्यभिप्रायेणोच्यते नास्ति बाधेति तदा ओमित्युच्यते"।

बाध और अविनाभाव—हेतुमान् में साध्य का अभाव-रूप-बाध और हेतु में साध्य का अविनाभाव—साध्य की व्याप्ति, इन दोनों में विरोध है। यह सम्भव नहीं है कि हेतु—साध्य का व्याप्य भी हो और हेतु के अधिकरण में साध्य का अभाव भी हो, अतः अविनाभूत—जिसके विना हेतु का भाव नहीं होता, उस साध्य का बाध—हेतुमान् पक्ष में अभाव अनुपपन्न है।

कन्दलीकार ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि यदि त्रैरूप्य-मात्र ही अविनाभाव हो तब तो अविनाभूत—त्रिरूप-सम्पन्न हेतु के साध्य का भी बाध होता ही है, जैसे "अग्निरनुष्णः कृतकत्वात्" यहाँ पर कृतकत्व-हेतु में पक्षसत्त्व, सपक्ष जलादि में असत्त्व और विपक्ष तेजःपरमाणु में असत्त्व इन तीन रूपों से सम्पन्न कृतकत्व-हेतु के साध्य अनुष्णत्व का अग्नि में बाध है और अविनाभाव यदि अबाधित-विषयत्व सहित त्रैरूप्य है तब अविनाभूत का बाध नहीं होता, यह कथन स्वीकार्य है। इस प्रकार यहाँ अविनाभाव के गर्भ में बाधाभाव का भी प्रवेश शक्य किया गया है।

प्रतिज्ञात अर्थ के समर्थन में लिङ्ग-वचन-अपदेश-हेतु-वाक्य है। इसके निरूपण के प्रसङ्ग में निर्दिष्ट लक्षण से पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षासत्त्व इस त्रैरूप्य से सम्पन्न को लिङ्ग कहने से त्रैरूप्य की अविनाभावता का सङ्केत ज्ञात होता है।

निदर्शन के निरूपण के सन्दर्भ में उसके साधर्म्य-निदर्शन और वैधर्म्य-निदर्शन रूप के दो भेद बताते हुए साधर्म्य-निदर्शन के निर्वचन के प्रसङ्ग में साध्य द्वारा लिङ्ग के अनुविधान को व्याप्तिरूपता का प्रतिपादन प्रतीत होता है, जैसे—**"अनुमेयसामान्येन लिङ्गसामान्यस्यानुविधानदर्शनं**

साधर्म्यनिदर्शनम्"। इसी प्रकार वैधर्म्य-निदर्शन के निरूपण के सन्दर्भ में लिङ्गाभाव द्वारा लिङ्गी साध्य के अभाव का अनुविधान व्याप्ति के रूप में वर्णित प्रतीत होता है, जैसे—**"अनुमेयविपर्यये च लिङ्गस्याभावदर्शनं वैधर्म्यनिदर्शनम्"**। इस प्रकरण में कन्दली में व्याप्ति के लिए व्याप्ति-पद का बहुल प्रयोग उपलब्ध होता है, जैसे—**"यच्च व्याप्यं तदेकनियता व्याप्तिः न संयोगवद् उभयत्र व्यातन्यते, व्यापकस्य व्याप्याव्यभिचारात्, यत्रापि समव्याप्तिके कृतकत्वानित्यत्वादौ व्याप्यस्यापि व्यापकत्वमस्ति तत्रापि व्याप्यत्वरूपं समाश्रित्यैकव्याप्तिः, न व्याप्यकत्वस्याश्रयत्वात् व्यभिचारिण्यपि सम्भवात्; अतो व्याप्तिर्व्याप्यगतत्वेन दर्शनीया न व्यापकगतत्वेन तत्र तस्या अभावात्"**।

कन्दली में अनुसन्धान के लक्षण की व्याख्या करते हुए उसमें प्रविष्ट निदर्शन की निम्न प्रकार से निरुक्ति की गयी है—

"निदर्श्यते निश्चिता साध्यसाधनयोः व्याप्तिरस्मिन्निति निदर्शनं दृष्टान्तः; तस्मिन् अनुमेयसामान्येन सह दृष्टस्य प्रतीतस्य लिङ्गसामान्यस्य अनुमेये साध्यधर्मिणि अन्वानयनं सद्भावोपदर्शनं येन वचनेन क्रियते तदनुसन्धानम्"।

दृष्टान्त में साध्य के साथ दृष्ट-हेतु का साध्य-धर्मीपक्ष में जिस वचन से बोध कराया जाय वह अनुसन्धान है और जिसमें साध्य-साधन की व्याप्ति निश्चित हो वह दृष्टान्त है। यहाँ व्याप्ति के लिए व्याप्ति शब्द का ही प्रयोग किया गया है।

भाष्य में प्रत्याम्नाय का यह लक्षण किया गया है कि प्रतिज्ञा-वाक्य से पक्ष में जिस साध्य के सम्बन्ध का बोध कराना उद्दिष्ट था अनुसन्धान पर्यन्त वाक्य का प्रयोग हो जाने पर भी पक्ष में उसका निश्चय न हो सकने से प्रतिज्ञा से उक्त अर्थ को पुनः जिस वचन से कहा जाय वह प्रत्याम्नाय है।

इस वाक्य की सफलता बताते हुए कन्दली में कहा गया है कि—

"प्रथमं साध्यमभिहितं न तु तन्निश्चितम्, प्रतिज्ञामात्रेण साध्यसिद्धेरभावात्, तस्योपदर्शिते हेतौ कथिते च सामर्थ्ये निश्चयः प्रत्याम्नायेन क्रियत इत्यस्य साफल्यम्"।

पहले प्रतिज्ञा से पक्ष में साध्य का कथन-मात्र होता है, उतने मात्र से पक्ष में साध्य का निश्चय नहीं हो पाता, क्योंकि प्रतिज्ञा-मात्र से साध्य

की सिद्धि नहीं होती, अतः अपदेश-वचन से प्रतिज्ञोक्त अर्थ के हेतु का तथा निदर्शन और अनुसन्धान से हेतु के साध्यानुमिति-सामर्थ्य का बोध करा कर प्रत्याम्नाय से पक्ष में साध्य का निश्चय कराया जाता है। इसलिए प्रत्याम्नाय की सार्थकता है।

यहाँ निदर्शन से बोधनीय व्याप्ति को हेतुसामर्थ्य का घटक माना गया है। इस प्रकार हेतुनिष्ठ-साध्यानुमापक-सामर्थ्य-विशेष को व्याप्ति कहने का सङ्केत प्राप्त होता है।

हेत्वाभास

असिद्ध

भाष्य में हेत्वाभास के चार भेद बताये गये हैं—असिद्ध, विरुद्ध, सन्दिग्ध और अनध्यवसित। वहाँ असिद्ध का कोई लक्षण न कह कर उसके चार भेद बताये गये हैं—उभयासिद्ध, अन्यतरासिद्ध, तद्भावासिद्ध और अनुमेयासिद्ध। विभाग के पूर्व कोई लक्षण न कहने से असिद्ध पद परिभाष्यत्व अथवा उभयासिद्धाद्यन्यतमत्व को असिद्ध लक्षणत्व भाष्यकार को अभिमत है, ऐसा प्रतीत होता है।

उभयासिद्ध

पक्ष में जो हेतु वादी-प्रतिवादी दोनों के मत में सिद्ध न हो वह उभयासिद्ध होता है, जैसे शब्द में अनित्यत्व के साधनार्थ प्रयुक्त सावयवत्व हेतु शब्द का सावयवत्व शब्दानित्यत्ववादी को भी अमान्य है और शब्दनित्यत्ववादी मीमांसक को भी अमान्य है।

अन्यतरासिद्ध

पक्ष में जो हेतु वादी-प्रतिवादी में किसी अन्यतर की दृष्टि में असिद्ध हो वह अन्यतरासिद्ध है, जैसे शब्द में अनित्यत्व के साधनार्थ प्रयुक्त कार्यत्व हेतु, यह प्रतिवादी मीमांसक की दृष्टि में पक्ष में असिद्ध है।

तद्भावासिद्ध

जिस भाव-रूप से एक हेतु किसी साध्य का अनुमापक होता है उस भाव से उस साध्य के साधनार्थ यदि किसी ऐसे हेतु का प्रयोग हो, जिसमें वह भाव असिद्ध है तो ऐसा हेतु तद्भावासिद्ध होता है, जैसे धूम धूमत्व रूप से वह्नि का अनुमापक होता है, अब यदि वह्नि के साधनार्थ धूमत्व रूप से वाष्प का प्रयोग किया जाय तो वाष्प में धूमाभाव—धूमत्व

के असिद्ध होने से धूमत्व रूप से प्रयुक्त वाष्प हेतु तद्भावासिद्ध होगा। यह "वह्निमान् वाष्पधूमात्" इस प्रकार का प्रयोग करने पर होगा।

अनुमेयासिद्ध

अनुमेय—अनुमितिधर्मी पक्ष में जो हेतु न हो वह अनुमेयासिद्ध होता है, जैसे अन्धकार में पार्थिव द्रव्यत्व के साधनार्थ प्रयुक्त कृष्ण रूप, अन्धकार के तेजोऽभावरूप होने से उसमें असिद्ध है।

विरुद्ध

जो हेतु जिस साध्य के साधनार्थ प्रयुक्त है उसके किसी आश्रय में न रहता हो तथा उसके विपरीत—उसके अनधिकरण में रहता हो वह उस साध्य के विपरीत—साध्याभाव का साधक होने से विरुद्ध होता है, जैसे झाड़ी में छिपे किसी गो-पिण्ड के विषाणमात्र को देख कर यदि उस विषाण से युक्त छिपे पिण्ड में अश्वत्व के साधनार्थ विषाण का प्रयोग किया जाय तो समस्त अश्व में न रहने और अश्व-भिन्न महिष आदि में रहने से छिपे पिण्ड में अश्वत्व के विपरीत अश्वत्वाभाव का साधक होने से अश्वत्वसाधनार्थ प्रयुक्त विषाण विरुद्ध होता है।

हेत्वाभास के निरूपण के इस प्रसङ्ग में भी कन्दली में व्याप्ति-पद का उल्लेख उपलब्ध होता है, जैसे विरुद्ध के सन्दर्भ में—**"विषाणित्वमश्वजातीये पिण्डान्तरेऽविद्यमानमश्वविपरीते गवि महिष्यादौ च विपक्षे विद्यमानं व्याप्तिबलेनाश्वत्वविरुद्धमनश्वत्वं साधयद् अभिमतसाध्यविपरीतसाधनाद् विरुद्धम्"**।

सन्दिग्ध

जिस हेतु में यह सन्देह हो कि वह पक्ष में साध्य के साथ है अथवा साध्याभाव के साथ है, वह हेतु सन्दिग्ध है, जैसे वह्नि महानस आदि में साध्य धूम के साथ रहता है और तप्त अयःपिण्ड में साध्य धूम के अभाव के सपक्ष रहता है, अतः महानस आदि से तथा अयःपिण्ड से अन्य किसी पदार्थ में वह्नि से धूम का अनुमान करने पर उसमें वह्नि में धूम के साथ रहने तथा धूमाभाव के साथ रहने का सन्देह होने से वह्नि हेतु सन्दिग्ध अर्थात् अनैकान्तिक है।

अनध्यवसित

जो हेतु साध्य के साथ तथा साध्याभाव के साथ कहीं भी अध्यवसित निर्णीत नहीं होता, वह अनध्यवसित होता है, जैसे "सर्वम् अनित्यं

प्रमेयत्वात्" इस प्रकार अनुमान का प्रयोग होने पर विश्व भर में साध्य और साध्याभाव का सन्देह होने से हेतु कहीं भी साध्य अथवा साध्याभाव के साथ अध्यवसित न होने से अनध्यवसित अनुपसंहृती होता है।

न्यायलीलावती

न्यायलीलावती में वल्लभाचार्य ने व्याप्ति के लिए नियम, प्रतिबन्ध और व्याप्ति तीनों शब्दों का प्रयोग किया है, जैसे अनुमान का प्रामाण्य प्रतिष्ठित करने के प्रसङ्ग में उसे **"तत्प्रतिबन्धसिद्धिसापेक्षम्"** कहते हुए उसके लिए प्रतिबन्ध की सिद्धि को आवश्यक बताया गया है। फिर उसी सन्दर्भ में **"स च न सामान्ययोः यत्र धूमत्वं यद् धूमत्वमिति वा नियमायोगात्"** कहते हुए स्पष्ट किया गया है कि दो सामान्यों में प्रतिबन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि जहाँ धूमत्व है वहाँ वह्नित्व है, किंवा जो धूमत्व है वह वह्नित्व है, ऐसा नियम नहीं है। इस प्रकार नियम के अभाव को प्रतिबन्धाभाव कह कर प्रतिबन्ध को नियम शब्द से अभिहित होने की बात कही गयी है। उसी के आगे पुनः **"व्यक्त्यन्तरभावेन नियतत्वे कतिपयान्तर्भावेण सर्वोपसंहारवती व्याप्तिः"** कह कर यह स्पष्ट किया गया कि दो सामान्यों में सीधे प्रतिबन्ध न मान कर व्यक्ति के माध्यम से माना जा सकता है, जैसे जहाँ धूमत्व का आश्रय व्यक्ति है वहाँ वह्नित्व का आश्रय व्यक्ति है, किन्तु ऐसा मानने में त्रुटि यह है कि व्यक्ति के द्वारा सामान्यों में नियम मानने पर सामान्य के आश्रय जो दो व्यक्ति सन्निहित होंगे उन्हीं को अन्तर्भावित कर व्याप्ति बन सकेगी, किन्तु सामान्य के सभी आश्रयों द्वारा व्याप्ति न बन सकेगी, फलतः महानसीय वह्नि-धूम के माध्यम से धूमत्व और वह्नित्व में व्याप्ति बोध होने पर भी पर्वतीय धूम में वह्नि-व्याप्ति का बोध न होने से उससे पर्वत में वह्नि की अनुमिति न हो सकेगी। इस प्रकार प्रतिबन्ध को व्याप्ति-शब्द से भी अभिहित किया गया है।

अनुमान का प्रामाण्य प्रतिष्ठित कर देने के बाद तो वल्लभाचार्य ने **"का व्याप्तिः"** इस प्रकार व्याप्ति-शब्द के उल्लेख के साथ ही व्याप्ति का निरूपण किया है और **"साधनस्य साध्यसाहित्यं कार्त्स्न्येन"** कह कर साधन–हेतु में साध्य के समग्र साहचर्य को व्याप्ति माना है, साथ ही अनौपाधित्व–उपाधिराहित्य के व्याप्तित्व का खण्डन किया है।

शङ्कर मिश्र ने लीलावती की अपनी 'कण्ठाभरण' व्याख्या में उक्त व्याप्ति की व्याख्या **"कृत्स्नस्यापि साधनस्य साध्यसामानाधिकरण्यम्"** कह कर की है। उनके अनुसार समग्र साधन में साध्य का सामानाधिकरण्य व्याप्ति है। साधन में सामग्र्य विशेषण देकर वह्नि में धूम की व्याप्ति का अभाव बताया गया है, क्योंकि तप्त अयोगोलक की वह्नि में धूम का सामानाधिकरण्य न होने से समग्र वह्नि में धूम का सामानाधिकरण्य नहीं है।

वर्धमानोपाध्याय ने लीलावती के अपने 'प्रकाश' नामक व्याख्या-ग्रन्थ में साधन, साध्य दोनों में कात्स्न्र्य-कथन को यह कह कर असङ्गत बताया है कि जहाँ साध्य और साधन एक एक व्यक्ति हैं वहाँ कात्स्न्र्य-घटित-लक्षण उपपन्न न होगा, फलतः पृथिवीत्व में द्रव्यत्व की व्याप्ति न बन सकेगी। साध्य-साधन के अधिकरण में भी कात्स्न्र्य को विशेषण रख कर व्याप्ति का निर्वचन संभव न हो सकेगा, क्योंकि ऐसा मानने पर तद्रूप और तद्रस में व्याप्य-व्यापक-भाव न बन सकेगा, क्योंकि साध्य और साधन का अधिकरण एक ही व्यक्ति होने से उसे कृत्स्न कहना शक्य न होगा, क्योंकि कृत्स्न शब्द अनेक की अशेषता बताने के लिए प्रयुक्त होता है।

वर्धमान ने लीलावती के लक्षण को साध्य-असामानाधिकरण्य के अनधिकरणत्व तथा साध्यवैयधिकरण्य के अनधिकरणत्व रूप में भी व्याख्यात करने की सम्भावना यह कह कर निरस्त की है कि केवलान्वयी साध्य का असामानाधिकरण्य और वैयधिकरण्य की प्रसिद्धि न होने से उसकी व्याप्ति न बन सकेगी।

संयोग को द्रव्यनिष्ठ-अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी बता द्रव्यत्व में संयोग की व्याप्ति न बन सकने के आधार पर उन्होंने स्वसमानाधिकरणात्यन्ता-भावाप्रतियोगिसामानाधिकरण्य–'हेतु के अधिकरण में विद्यमान अत्यन्ता-भाव के अप्रतियोगी साध्य के अधिकरण में हेतु का रहना', इस रूप में भी लीलावतीकार के लक्षण को अव्याख्येय बताया है।

निष्कर्ष में उन्होंने व्याप्ति के दो निम्न लक्षणों को मान्यता दी है—

(१) **"यत्सम्बन्धितावच्छेदकरूपवत्त्वं यस्य तस्य सा व्याप्तिः"**। इसके अनुसार धूमत्व वह्निसम्बन्धिता—वह्निसामानाधिकरण्य का अव-

च्छेदक—अनतिरिक्तवृत्ति होने से धूम में वह्नि की व्याप्ति है और वह्नित्व के तप्त अयोगोलक में विद्यमान वह्नि में धूम-सामानाधिकरण्य का अति-प्रसक्त होने से वह्नि में धूम की व्याप्ति नहीं है।

(२) **"यत्समानाधिकरणान्योन्याभावप्रतियोगि यद्वन्न भवति तेन समं सामानाधिकरण्यम्"**—जिसके अधिकरण में विद्यमान अन्योन्याभाव का प्रतियोगी जिसका अधिकरण न हो उसके अधिकरण में रहना।

धूम के अधिकरण में वह्नि के अधिकरण का अन्योन्याभाव नहीं रहता, क्योंकि सभी धूमाधिकरण वह्नि का भी अधिकरण होता है। अतः धूम के अधिकरण में विद्यमान घटादि के अधिकरण के अन्योन्याभाव का वह्नि-अधिकरण के प्रतियोगी न होने से धूम में वह्नि का सामानाधिकरण्य धूम में वह्नि की व्याप्ति है। वह्नि के अधिकरण तप्त अयोगोलक में धूमाधिकरण का अन्योन्याभाव होने से धूमाधिकरण वह्नि-अधिकरण में विद्यमान अन्योन्याभाव का प्रतियोगी ही है, अतः वह्नि में धूम का सामानाधिकरण्य वह्नि में धूम की व्याप्ति नहीं है।

यद्यपि धूम के अधिकरण महानस में वह्नि के अधिकरण पर्वत का अन्योन्याभाव होने से वह्नि भी धूमाधिकरण में विद्यमान अन्योन्याभाव का प्रतियोगी हो जाता है तथापि इससे धूम में वह्नि की व्याप्ति बाधित नहीं होती, क्योंकि जो धूम और वह्नि समानाधिकरण होते हैं उन्हीं में व्याप्य-व्यापक-भाव मान्य है। महानसीय धूम और पर्वतीय वह्नि में व्याप्य-व्यापक-भाव मान्य ही नहीं है, हाँ यतः ऐसा कोई धूम नहीं है जो वह्नि का समानाधिकरण न हो, अतः धूम-सामान्य को वह्नि-सामान्य का व्याप्य कहा जाता है; किन्तु अयोगोलकीय वह्नि में धूम का सामानाधिकरण्य नहीं है, अतः वह्नि-सामान्य को धूम का व्याप्य नहीं कहा जाता।

वल्लभाचार्य ने अनैकान्तिक—व्यभिचारी में उपाधि के उद्भावन की अवश्यकर्त्तव्यता की प्रसक्ति बता कर जैसे अनौपाधिकत्व के व्याप्तित्व का खण्डन किया है इसी प्रकार केवलान्वयी वाच्यत्व आदि के अभाव की असिद्धि बता कर साध्याभावविरोध—साध्याभाव के असामानाधिकरण्य के भी व्याप्तित्व का खण्डन किया है।

प्रस्तुत सन्दर्भ में शङ्कर मिश्र ने 'कण्ठाभरण' में निम्न व्याप्तियों का खण्डन किया है—

(१) कात्स्न्येंन सम्बन्धो व्याप्तिः ।
(२) स्वाभाविकः सम्बन्धो व्याप्तिः ।
(३) अनौपाधिकः सम्बन्धो व्याप्तिः ।
(४) अविनाभूतः सम्बन्धो व्याप्तिः ।
(५) अव्यभिचारिणः सम्बन्धो व्याप्तिः ।
(६) साधनसमानाधिकरणयावद्धर्मनिरूपितवैयधिकरण्यानधिकरण-साध्यसामानाधिकरण्यम् ।

प्रथम का खण्डन इस आधार पर किया गया है कि कृत्स्न-साधन में साध्य-सम्बन्ध अथवा साधन में कृत्स्न-साध्य का सम्बन्ध ही 'कात्स्न्येंन सम्बन्ध' का अर्थ हो सकता है, किन्तु दोनों ही ग्राह्य नहीं हैं, क्योंकि कृत्स्न-धूम में किसी वह्नि का और किसी भी धूम में कृत्स्न-वह्नि का सामानाधिकरण्य न होने से धूम में वह्नि व्याप्ति की उपपत्ति न हो सकेगी ।

द्वितीय का खण्डन इस आधार पर किया गया है कि स्वाभाविक के भी दो अर्थ सम्भव हैं—स्वभावजन्य या स्वभावाश्रित; किन्तु इनमें कोई भी मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि जहाँ साध्य-साधन का सम्बन्ध समवाय होगा, जैसे द्रव्य में गुण का, वहाँ व्याप्ति समवाय-स्वरूप होगी, जिसमें नित्य होने से स्वभावजन्यत्व और असमवेत होने से स्वभावाश्रितत्व बाधित है ।

तृतीय का खण्डन इस आधार पर किया गया है कि उपाधि का लक्षण 'साध्यव्याकत्वे सति साधनाव्यापकत्व' यतः व्याप्ति-घटित है, अतः अनौपाधिकत्व—उपाधिराहित्य को व्याप्ति मानने में अन्योन्याश्रय दोष है ।

चतुर्थ का खण्डन इस आधार पर किया गया है कि उसके भी दो अर्थ सम्भाव्य हैं—साध्य के रहने पर साधन का रहना अथवा साध्य का अभाव होने पर साधन का अभाव होना । ये दोनों भी दोषमुक्त नहीं हैं, क्योंकि यह दोनों व्यभिचारी में भी हैं, जैसे पृथिवीत्व का व्यभिचारी द्रव्यत्व पृथिवी में पृथिवीत्व के साथ है एवं गुण आदि में पृथिवीत्व के अभाव के साथ द्रव्यत्व का अभाव है ।

पञ्चम का खण्डन यह कह कर किया गया है कि अव्यभिचरित का अर्थ है व्यभिचरितभिन्न और व्यभिचार है साध्यशून्यवृत्तित्व, जो केवला-

न्वयी वाच्यत्व आदि के प्रसङ्ग में अप्रसिद्ध है, जिसके फलस्वरूप केवलान्वयी की व्याप्ति न बन सकेगी।

षष्ठ के खण्डन का आधार यह है कि साधनसमानाधिकरण यावद्धर्म-निरूपित वैयधिकरण्य का अर्थ चाहे साधनसमानाधिकरण–सभी धर्मों के अधिकरण में अवृत्तित्व किया जाय और चाहे साधनसमानाधिकरण—सभी धर्मों के अनधिकरण में वृत्तित्व किया जाय, दोनों ही स्थिति में साधनसमानाधिकरण यावद्धर्म के अधिकरण की प्रसिद्धि होना आवश्यक है, जो नितान्त असम्भव है, क्योंकि साधन धूम के समानाधिकरण पर्वतत्व, महानसत्व, चत्वरत्व आदि सभी धर्मों का कोई एक अधिकरण सर्वथा असम्भावित है।

उक्त व्याप्तियों का खण्डन कर निम्न तीन व्याप्तियों को मान्यता प्रदान की गयी है—

(१) **"साधनसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्यम्"**—साधन के अधिकरण में रहने वाले अत्यन्ताभाव के अप्रतियोगी साध्य के अधिकरण में रहना।

(२) **"साधनवन्निष्ठान्योन्याभावाप्रतियोगिसाध्यवत्कत्वम्"**—साध्याधिकरण का साधन के अधिकरण में विद्यमान अन्योन्याभाव का अप्रतियोगी होना।

(३) **"साधनसमानाधिकरणधर्मनिरूपितवैयधिकरण्यानधिकरणसाध्य-सामानाधिकरण्यम्"**—साधन के अधिकरण में रहने वाले धर्म के अव्यधिकरण साध्य का समानाधिकरण होना।

धूम के अधिकरण में वह्नि-सामान्य का अत्यन्ताभाव न रहने से धूम में वह्नि की प्रथम व्याप्ति, धूमाधिकरण में वह्नि-सामान्याधिकरण का भेद न रहने से द्वितीय व्याप्ति और सभी धूमाधिकरण में किसी न किसी वह्नि के रहने से वह्नि में धूम-समानाधिकरण किसी धर्म का वैयधिकरण्य न होने से तृतीय व्याप्ति धूम में वह्नि की व्याप्ति हो जाती है; किन्तु वह्नि को धूम का अनुमापक बनाने पर उक्त स्थिति न होने से उक्त तीनों में कोई भी व्याप्ति वह्नि में धूम की व्याप्ति नहीं बन पाती।

विवृत्तिकार भगीरथ ठक्कुर ने व्याप्ति-निरूपण के प्रस्तुत प्रसङ्ग में अपनी ओर से कोई उल्लेखनीय बात व्याप्ति के विषय में नहीं कही है।

प्रकरण ग्रन्थों में व्याप्ति

न्याय-वैशेषिक-दर्शन में प्रकरण ग्रन्थों की संख्या पर्याप्त है, जिन्हें चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

१. ऐसे ग्रन्थ जिनमें प्रमाणों का प्रधान रूप से और प्रमेयों का गौण रूप से वर्णन है।

२. ऐसे ग्रन्थ जिनमें न्याय-दर्शन के सोलह पदार्थों और वैशेषिक-दर्शन के छहों पदार्थों का वर्णन है, पर वैशेषिक के पदार्थों का वर्णन स्वतन्त्र रूप से नहीं, किन्तु न्याय-दर्शन के पदार्थों के सन्दर्भ में है।

३. ऐसे ग्रन्थ जिनमें न्याय-शास्त्र के पदार्थों का वैशेषिक के पदार्थों में अन्तर्भाव बताते हुए वर्णन किया गया है।

४. ऐसे ग्रन्थ जिनमें न्याय-शास्त्र तथा वैशेषिक-शास्त्र के कतिपय विषयों का वर्णन उनकी प्रचलित शैली से भिन्न शैली से किया गया है।

भासर्वज्ञ (१२ वीं शती) का 'न्यायसार' प्रकरण-ग्रन्थों के प्रथम वर्ग का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें व्याप्ति की चर्चा नगण्य सी है। अनुमान प्रकरण में पक्षधर्मता का लक्षण बताते हुए इस प्रकार उल्लेख किया गया है—

"साध्यधर्मविशिष्टो धर्मी पक्षः, तत्र व्याप्यवृत्तित्वं हेतोः पक्षधर्मत्वम्"—साध्य धर्म से विशिष्ट धर्मी—जिस धर्मी में साध्य रहता हो, वही धर्मी पक्ष है उसमें व्याप्यत्वसाध्यव्याप्तिमत्त्व रूप से हेतु का रहना पक्षधर्मता है। यहाँ 'व्याप्य' शब्द से व्याप्ति संकेतित है, किन्तु उसका कोई स्वरूप चर्चित नहीं है।

उपनय का लक्षण बताते हुए निम्न उल्लेख किया गया है—

"दृष्टान्ते प्रसिद्धाविनाभावस्य साधनस्य दृष्टान्तोपमानेन पक्षे व्याप्तिख्यापकं वचनमुपनयः"—दृष्टान्त में जिस हेतु में साध्य का अविनाभाव दृष्ट है दृष्टान्त के सादृश्य से पक्ष में उस हेतु में साध्य की व्याप्ति का बोधक वचन उपनय है। यहाँ दृष्टान्त में हेतु में अविनाभाव को ज्ञात कह कर दृष्टान्त के सादृश्य से पक्ष में हेतु में व्याप्ति के बोधक वचन को उपनय कहने से अविनाभाव की व्याप्ति-रूपता का ज्ञान होता है, क्योंकि अविनाभाव और व्याप्ति के भेद होने पर अविनाभाव का ज्ञान व्याप्ति-वचन का निमित्त नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञात का ही कथन होता है।

अतः ज्ञात किसी अन्य को कहना और वचन किसी अन्य का बताना सङ्गत नहीं हो सकता। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भासर्वज्ञ के समय व्याप्ति अत्यन्त प्रसिद्ध हो चुकी थी, अतः उन्हें उसकी विशेष चर्चा करना आवश्यक नहीं प्रतीत हुआ। व्याप्य अथवा व्याप्ति शब्द का प्रयोग कर देना ही उन्हें पर्याप्त लगा; हाँ प्रचलित व्याप्तियों में उन्हें 'अविनाभाव' अधिक सङ्गत जँचा; अतः सामान्य रूप से उसका उल्लेख कर उसके पक्ष में अपनी अभिमति का सङ्केत कर दिया।

केशव मिश्र (१३ वीं शती) की 'तर्कभाषा' प्रकरण ग्रन्थों के दूसरे वर्ग का मान्य ग्रन्थ है। इसमें अनुमान प्रकरण में लिङ्ग का लक्षण किया गया है—

"व्याप्तिबलेनार्थगमकं लिङ्गम्"—व्याप्ति के बल से व्यापक अर्थ का गमक—अनुमापक लिङ्ग है। इसी प्रकरण में आगे चल कर **"यत्र धूमस्तत्राग्निः; इति साहचर्यनियमो व्याप्तिः, भूयोदर्शनेन धूमाग्न्योः स्वाभाविकसम्बन्धमवधारयति 'यत्र धूमस्तत्राग्निः' इति, तथा धूमाग्न्योः सम्बन्धः स्वाभाविक एव न त्वौपाधिकः, स्वाभाविकश्च सम्बन्धो व्याप्तिः"** यह उल्लेख प्राप्त होता है। इन सभी वचनों के अर्थों में सामञ्जस्य का विचार करते हुए व्याप्ति के सम्बन्ध में केशव मिश्र का यह आशय प्रकट किया जा सकता है कि हेतु में साध्य का नियत-साहचर्य व्याप्ति है। नियत का अर्थ है स्वाभाविक और स्वाभाविक का अर्थ है अनौपाधिक। हेतु में साध्य का उपाधि से अप्रयुक्त साहचर्य ही उनकी दृष्टि में व्याप्ति है।

जानकीनाथ की 'न्यायसिद्धान्तमञ्जरी' में व्याप्ति के सम्बन्ध में प्राप्त चर्चाएँ निम्न हैं—

साध्यात्यन्ताभाववदवृत्तित्व को व्याप्ति का लक्षण नहीं माना जा सकता, क्योंकि "पर्वतो वह्निमान् धूमात्" इस स्थल में साध्य है पर्वतीय वह्नि, उसके अत्यन्ताभाव के अधिकरण महानस में धूम के रहने से उसमें उक्त लक्षण अव्याप्त है।

साध्यवदन्यावृत्तित्व को भी व्याप्ति का लक्षण नहीं माना जा सकता, क्योंकि साध्य पर्वतीय वह्निमत् से अन्य महानस में धूम के रहने से उसमें उक्त लक्षण अव्याप्त है। यदि साध्यवदन्यत्व का साध्यवत्त्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताक-भेद अर्थ करके किसी भी धूमाधिकरण में 'वह्निमान् न'

इस साध्यवत्त्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताक-भेद के न रहने से उसके अधिकरण जलाशय में अवृत्ति धूम में उक्त लक्षण का समन्वय किया जाय तो "वाच्यं ज्ञेयत्वात्" इत्यादि केवलान्वयिसाध्यकस्थल में अव्याप्ति होगी, क्योंकि वाच्यत्व के सर्वत्र रहने से तदवच्छिन्न का भेदाधिकरण न मिलने से अमान्य है। इस दोष के परिहार में मीमांसकों के इस कथन को आदर नहीं दिया जा सकता कि केवलान्वयिसाध्यक अनुमिति में कोई प्रमाण न होने से केवलान्वयी की व्याप्ति अनावश्यक है, अतः केवलान्वयिसाध्यकस्थल में अव्याप्ति का उद्भावन निरवकाश है, क्योंकि "मेयत्वमनुमिनोमि" इस अनुभव से केवलान्वयिसाध्यक अनुमिति-सिद्ध है।

बौद्धों के इस कथन का भी समादर नहीं किया जा सकता कि अभाव के लिए उसके किसी वस्तुभूत अधिकरण की आवश्यकता नहीं होती, अतः केवलान्वयिस्थल में साध्यवदन्य अलीक में अवृत्तित्व को लेकर केवलान्वयिसाध्यक हेतु में लक्षण का समन्वय हो सकता है, क्योंकि बौद्ध-मत में अलीक के भी ज्ञेय होने से ज्ञेयत्व-साध्यक-हेतु में अव्याप्ति होगी, क्योंकि ज्ञेय से अन्य अप्रसिद्ध है, क्योंकि यह सम्भव नहीं है कि अलीक ज्ञेय भी हो और ज्ञेयान्य भी हो।

'कात्स्न्र्येन सम्बन्ध' को भी व्याप्ति का लक्षण नहीं माना जा सकता, क्योंकि कृत्स्न साध्य के सम्बन्ध को व्याप्ति मानने पर धूम वह्नि का व्याप्य न हो सकेगा, क्योंकि किसी भी धूम में कृत्स्न वह्नि का सम्बन्ध नहीं है। कृत्स्न-हेतु-साध्य-सम्बन्ध को व्याप्ति मानने पर भी धूम में वह्नि की व्याप्ति न हो सकेगी, क्योंकि कृत्स्न धूम में किसी वह्नि का सम्बन्ध नहीं है। हेतु के कृत्स्न अधिकरण में साध्य के सम्बन्ध को भी व्याप्ति नहीं माना जा सकता, क्योंकि जहाँ हेतु का अधिकरण एक ही है, जैसे "तद्रूपवान् तद्रसात्" इस स्थल में हेतु का कृत्स्न अधिकरण सम्भव ही नहीं है, क्योंकि अनेक की अशेषता बताने वाले कृत्स्न सम्बन्ध का प्रयोग एकमात्र व्यक्ति में असम्भव है।

उक्त तीन व्याप्ति-लक्षणों को उक्त दोषों से अस्वीकार कर जानकीनाथ ने दो व्याप्ति-लक्षणों को मान्यता प्रदान की है। वे निम्न हैं—

साध्यसमानाधिकरणस्वसमानाधिकरणयावत्कत्व—जिसका अर्थ है कि हेतुसमानाधिकरण जितने हैं वे सभी यदि साध्य के समानाधिकरण

हों तो हेतु में साध्य की व्याप्ति होती है। धूम के सभी अधिकरणों में वह्नि के रहने से धूम के सभी समानाधिकरण वह्नि के समानाधिकरण होते हैं, अतः धूम में वह्नि की व्याप्ति होती है। वह्नि का समानाधिकरण तप्त अयोगोलकत्व धूम का समानाधिकरण नहीं है, अतः वह्नि के सभी समानाधिकरणों में धूम का सामानाधिकरण्य न होने से वह्नि में धूम की व्याप्ति नहीं होती। अथवा यद्-विशिष्ट यावत्समानाधिकरण साध्य के समानाधिकरण हों तत्साध्य की व्याप्ति है और तत् का आश्रय साध्य का व्याप्य है। धूमत्व विशिष्ट धूम के सभी समानाधिकरण वह्नि के समानाधिकरण हैं, अतः धूमत्व धूम में वह्नि की व्याप्ति है। वह्नित्व विशिष्ट वह्नि के समानाधिकरण तप्त अयोगोलकत्व आदि में धूम का सामानाधिकरण्य नहीं है, अतः वह्नित्व धूम की व्याप्ति नहीं है।

जानकीनाथ ने साध्याभाव में हेत्वभाव के व्याप्ति-ग्रह को भी व्यतिरेकी वह्नि आदि की साध्यता के स्थल में विशेषकर पृथिवी में गन्ध हेतु से पृथिवीतर-भेद की साधुता के स्थल में अनुमिति का कारण माना है और साध्याभाव-व्यापक-अभाव के प्रतियोगित्व रूप से पक्ष में हेतु-निश्चय को अर्थात् 'साध्याभाव-व्यापकाभावप्रतियोगिहेतुमान् पक्षः' इस निश्चय को व्यतिरेक साध्यक अनुमिति का कारण माना है; जहाँ वह्नि का अभाव होता है वहाँ धूम का भी अभाव होता है, अतः धूम वह्न्यभाव के व्यापक धूमाभाव का प्रतियोगी होता है, फलतः पर्वत में वह्न्यभावव्यापकाभावप्रतियोगी धूम के निश्चय से पर्वत में वह्नि की अनुमिति सम्पन्न होती है।

जयन्तभट्ट ने 'न्यायमञ्जरी' में अनुमान का निम्न लक्षण प्रस्तुत करते हुए व्याप्ति के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये हैं—

"पञ्चलक्षणकाल्लिङ्गाद् गृहीतान्नियमस्मृतेः।
परोक्षे लिङ्गिनि ज्ञानमनुमानं प्रचक्षते॥"

पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षसत्त्व, अबाधितत्व और असत्प्रतिपक्षत्व—ये प्रसिद्ध व्यतिरेकिसाध्यक हेतु के लक्षण हैं। अप्रसिद्ध व्यतिरेकी पृथिवीतर-भेद का पृथिवी में साधनार्थ प्रयुक्त गन्ध हेतु के सपक्षसत्त्व को छोड़ शेष चार लक्षण हैं, क्योंकि पृथिवीतर जल आदि में पृथिवीतर-भेद का बाध होने से और पृथिवी में अनुमान के पूर्व सिद्ध न होने से कोई सपक्ष ऐसा धर्मी जिसमें साध्य का निश्चय हो चुका हो नहीं है। प्रसिद्ध

अव्यतिरेकी वाच्यत्व आदि के अनुमान-स्थल में वाच्यत्व आदि के सर्वत्र वृत्ति होने के कारण कोई विपक्ष न होने से विपक्षासत्त्व को छोड़ अन्य चार रूप उस अनुमान के हेतु के लक्षण होते हैं, किन्तु प्रसिद्ध व्यतिरेकी वह्नि आदि के अनुमान-स्थल में उक्त पाँचों रूप हेतु के लक्षण होते हैं। इन पाँचों रूपों से युक्त लिङ्ग के ज्ञान से लिङ्ग में लिङ्गी के नियम का स्मरण होकर पर्वत आदि धर्मी में दूरतः परोक्ष वह्नि का जो ज्ञान होता है उसे अनुमान कहा जाता है। कारिकार्थ का विवरण करते हुए नियम शब्द को त्याग कर प्रतिबन्ध शब्द का प्रयोग करते हुए कहा गया है कि—

"लिङ्गविषयं ज्ञानं ज्ञानाविषयीकृतं वा लिङ्गं प्रतिबन्धस्मरणसहितं प्रमाणम्"।

थोड़ा और आगे चलकर कहा गया है कि—

"सोऽयमेतेषु पञ्चसु लक्षणेष्वविनाभावो लिङ्गस्य परिसमाप्यते"।

यहाँ नियम और प्रतिबन्ध दोनों शब्दों का त्याग कर अविनाभाव शब्द का प्रयोग किया गया है, फिर और आगे चल कर उक्त कारिका के 'नियमस्मृतेः' का उल्लेख करते हुए कहा गया है—

"विवियतां कोऽयं नियमो नाम, व्याप्तिः, अविनाभावो नियत-साहचर्यमित्यर्थः"।

उक्त उद्धरणों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि जयन्त भट्ट की दृष्टि में नियम प्रतिबन्ध, अविनाभाव, नियत-साहचर्य, व्याप्ति ये सभी शब्द समानार्थक हैं। निश्चय है कि इन सभी शब्दों के अर्थ का सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर वे सब न्यूनताएँ दृष्टि में आयेंगी जो अन्य ग्रन्थों में इनके स्वरूप का विचार करते समय ज्ञात होती हैं।

जयन्त भट्ट ने व्याप्ति के विषय में एक बात और कही है जो ध्यान देने योग्य है। उन्होंने धूम आदि में वह्नि आदि की व्याप्ति को दो संज्ञाएँ दी हैं—बहिर्व्याप्ति और अन्तर्व्याप्ति। जब पक्ष से बाहर दृष्टान्त में धूम में वह्नि की व्याप्ति गृहीत होती है तब उस स्थिति में वह बहिर्व्याप्ति होती है और वही जब पक्ष पर्वत आदि में विद्यमान धूम में गृहीत होती है तब वही व्याप्ति अन्तर्व्याप्ति कही जाती है। यह बात न्यायमञ्जरी के निम्न वचन से ज्ञातव्य है:—

"सामान्येन च व्याप्तिर्गृहीता सती सिषाधयिषितसाध्यधर्म्यपेक्षायां सैवान्तर्व्याप्तिरुच्यते, यैव च नगलग्नाग्न्यनुमानसमये तद्व्यतिरिक्त-कान्तारादिप्रदेशवर्तिनी बहिर्व्याप्तिरभूत् सैव कालान्तरे कान्तारवर्तिनि वह्नावनुमीयमाने अन्तर्व्याप्तिरवतिष्ठते"।

महानस आदि धूम-वह्नि का सहचारदर्शन होने पर सामान्य रूप से 'यत्र यत्र धूमस्तत्राग्निः' इस प्रकार धूम में वह्नि की व्याप्ति ज्ञात होती है, किन्तु जब यह अपेक्षा होती है कि जिस धर्मी में साध्य का अनुमान अभीष्ट है उस धर्मी में विद्यमान धूम में वह्नि का सहचारग्रह होना चाहिए, तब वही व्याप्ति अन्तर्व्याप्ति हो जाती है। अर्थात् पक्षगत धूम में गृहीत हो जाती है एवं नगलग्न–पर्वतनिष्ठ अग्नि के अनुमान के समय पर्वत से भिन्न वन आदि में धूम में गृहीत वह्नि की जो व्याप्ति बहिर्व्याप्ति थी, वही कालान्तर में वन में अग्नि का अनुमान प्रस्तुत होने पर अन्तर्व्याप्ति होती है। इस अन्तर्व्याप्ति का ज्ञान अनुमान के लिए नितान्त आवश्यक है, क्योंकि जिस धूम से पक्ष में अग्नि का अनुमान होना है यदि उसमें वह्नि की व्याप्ति न ज्ञात हुई तो उससे अनुमान की आशा करना जयन्त भट्ट की दृष्टि में नपुंसक से गर्भधारण की आशा के समान व्यर्थ है, जैसा कि उन्होंने कहा है :—

"नान्तर्व्याप्तिर्गृहीता चेत् साध्यसाधनधर्मयोः।
ततश्चैवं विधाद्धेतोः स्वसाध्यसमयोज्झितात्।
साध्याभिलाष इत्येवं षण्ढानुनयदोहदः"॥

उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि महानस आदि में धूम-वह्नि के सहचार का दर्शन होने पर धूम में वह्नि का जो व्याप्ति-ज्ञान होता है वह धूमत्व, वह्नित्व इन सामान्य धर्मों द्वारा सभी धूम में सभी वह्नि की व्याप्ति को विषय कर लेता है, किन्तु पर्वतवृत्तित्व-रूप से ज्ञात धूम में वह्नि व्याप्ति को विषय नहीं करता, अतः उस समय धूम-वह्नि की व्याप्ति बहिर्व्याप्ति के रूप में अवस्थित रहती है। किन्तु जब पर्वतवृत्ति धूम को देखने से उसका स्मरण होता है तब पर्वतीय धूम में उसके ज्ञान का कोई विरोधी न होने से उसमें भी ज्ञात होकर अन्तर्व्याप्ति हो जाती है, जिसके फलस्वरूप वह्निव्याप्ति-विशिष्ट-धूम में पर्वतवृत्तिता के ज्ञान से अनुमिति का जन्म होता है।

अन्नम्भट्ट ने 'तर्कसङ्ग्रह' में **"यत्र धूमस्तत्राग्निरिति साहचर्यनियमो व्याप्तिः"** कह कर हेतु-साध्य के साहचर्य-नियम को व्याप्ति कहा है। उसकी 'दीपिका' नाम की व्याख्या में साहचर्य का सामानाधिकरण्य अर्थ बता कर उसके नियम को ऐसे साध्य के सामानाधिकरण्य रूप में व्याख्यात किया है जो हेतु के अधिकरण में वृत्ति अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी न हो; धूम में ऐसे ही साध्य-वह्नि का सामानाधिकरण्य है, क्योंकि धूम के अधिकरण पर्वत आदि में वृत्ति घटादि-अभाव का वह प्रतियोगी नहीं है।

जगदीश तर्कालङ्कार ने 'तर्कामृत' में अनुमान का लक्षण किया है—अनुमितिकरण और अनुमिति का लक्षण किया है अनुमितित्व जाति। व्याप्ति के बारे में उन्होंने मुक्तकण्ठ हो कहा है :—

"व्याप्तिश्च हेतुसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्यम्"।

'भाषापरिच्छेद-कारिकावली' में विश्वनाथ न्याय-पञ्चानन ने व्याप्ति के दो लक्षण बताये हैं—एक है **"साध्यवदन्यस्मिन्नसम्बन्धः"**—साध्यवान् से अन्य में हेतु का सम्बन्ध न होना। दूसरा है—

"अथ वा हेतुमन्निष्ठविरहाप्रतियोगिना।
साध्येन हेतोरैकाधिकरण्यं व्याप्तिः"

हेतु के अधिकरण में वृत्ति अत्यन्ताभाव के अप्रतियोगी साध्य के साथ एक अधिकरण में रहना। इस दूसरे को सिद्धान्त व्याप्ति मान कर 'मुक्तावली' में इस पर विस्तृत विचार किया गया है।

अन्य वैदिक दर्शनों में व्याप्ति

प्रमाण का विचार मुख्य रूप से न्याय-वैशेषिक-दर्शन में किया गया है। अन्य वैदिक-दर्शनों का यह अत्यन्त गौण विषय रहा है, अतः स्वाभाविक है कि अन्य वैदिक-दर्शनों में प्रमाण से प्रधानतया सम्बद्ध विषयों का विवरण संक्षिप्त हो, फलतया व्याप्ति भी अन्य दर्शनों का अल्प-चर्चित विषय है। इसके विषय में कहीं अन्य उल्लेखनीय बात मिलना कठिन है, फिर भी जो कुछ अन्यत्र प्राप्य है उसकी चर्चा प्रस्तुत विषय-विचार की पूर्णता के लिए निम्न रूप से उपन्यस्त की जा रही है :—

सांख्ययोग

सांख्य में वर्णित विषयों का संग्रह एक कारिका में बड़े सुन्दर ढंग से किया गया है, जैसे—

"मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥"

पदार्थ चार प्रकार के हैं—एक वह जो केवल प्रकृति—केवल कारण है, किसी की विकृति—किसी का कार्य नहीं है, जिसे मूलप्रकृति कहा जाता है, जिसका स्वरूप है सत्त्व, रज और तम इस त्रिगुण की एक समष्टि, जिसका आदि, अन्त नहीं है; दूसरा वह जो प्रकृति-विकृति-कारण-कार्य उभयात्मक है, अर्थात् जो किसी का कारण भी है और किसी का कार्य भी है; उनकी संख्या सात है—महत्, अहंकार, पञ्चतन्मात्र—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध; तीसरा केवल विकृति है—केवल कार्यरूप है, किसी तत्त्व का जनक नहीं है, उनकी संख्या सोलह है—पाँच भूत—आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी, ग्यारह इन्द्रिय—श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसन, घ्राण (ज्ञानेन्द्रिय) वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ (कर्मेन्द्रिय), मन (उभयेन्द्रिय); चौथा वह है जो प्रकृति-विकृति-कारण-कार्य दोनों से भिन्न है, अर्थात् जो न किसी का कारण है और न किसी का कार्य है, सर्वथा उदासीन, तटस्थ है, जिसे पुरुष कहा जाता है, जिसमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व का केवल आरोप होता है और जिसकी संख्या अनन्त है।

सांख्य में इन्हीं चार प्रकार के पदार्थों का, जिन्हें सांख्योक्त पचीस तत्त्व कहा जाता है, मुख्य रूप से प्रतिपादन किया गया है और इन्हीं के ज्ञान द्वारा प्रकृति और पुरुष के परस्पर-भेद-ज्ञान से अपने वास्तव स्वरूप में पुरुष की अवस्थितिरूप मोक्ष की प्राप्ति बतायी गयी है, जिसके सम्पन्न होने पर पुरुष की सर्वविध दुःखों की छूत छूट जाती है।

इन तत्त्वों के ज्ञान के साधन-रूप में तीन प्रमाण माने गये हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तवचन (आप्तशब्द)। इनमें अनुमान व्याप्ति-सापेक्ष है, अतः अनुमान के सन्दर्भ में इसकी संक्षिप्त चर्चा का समावेश है।

ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका और वाचस्पति मिश्र की तत्त्वकौमुदी के अनुसार लिङ्ग-लिङ्गि-पूर्वक-ज्ञान अनुमान है। लिङ्ग का अर्थ है व्याप्य

और लिङ्गी का अर्थ है व्यापक। व्याप्य का अर्थ है साध्य-वस्तु के साथ स्वभावतः प्रतिबद्ध। प्रतिबन्ध की स्वाभाविकता शङ्कित, समारोपित दोनों प्रकार की उपाधियों के निराकरण से ज्ञात होती है; व्याप्य जिससे प्रतिबद्ध होता है वह व्यापक है।

लिङ्ग-लिङ्गी-व्याप्य-व्यापक यह दोनों विषय हैं, अतः इनके वाचक-पदों से लक्षणा द्वारा विषयी—इन्हें ग्रहण करने वाले ज्ञान का बोध होने से तथा लिङ्गी शब्द की आवृत्ति कर 'लिङ्गम् अस्य अस्ति' इस व्युत्पत्ति से लभ्य पक्षधर्मता-ज्ञान का ग्रहण करने से अनुमान का यह लक्षण अवगत होता है।

जो ज्ञान व्याप्य-व्यापक-भाव और पक्षधर्मता-ज्ञान से उत्पन्न हो, वह अनुमान है।

अनुमान के दो भेद हैं—वीत और अवीत। वीत का अर्थ है—अन्वयमूलक—हेतु में साध्य-सहचारमूलक; और अवीत का अर्थ है—व्यतिरेकमूलक—साध्याभाव में हेत्वभाव का सहचारमूलक। इनमें अवीत केवल एक है, जिसे शेषवत् कहा जाता है। जिनमें प्रसक्ति हो उनका प्रतिषेध हो जाने और जिनमें प्रसक्ति सम्भव नहीं है उन्हें त्याग देने से जो बच जाय, वह शेष है; उसे विषय करने वाला अनुमान शेषवत् है।

वीत अनुमान के दो भेद हैं—पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्ट। इस सन्दर्भ में व्याप्य के लक्षण में निविष्ट वस्तुस्वभाव प्रतिबन्ध, अनुमान के लक्षण में प्रविष्ट व्याप्य-व्यापक-भाव और वीत-अवीत के लक्षण में प्रविष्ट अन्वय तथा व्यतिरेक की समीक्षा करने से व्याप्ति के स्वरूप और भेद का संक्षिप्त संकेत मिलता है, जिसके अनुसार यह कहा जा सकता है कि हेतु के साथ साध्य का स्वाभाविक प्रतिबन्ध किंवा हेतु-साध्य का व्याप्य-व्यापक-भाव सम्बन्ध व्याप्ति है, जो कहीं हेतु में साध्य के अन्वय-सहचार से, कहीं साध्याभाव में हेत्वभाव के सहचार से और कहीं दोनों सहचार से गृहीत होती है, तथा गृह्यमाण सम्बन्ध की स्वभावमूलकता उपाधि के निराकरण से गृहीत होती है।

पूर्वमीमांसा

पूर्वमीमांसा का मुख्य प्रतिपाद्य है धर्म; वेदों की धर्मपरक व्याख्या ही उसका लक्ष्य है। इस लक्ष्य के लिए भी पदार्थ-विवेचन उसके क्षेत्र में

अन्तर्भूत हो जाता है और तदर्थ प्रमाण-विचार भी उसकी एक शाखा के रूप में स्वीकार्य हो जाता है, अतः पूर्वमीमांसा में प्रमाण का विचार करते हुए उसके छः भेद बताये गये हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अभाव—अनुपलब्धि।

नारायण के 'मानमेयोदय' ग्रन्थ में इन प्रमाणों के निरूपण-प्रकरण में अनुमान के सम्बन्ध में निम्न चर्चा उपलब्ध होती है :

व्याप्य के दर्शन से असन्निकृष्ट अर्थ का जो ज्ञान होता है वह अनुमान है, जैसे पर्वत में दूर से धूम का दर्शन होने पर उत्पन्न होने वाला असन्निकृष्ट अर्थ अग्नि का अनुमान है।

व्याप्य के दो भेद हैं—विषमव्याप्त और समव्याप्त। धूम वह्नि का विषमव्याप्त है, क्योंकि धूम ही वह्नि का व्याप्य है; वह्नि धूम का व्याप्य नहीं है, यतः वह अङ्गार-अवस्था में धूम का अभाव होने पर भी रहता है। कृतकत्व—कार्यत्व अनित्यत्व—नश्वरत्व का समव्याप्त है, क्योंकि कृतकत्व और अनित्यत्व दोनों एक दूसरे के व्याप्य हैं।

व्याप्ति के विषय में **"का पुनरियं व्याप्तिः"** इस प्रकार प्रश्न उठाकर कहा गया है—**"स्वाभाविकः सम्बन्धो व्याप्तिः"**; तथा स्वाभाविकत्व का अर्थ किया गया है 'उपाधिराहित्य'।

उपाधि का लक्षण है—**साधनाव्यापकत्वे सति साध्य-समव्याप्तत्व**—जो साधन का अव्यापक तथा साध्य का समव्याप्त हो वह उपाधि है।

व्याप्ति के नामान्तर का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि—

"व्याप्तिर्नियमः प्रतिबन्धोऽव्यभिचारस्तथाऽविनाभावः।
व्याप्यं पुनर्नियम्यं गमकं लिङ्गं च साधनं हेतुः॥"

व्याप्ति, नियम, प्रतिबन्ध, अव्यभिचार और अविनाभाव ये सब व्याप्ति के ही नाम हैं, एवं व्याप्य, नियम्य, गमक, लिङ्ग, साधन और हेतु ये सब व्याप्य के नाम हैं।

'मानमेयोदय' में उपाधि, तर्क, अनुमानभेद, अनुमान-विषय, पक्षधर्मता, हेत्वाभास के लक्षण और भेद आदि के विषय में पर्याप्त चर्चा की गयी है, किन्तु प्रस्तुत सन्दर्भ में व्याप्ति के ही ग्राह्य होने से केवल उसके सम्बन्ध की मुख्य बातें यहाँ प्रस्तुत की गयी हैं।

वेदान्त

धर्मराज अध्वरीन्द्र की 'वेदान्तपरिभाषा' अद्वैत वेदान्त का एक मान्य ग्रन्थ है; उसके अनुमान-प्रकरण में निम्न चर्चा उपलब्ध होती है—

अनुमिति का करण अनुमान है, व्याप्तिज्ञानमूलक अनुभव अनुमिति है, व्याप्ति-ज्ञान करण है, व्याप्ति-ज्ञान से जन्य संस्कार उसका व्यापार है, तृतीय लिङ्ग-परामर्श—पक्ष में साध्य-व्याप्य-हेतु के सम्बन्ध का ज्ञान अनुमिति का कारण नहीं है। महानस आदि में धूम में वह्नि-व्याप्ति का पूर्वानुभव रहने पर पर्वत में धूम के दर्शन से व्याप्ति के पूर्वानुभवजन्य संस्कार का उद्‌बोध होने पर पर्वत में वह्नि की अनुमिति उत्पन्न होती है। पक्ष में हेतु-दर्शन और अनुमिति के बीच व्याप्ति-स्मरण किंवा तृतीय लिङ्ग-परामर्श की अपेक्षा नहीं होती।

'पर्वतो वह्निमान्' यह अनुमिति पर्वतेन्द्रिय सन्निकर्ष से उत्पन्न होने के कारण पर्वत-अंश में प्रत्यक्ष और वह्नि के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष न होने पर भी वह्नि की व्याप्ति के ज्ञान से उत्पन्न होने के कारण वह्नि-अंश में परोक्षरूप होती है। पर्वतेन्द्रिय सन्निकर्ष और वह्नि-व्याप्ति-ज्ञान दोनों से 'पर्वतो वह्निमान्' इस प्रकार अन्तःकरण की एक वृत्ति जिसे अनुमिति कहा जाता है, उत्पन्न होती है, वही वृत्ति सन्निकृष्ट पर्वताकार होने से विषयदेशस्थ और असन्निकृष्ट वह्न्याकार होने से अन्तःस्थ होती है, अतः उस एक ही वृत्ति में प्रत्यक्षत्व और परोक्षत्व की उपपत्ति में कोई बाधा नहीं होती।

व्याप्ति के विषय में कहा गया है कि—

"व्याप्तिश्च अशेषसाधनाश्रयाश्रितसाध्यसम्बन्धरूपा; सा च व्यभिचारादर्शने सति सहचारदर्शनेन गृह्यते"।

अशेष—समग्र साधनाश्रय—हेत्वधिकरण में आश्रित वर्तमान साध्य का हेतु-निष्ठ-सम्बन्ध व्याप्ति है और वह हेतु में साध्य के व्यभिचार का ज्ञान न रहने पर हेतु में साध्य के सहचार-ज्ञान से ज्ञात होती है।

यतीन्द्रमतदीपिका

श्रीनिवासदास की 'यतीन्द्रमतदीपिका' विशिष्टाद्वैत का एक विशिष्ट ग्रन्थ है, उसमें अनुमान के सम्बन्ध में निम्न विचार उपलब्ध होते हैं—

व्याप्यत्व-रूप से व्याप्य के अनुसन्धान से होने वाली व्यापक-विशेष की प्रमा अनुमिति है। अनुमिति का कारण अनुमान है, व्यापक की

अपेक्षा, जो अनधिकदेशकाल में अर्थात् अल्पदेश और अल्पकाल में नियत हो वह व्याप्य है, और व्याप्य की अपेक्षा अन्यून देशकाल में अर्थात् अधिकदेश और काल में नियत हो वह व्यापक है।

निरुपाधिक नियत-सम्बन्ध व्याप्ति है। उसके दो भेद हैं–अन्वयव्याप्ति और व्यतिरेकव्याप्ति। हेतु के सम्बन्ध से साध्य के सम्बन्ध का बोधक व्याप्ति अन्वयव्याप्ति है और साध्य के व्यतिरेक से हेतु के व्यतिरेक के आधार पर साध्य का बोधक व्याप्ति व्यतिरेक-व्याप्ति है।

जैन-दर्शन में व्याप्ति

वादिदेव सूरि का 'प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार' और उसकी व्याख्या 'स्याद्वादरत्नाकर' जैन-दर्शन का महनीयतम ग्रन्थ है, अतः उसके आधार पर व्याप्ति का जैन-सम्मत-स्वरूप संक्षेप से प्रस्तुत किया जा रहा है :—

प्रमाण

जो ज्ञान स्व और पर दोनों को ग्रहण करता है वह प्रमाण है। जैनमत में ज्ञान को अपने स्वरूप और विषय दोनों का ग्राहक माना गया है; इस मान्यता के अनुसार ज्ञानात्मक प्रमाण के उक्त लक्षण की उपपत्ति होती है।

प्रमाण के दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। जो ज्ञान स्पष्ट होता है, विशद होता है, उसे प्रत्यक्ष कहा जाता है; स्पष्टता या विशदता ज्ञान में भासित होने वाले अर्थ में रहने वाली विशेष प्रकार की विषयता है। प्रत्यक्ष को इस विषयता का निरूपक होने से स्पष्ट या विशद कहा जाता है।

प्रमाणभूत प्रत्यक्षज्ञान के दो भेद हैं–सांव्यवहारिक और पारमार्थिक; जिस प्रत्यक्ष से प्रवृत्ति-निवृत्ति-रूप लोक-व्यवहार सम्पादित होता है वह सांव्यवहारिक है और जो प्रत्यक्ष आत्मा की ग्रहण-योग्यता-मात्र से सम्पन्न होता है वह पारमार्थिक है। वास्तव में पारमार्थिक ज्ञान ही प्रत्यक्ष है, सांव्यवहारिक यथार्थतः परोक्ष ही है, पारमार्थिक के स्पष्टता-मूलक सादृश्य के कारण उसे भी प्रत्यक्ष-पद से व्यवहृत किया जाता है।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के दो भेद हैं—इन्द्रिय–चक्षु आदि बाह्य इन्द्रिय से जन्य तथा अनिन्द्रिय मन से जन्य। इन दोनों प्रत्यक्षों के चार भेद हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा।

विषय—द्रव्य पर्यायात्मक वस्तु के साथ विषयी—इन्द्रिय के सन्निकर्ष से उत्पन्न, वस्तु के सत्तामात्र को ग्रहण करने वाले बोध का नाम है दर्शन। इस दर्शन से जो ज्ञान उत्पन्न होता है तथा सत्ता से न्यूनदेशवृत्ति मनुष्यत्व आदि सामान्य द्वारा वस्तु को विषय करता है वह 'अवग्रह' है।

जो ज्ञान अवग्रह से ग्रहीत मनुष्य आदि के वङ्गीय, उत्कलीय, मैथिल आदि विशेष-रूप को सम्भाव्यरूप में ग्रहण करता है, वह 'ईहा' है।

ईहा से गृहीत मनुष्य आदि के उक्त विशेषरूप को निश्चित करने वाला ज्ञान 'अवाय' है।

सम्पुष्ट अवाय ही 'धारणा' है।

इन चार स्तरों से वस्तु का प्रत्यक्षात्मक निश्चय सम्पन्न होता है; इस तथ्य का वर्णन महाकवि माघ के 'शिशुपालवधं' काव्य में श्रीकृष्ण द्वारा नारद मुनि की पहचान के प्रसङ्ग में निम्न रूप से उपलब्ध होता है :—

"चयस्त्विषामित्यवधारितं पुरा ततः शरीरीति विभाविताकृतिम्।
विभुर्विभक्तावयवं पुमानिति क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः॥"

श्रीकृष्ण ने आकाश से उतरते नारद को सहसा नहीं पहचान लिया; सबसे पहले उन्होंने उतरनेवाले को तेज का एक पुञ्ज समझा, कुछ और निकट आने पर उसे कोई शरीरधारी समझा, थोड़ा और समीप होने पर अङ्गों के दर्शन के आधार पर उसे कोई पुरुष समझा, उसके बाद अधिक समीप आने पर उसी उतरने वाले को 'नारद' समझा।

पारमार्थिक प्रत्यक्ष के दो भेद हैं—विकल और सकल। वस्तु के समग्र-रूप को विषय न कर कतिपय अंश को विषय करने वाले 'पारमार्थिक' को 'विकल' तथा वस्तु के समग्र-रूप को विषय करने वाले 'पारमार्थिक' को 'सकल' कहा जाता है।

विकल के दो भेद हैं—अवधि और मनःपर्याय।

जो विकल 'अवधि' ज्ञान के अदृष्ट विशेषरूप आवरण के क्षयोपशम से देव, नारक आदि जीवों को किंवा मनुष्य, पशु, पक्षी आदि को उत्पन्न होता है तथा रूपी द्रव्य मूर्त्त द्रव्य को विषय करता है वह 'अवधि' है।

जो ज्ञान निर्मल चरित्र के व्यक्तियों को 'मनःपर्याय ज्ञान' के आवरण के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है तथा मनोद्रव्य और उनके पर्यायों को विषय करता है वह 'मनःपर्याय' है।

जो ज्ञान सम्पूर्ण ज्ञानावरणों के क्षय से उत्पन्न हो समग्र द्रव्यों और पर्यायों का साक्षात्कार करता है वह 'सकल' है। इसे ही 'केवल ज्ञान' कहा जाता है। इसे प्राप्त करने में ही मानव जन्म की सार्थकता समझी जाती है। इस ज्ञान से सम्पन्न पुरुष ही 'अर्हन्' होता है।

'परोक्ष' प्रमाण के पाँच भेद हैं—स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम।

पूर्वानुभव-जन्य-संस्कार के उद्बुद्ध होने पर पूर्वानुभूत अर्थ को विषय करने वाला 'तत्' शब्द से अभिलप्यमान ज्ञान स्मरण है, जैसे, घट के दर्शन से उत्पन्न घट-विषयक-संस्कार जब घट का कार्य उपस्थित होने पर उद्बुद्ध होता है तब पूर्वदृष्ट घट को विषय करने वाला 'स घटः' इस प्रकार घट का ज्ञान उत्पन्न होता है, यही ज्ञान 'स्मरण' है। इसका बोध न होने से यह भी एक परोक्ष प्रमाण है।

अनुभव और स्मृति दोनों के सहयोग से उत्पन्न होने वाला पूर्वानुभूत तथा अननुभूत पूर्व अर्थों का संकलनात्मक ज्ञान जो तिर्यक् सामान्य-सदृशपरिणाम अथवा ऊर्ध्वतासामान्य—पूर्वापरपर्यायों में अनुवर्तमान द्रव्य आदि धर्म-समूह को विषय करता है वह 'प्रत्यभिज्ञान' नामक परोक्ष प्रमाण है, जैसे एक गोपिण्ड जो पाँच वर्ष पूर्व देखा गया था, जब पाँच वर्ष बाद आँख के सामने आता है, तब वर्त्तमान में उस पिण्ड के चक्षुर्जन्य अनुभव और पाँच वर्ष पूर्व उसके दर्शन से उद्भूत संस्कार से उत्पन्न उसकी स्मृति से दोनों समयों के गोपिण्डों का एक संकलनात्मक ज्ञान 'स एव अयं गोपिण्डः'—यह वही गोपिण्ड है, इस रूप में उत्पन्न होता है। यह ज्ञान गोपिण्ड के सदृशपरिणामात्मक तिर्यक्-सामान्य को ग्रहण करता है, यतः वर्तमान गोपिण्ड पाँच वर्ष पूर्व देखे गये गोपिण्ड का ही उपचित या अपचित सदृशपरिणाम है। दोनों समयों के गोपिण्डों में जो एक स्थायी द्रव्य गृहीत होता है, वह ऊर्ध्वतासामान्य है।

साध्य-साधन के उपलम्भ तथा अनुपलम्भ से उत्पन्न त्रैकालिक साध्य-साधन के सम्बन्ध—व्याप्ति आदि को विषय करने वाला, अमुक के होने पर ही अमुक होता है अथवा अमुक के न होने पर अमुक नहीं होता, इस प्रकार का ज्ञान 'तर्क' है। इसका दूसरा नाम 'ऊह' है। यह भी एक परोक्ष प्रमाण है; इसी से व्याप्ति का ग्रहण होता है।

अनुमान में 'अनु' का अर्थ है पश्चात् और 'मान' का अर्थ है ज्ञान; जो ज्ञान लिङ्ग-ग्रहण तथा सम्बन्ध-स्मरण व्याप्ति-स्मरण के पश्चात् उत्पन्न होता है, वह अनुमान है। उसके दो भेद हैं—स्वार्थानुमान और परार्थानुमान।

हेतुग्रहण और सम्बन्ध-स्मरण से उत्पन्न साध्य-ज्ञान स्वार्थानुमान है; पक्ष हेतु का बोधक-वचन परार्थानुमान है। व्याप्ति दोनों ही अनुमानों का प्राण है। हेतु में साध्य का अविनाभावरूप प्रतिबन्ध—व्याप्ति यदि न हो तो हेतु से साध्य का कोई भी अनुमान स्वार्थ या परार्थ नहीं उत्पन्न हो सकता। व्याप्ति का बोध दृष्टान्त में होता है, जैसा कहा गया है—**"प्रतिबन्धप्रतिपत्तेरास्पदं दृष्टान्तः"**। दृष्टान्त दो प्रकार के होते हैं—साधर्म्य-दृष्टान्त तथा वैधर्म्य-दृष्टान्त। धूम में वह्नि की व्याप्ति का ग्राहक साधर्म्य-दृष्टान्त है। महानस, जहाँ "यत्र धूमस्तत्र वह्निः" इस प्रकार अन्वय-व्याप्ति का ग्रहण होता है, वैधर्म्य-दृष्टान्त है। जलाशय, जहाँ "यत्र वह्निर्नास्ति तत्र धूमो नास्ति" इस प्रकार व्यतिरेक-व्याप्ति का ज्ञान होता है।

संक्षेप में जैन-दर्शन की यह मान्यता है कि हेतु में साध्य का अविनाभाव—साध्य के विना हेतु का न होना ही हेतु में साध्य की व्याप्ति है। पक्ष में गृहीत होने पर यह अन्तर्व्याप्ति कही जाती है और पक्षभिन्न-धर्मों में गृहीत होने पर बहिर्व्याप्ति कही जाती है। इसका ग्रहण 'ऊह' नामक परोक्ष प्रमाण से होता है।

बौद्ध-दर्शन में व्याप्ति

बौद्ध-दर्शन के अनुसार 'अविनाभाव' व्याप्ति है। इसका अर्थ है 'अव्यभिचार'—हेतु में साध्य के व्यभिचार का अभाव। इसका निश्चय तादात्म्य तथा तदुत्पत्ति से होता है। जिस वस्तु में जिसका तादात्म्य होता है उसमें उसका अविनाभाव–अव्यभिचार होता है, जैसे—शिंशपा–सीसम में वृक्ष का तादात्म्य है, अतः शिंशपा में वृक्ष का अविनाभाव है, अर्थात् वृक्ष हुए बिना शिंशपा शिंशपा ही नहीं है; आशय यह है कि शिंशपा वृक्ष का ही एक भेद है, अतः वृक्ष होना उसका स्वभाव है; यदि वह इस स्वभाव का त्याग करेगा तो अपने अपनत्व का ही त्याग करना होगा, क्योंकि निःस्वभाव वस्तु का अस्तित्व नहीं होता। अतः तादात्म्य स्वरूप-स्वभाव से अविनाभाव–अव्यभिचाररूप व्याप्ति का निर्धारण सर्वथा तर्कसङ्गत है।

उक्त रीति से तदुत्पत्ति का भी अविनाभाव का निश्चायक होना तर्कानुमत है, अर्थात् यह बात सर्वथा न्यायसंगत है कि जो वस्तु जिससे उत्पन्न होती है, उस वस्तु में उसका अविनाभाव–अव्यभिचार होता है, क्योंकि कोई भी वस्तु किसी ऐसे पदार्थ से नहीं उत्पन्न होती जिसका वह व्यभिचारी हो, जिसके विना भी वह हो जाती हो, जैसे वह्नि से उत्पन्न धूम में वह्नि का अव्यभिचार स्पष्ट है, वह्नि के विना धूम कभी नहीं होता, यदि वह्नि के विना भी धूम सम्भव हो तो वह्नि से उत्पाद्य ही नहीं हो सकता।

बौद्ध विद्वानों का यह अत्यन्त स्पष्ट उद्घोष है कि हेतु में साध्य के अविनाभाव का नियम सपक्ष–साध्यनिश्चय के धर्मी में हेतु के दर्शन तथा विपक्ष–साध्याभावनिश्चय के धर्मी में हेतु के अदर्शन से नहीं निर्णीत हो सकता, क्योंकि लोहलेख्यत्व के सपक्ष काष्ठ, पाषाण आदि में पार्थिवत्व का दर्शन तथा लोहलेख्यत्व के विपक्ष वायु आदि में पार्थिवत्व का अदर्शन होने पर भी पार्थिवत्व में लोहलेख्यत्व के अविनाभाव का निर्णय नहीं होता, क्योंकि वज्र आदि में पार्थिवत्व में लोहलेख्यत्व के व्यभिचार की उपलब्धि होती है। अतः अविनाभाव के नियम का निर्णय एकमात्र कार्य-कारण-भाव अथवा स्वभाव-तादात्म्य से ही होता है, यही बात मान्य है, यह तथ्य—

"कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकम्।
अविनाभावनियमोऽदर्शनान्न न दर्शनात्" ॥

इस प्रसिद्ध कारिका से अनुमोदित है।

उक्त के अनुसार बौद्धों का प्रस्तुत विषय में यह सिद्धान्त ध्यान में रखने योग्य है कि अनुमान के दो ही हेतु हैं—कार्य और स्वभाव। जो कार्य अथवा स्वभाव नहीं है वह अनुमापक नहीं हो सकता। रस से रूप का अनुमान होता है, वह केवल इसलिए कि बौद्ध-मत में रस, रूप आदि से भिन्न उसके आश्रय द्रव्य का अस्तित्व अप्रामाणिक है; क्षणिक रूप, रस आदि की समष्टि ही रूप आदि के आश्रय द्रव्य के रूप में व्यवहृत होती है। रूप, रस आदि की पूर्वसमष्टि ही उनकी अग्रिम समष्टि को उत्पन्न करती है, अतः पूर्ववर्त्ती रूपादि समष्टि के उत्तरवर्त्ती समष्टि का कारण होने से पूर्वरूप-क्षणमात्र में उत्तररूप-क्षणमात्र की कारणता न होकर रस

आदि की भी कारणता होती है, फलतः रस के रूप का भी कार्य हो जाने से रस से रूप का अनुभव भी कार्यहेतुक कारणानुमान हो जाता है।

इसी प्रकार पृथिवीत्व से द्रव्यत्व का अनुमान भी स्वभाव-हेतुक अनुमान है, क्योंकि द्रव्य होना पृथिवी का स्वभाव है, अतः कोई भी पार्थिव पदार्थ द्रव्य हुए विना अस्तित्व में ही नहीं आ सकता, इसलिए जैसे—शिंशपा से वृक्षानुमान स्वभाव–हेतुक है, वैसे ही पृथिवीत्व से द्रव्यत्वानुमान अर्थात् पृथिवी होने से द्रव्य होने का अनुमान भी स्वभावहेतुक अनुमान है।

व्याप्ति की संक्षिप्त चर्चा के पश्चात् यह आवश्यक है कि उन पारिभाषिक शब्दों का भी परिचय संक्षेप में प्रस्तुत कर दिया जाय, जिनके अर्थावबोध के विना व्याप्ति तथा अनुमान के अन्य अङ्ग पक्षता, तर्क, हेत्वाभास आदि का यथोचित बोध नहीं हो सकता, अतः आगे के पृष्ठों में सम्बद्ध पारिभाषिक शब्दों का विवरण दिया जा रहा है :—

सम्बद्ध पारिभाषिक शब्द

प्रतियोगिता

प्रतियोगिता शब्द का अधिकतर व्यवहार अभाव और सम्बन्ध के सन्दर्भ में होता है। सम्बन्ध के सन्दर्भ में प्रतियोगिता के अर्थ की चर्चा बाद में की जाएगी। अभाव के सन्दर्भ में प्रतियोगिता शब्द के अर्थ की चर्चा सम्प्रति की जा रही है।

अभाव के अर्थ में प्रतियोगिता शब्द का अर्थ है विरोधिता। इस अर्थ के अनुसार अभाव के विरोधी को अभाव का प्रतियोगी कहा जाता है, जैसे—घट घटाभाव का विरोधी है। घटाभाव के अधिकरण में घट नहीं रहता एवं घट के अधिकरण में घटाभाव नहीं रहता। इस प्रकार इन दोनों में असामानाधिकरण्य—एकाधिकरण में अवृत्तित्व रूप विरोध है। इस विरोध के कारण ही घट घटाभाव का विरोधी कहा जाता है। इस प्रकार घट घटाभाव का प्रतियोगी है, इसका अर्थ होता है कि घट घटाभाव का विरोधी है।

यद्यपि जैसे घट में घटाभाव का विरोध है, उसी प्रकार घटाभाव में भी घट का विरोध है, किन्तु घटाभाव घट का प्रतियोगी है-यह व्यवहार नहीं होता; किन्तु घट घटाभाव का प्रतियोगी है—यही व्यवहार होता

है। इसका कारण यह है कि अभाव शब्द स्वयं भावविरोधी अर्थ प्रकट करता है, क्योंकि अभाव शब्द भाव शब्द के साथ नञ् शब्द का समास करने से निष्पन्न हुआ है। अतः अभाव शब्द में भाव और नञ् (अ०) दो शब्द प्रविष्ट हैं। इनमें नञ् शब्द का अर्थ है विरोधी। अतः अभाव शब्द भाव-विरोधी अर्थ को प्रकट करता है। किन्तु भाव शब्द अथवा भावविशेष के बोधक घट आदि शब्द अभाव-विरोधी अर्थ प्रकट नहीं करते। इसीलिए घट को ही घटाभाव के विरोधी अर्थ में घटाभाव का प्रतियोगी कहा जाता है।

यह बात अन्य प्रकार से भी कही जा सकती है, जैसे—घटाभाव शब्द की व्युत्पत्ति होती है—"घटस्य अभावः"। इस व्युत्पत्ति वाक्य में घट और अभाव शब्द का अर्थ स्पष्ट है, किन्तु घट पद के उत्तर श्रूयमाण षष्ठी विभक्ति का अर्थ उस प्रकार स्पष्ट नहीं है। विचार करने पर इस षष्ठी का सम्बन्ध अथ हो सकता है, क्योंकि यह षष्ठीकारक विभक्ति अथवा उपपद विभक्ति न होकर शेष षष्ठी हैं और शेष षष्ठी उसे कहते हैं जो कारक षष्ठी और उपपद षष्ठी से प्रतीत होने वाले अर्थ से शेष अर्थ का प्रतिपादन करे। यह शेष अर्थ सम्बन्ध-रूप होता है, अतः उक्त व्युत्पत्ति वाक्य में श्रूयमाण षष्ठी का सम्बन्ध अर्थ होने से उसका अर्थ होता है घट-सम्बन्धी-अभाव। अभाव के साथ घट के सम्बन्ध का विचार करने पर वह सम्बन्ध विरोधात्मक ही सम्बन्ध बुद्धिगम्य होता है, अतः विरोधात्मक सम्बन्ध को ही प्रतियोगिता शब्द से अभिहित किया जाता है। इस सन्दर्भ में यह ध्यान देने योग्य है कि विरोधिता यद्यपि गोत्व-अश्वत्व में भी है फिर भी उनमें एक दूसरे का प्रतियोगी नहीं कहा जाता, क्योंकि विरोधिता प्रतियोगितात्व-रूप से अभाव से ही निरूप्य होती है।

इस प्रकार घटाभाव का अर्थ होता है घट में विद्यमान विरोधात्मक-प्रतियोगिता-सम्बन्ध का निरूपक, अतः घटाभाव शब्द से घट में विद्यमान अभाव के विरोध का लाभ होने से घट को घटाभाव का प्रतियोगी कहा जाता है। किन्तु घट शब्द से घटाभावगत विरोध का बोध न होने से घटाभाव को घट का प्रतियोगी नहीं कहा जाता।

यद्यपि घटाभाव को घटाभावाभाव का विरोधी कहा जाता है और घटाभावाभाव घट के अधिकरण में ही विद्यमान होने से घटस्वरूप होता है, अतः घटाभाव को घटाभावाभाव का विरोधी कहने से यही अर्थ

निकलता है कि घटाभाव घट का विरोधी है, किन्तु यह बात दृष्टि में रखना आवश्यक है कि घटाभाव घटाभावाभाव का प्रतियोगी होने से ही घट का प्रतियोगी बनता है। यदि घटाभावाभाव घट-स्वरूप न होता तो घटाभाव को घट का प्रतियोगी कहना संभव न होता, अतः स्पष्ट है कि प्रतियोगिता का निरूपक अभाव ही होता है। और यदि भाव को कभी प्रतियोगिता का निरूपक कहा जाता है तो वह अभावात्मक रूप से ही कहा जाता है, भावात्मक रूप से नहीं। इस प्रकार स्पष्ट है कि भाव ही अभाव के प्रतियोगी—अभाव के विरोधी रूप में व्यवहृत होता है। भाव अभाव के प्रतियोगी—विरोधी रूप में व्यवहृत नहीं होता। इस प्रकार उक्त प्रतिपादन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रतियोगिता अभाव के साथ भाव का एक सम्बन्ध है और वह सम्बन्ध विरोधिता-रूप है।

अभाव की प्रतियोगिता विरोधिता-रूप है, यह बात प्राचीन नैयायिकों के अभाव-सम्बन्धी विचार से भी सुस्पष्ट होती है, जैसे—प्राचीन नैयायिकों का मत है कि घटाभाव का प्रतियोगी जैसे घट होता है उसी प्रकार घटध्वंस और घटप्रागभाव भी होता है, क्योंकि घटाभाव का विरोध जैसे घट के साथ है उसी प्रकार घटध्वंस और घटप्रागभाव के साथ भी है। घटध्वंस और घटप्रागभाव के साथ घटाभाव का विरोध इसलिए मान्य है कि घटध्वंस-काल में एवं घटप्रागभावकाल में जो घटाभाव की प्रतीति होती है, वह ध्वंसात्मक और प्रागभावात्मक अभाव द्वारा ही सम्पन्न हो सकती है, अतः घटध्वंस एवं घटप्रागभाव के अधिकरण में घटात्यन्ताभाव की कल्पना निष्प्रयोजन एवं गौरवापादक है। घटध्वंस और घटप्रागभाव को घटात्यन्ताभाव का प्रतियोगी मानने से यह स्पष्ट विदित होता है कि अभाव की प्रतियोगिता विरोधिता-रूप ही है।

नवीन नैयायिक घट को ही घटात्यन्ताभाव का विरोधी मानते हैं, घटप्रागभाव और घटध्वंस को घट का विरोधी नहीं मानते। उनका आशय यह है कि घटत्व आदि जिन नित्य पदार्थों का ध्वंस अथवा प्रागभाव नहीं होता, उन पदार्थों के अत्यन्ताभाव का विरोध उन पदार्थों के साथ सिद्ध है। अतः ध्वंस और प्रागभाव से भिन्न वस्तु में जब अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता नित्य पदार्थ के अत्यन्ताभाव-स्थल में अनिवार्य है तो सामान्यतः सभी अत्यन्ताभावों का विरोध ध्वंस और प्रागभाव से भिन्न में ही मानना न्यायसंगत है। दूसरी बाअ यह है कि

जिन अनित्य पदार्थों का ध्वंस और प्रागभाव सिद्ध है, उन पदार्थों के अत्यन्ताभाव का विरोध ध्वंस और प्रागभाव की असत्त्व दशा में उन अनित्य पदार्थों के साथ सिद्ध है, अतः ध्वंस और प्रागभाव दशा में विरोधी अनित्य पदार्थों के विद्यमान न होने से उनके अत्यन्ताभाव का होना अनिवार्य है, क्योंकि ध्वंस प्रागभाव के साथ भी उन पदार्थों के अत्यन्ताभाव के विरोध की कल्पना निर्युक्तिक है, अतः नवीन मत में ध्वंस और प्रागभाव में अत्यन्ताभाव का विरोध न होने से ध्वंस और प्रागभाव अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी नहीं होता है, किन्तु अनित्य पदार्थ स्वयं ही अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी होते हैं।

प्रतियोगिता शब्द का विरोधिता अर्थ स्वीकार करने पर एक यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि प्रतियोगिता विरोधिता-रूप है तो घट-सम्बन्ध और घटाधिकरणता में भी घटाभाव का विरोध होने से घट-सम्बन्ध और घटाधिकरणता को भी घटाभाव का प्रतियोगी कहा जाना चाहिए; किन्तु इस प्रश्न का उत्तर यह है कि घट-सम्बन्ध और घटाधि-करणता में जो घटाभाव का विरोध होता है, वह घट में घटाभाव का विरोध होने के कारण ही होता है, क्योंकि सम्बन्ध और अधिकरणता शब्द के पूर्व यदि घट शब्द का प्रयोग न किया जाय तो केवल सम्बन्ध या केवल अधिकरणता को घटाभाव का विरोधी नहीं कहा जा सकता। अतः अभाव का प्रतियोगी वही होता है जो शुद्ध रूप से अर्थात् किसी विरोध्यन्तर का पुच्छलग्न न होकर अभाव का विरोधी हो।

प्रतियोगिता की विरोधिता-रूप मानने पर यह भी प्रश्न उठ सकता है कि यदि प्रतियोगिता विरोधिता-रूप होगी तो आकाश आदि अभाव का प्रतियोगी नहीं हो सकेगा, क्योंकि आकाश आदि अवृत्ति होने से कहीं नहीं रहता, अतः वह किसी अधिकरण में आकाशादि के अभाव का विरोध नहीं हो सकता। इसके उत्तर में यदि यह कहा जाय कि अभाव का विरोधी होने के लिए प्रतियोगी को कहीं विद्यमान होना आवश्यक नहीं है, किन्तु अभाव के अधिकरण में अविद्यमान होना मात्र आवश्यक है, अतः आकाशाभाव के अधिकरण में अविद्यमान होने से आकाश प्रति-योगी हो सकता है; किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि अभाव के अधिकरण में अविद्यमान को अभाव का प्रतियोगी मानने पर आकाशाभाव आकाशा-भावाभाव का प्रतियोगी न हो सकेगा, क्योंकि आकाश-स्वरूप आकाशा-

भावाभाव का कोई अधिकरण न होने से आकाशाभाव को आकाशाभावाभाव के अधिकरण में अविद्यमान नहीं कहा जा सकता ।

दूसरी बात यह है कि यदि अभाव के अधिकरण में अविद्यमान को अभाव का प्रतियोगी कहा जायगा तो आकाश घटाद्यभाव का भी प्रतियोगी होने लगेगा, क्योंकि वह घटाद्यभाव के अधिकरण में भी अविद्यमान है । इस प्रश्न का उत्तर यह है कि प्रतियोगिता का अर्थ वास्तव-विरोधिता नहीं है, किन्तु ज्ञायमान-विरोधिता है । फलतः अभाव का प्रतियोगी होने के लिए अभाव का वास्तव विरोधी होना आवश्यक नहीं है, किन्तु अभाव के विरोधी-रूप में ज्ञायमान होना आवश्यक है । फलतः प्रतियोगी की यह परिभाषा की जा सकती है कि जिस स्थान-विशेष में जिस सम्बन्ध-विशेष से जिस वस्तु का ज्ञान जिस समय जिस व्यक्ति को होता है, उस समय उस व्यक्ति को उस स्थान-विशेष में उस सम्बन्ध-विशेष से यदि उस वस्तु के अभाव का ज्ञान नहीं होता है तो वह वस्तु उस वस्तु के अभाव का प्रतियोगी है; जैसे, "भूतले संयोगसम्बन्धेन घटः अस्ति"—भूतल में संयोग-सम्बन्ध से घट है, इस प्रकार का ज्ञान जिस समय जिस व्यक्ति को होता है उस समय उस व्यक्ति को "भूतले संयोग-सम्बन्धेन घटो नास्ति"—भूतल में संयोग-सम्बन्ध से घट नहीं है, यह ज्ञान नहीं होता; अतः घट घटाभाव का प्रतियोगी होता है ।

उक्त रीति से प्रतियोगिता के विषय में चिन्तन करने पर यह सिद्ध होता है कि प्रतियोगिता अभाव के साथ प्रतियोगी का सम्बन्ध है । अब विचार यह करना है कि प्रतियोगिता न्याय-वैशेषिक-दर्शनों में प्रायः सभी प्राचीन विद्वानों द्वारा स्वीकृत द्रव्य आदि सात पदार्थों में ही अन्तर्भूत है अथवा उनसे उसका पृथक् अस्तित्व है । जहाँ तक दीधितिकार रघुनाथ शिरोमणि के पूर्ववर्ती विद्वानों का मत है, तदनुसार प्रतियोगिता उक्त पदार्थों में ही अन्तर्भूत है, क्योंकि प्राचीन विद्वानों ने प्रतियोगिता को कहीं प्रतियोगि-स्वरूप, कहीं प्रतियोगी-अभाव-उभय-स्वरूप और कहीं प्रतियोगितावच्छेदक-धर्मस्वरूप माना है, जैसे "शब्दवान् नास्ति" इस प्रतीति के विषयभूत शब्दवत् के अभाव की प्रतियोगिता प्रतियोगि-स्वरूप है, क्योंकि उस अभाव का प्रतियोगी आकाश एक व्यक्ति है, अतः प्रतियोगिता को प्रतियोगिस्वरूप मानने में लाघव है, यदि उसे प्रतियोगितावच्छेदकस्वरूप माना जायगा तो प्रतियोगितावच्छेदक शब्द के अनन्त

होने से प्रतियोगिता भी अनन्त होगी और अनन्त शब्दों में उस अभाव का प्रतियोगितात्व मानने में गौरव होगा। प्रतियोगी अभाव-उभयस्वरूप मानना भी उचित नहीं है, क्योंकि उस पक्ष में भी प्रतियोगी तथा अभाव दोनों में उस अभाव का प्रतियोगितात्व मानना पड़ेगा, अतः उस अभाव की प्रतियोगिता लाघववश प्रतियोगि-स्वरूप ही होती है।

प्रतियोगिता को प्रतियोगि-स्वरूप मानने पर यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि प्रतियोगिता प्रतियोगि-स्वरूप होगी तो एक वस्तु में आधाराधेयभाव के संभव न होने से प्रतियोगी-स्वस्वरूप प्रतियोगिता का आश्रय न हो सकेगा, फलतः "आकाशः शब्दवदभावप्रतियोगितावान्"—आकाश शब्दवत् के अभाव की प्रतियोगिता का आश्रय है—यह व्यवहार न हो सकेगा। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि रूप-भेद से एक व्यक्ति में भी आधाराधेय-भाव हो सकता है, अतः गगन गगनत्व-रूप से आधार और शब्दवत् के अभाव की गगनस्वरूप-प्रतियोगिता प्रतियोगितात्वरूप से आधेय हो सकती है। ऐसा मानने का कारण यह है कि जिन वस्तुओं में आधाराधेय-भाव सर्वमान्य है, उन वस्तुओं में भी वह वस्तु-भेद के कारण नहीं होता है, किन्तु रूप-भेद के ही कारण होता है, क्योंकि घट और कपाल में न्यायमतानुसार वास्तविक भेद होने पर भी कपाल में घटात्मकता का भ्रम होने पर दोनों में एकरूपता की बुद्धि हो जाने से उनमें 'घटे घटः' इस प्रकार आधाराधेयभाव का ज्ञान नहीं होता है। यदि यह कहा जाय कि उक्त भ्रम के समय उन दोनों में भेद-बुद्धि न होने से उस समय आधाराधेयभाव की प्रतीति नहीं होती है, क्योंकि उक्त प्रतीति के लिए प्रतीति के विषय-भूत वस्तुओं का भेद अपेक्षित नहीं होता है, किन्तु भेद का ज्ञान अपेक्षित होता है और यह ज्ञान उस भ्रमकाल में नहीं हो पाता, तो इस मान्यता के आधार पर भिन्न रूपों से एक वस्तु में आधाराधेयभाव-प्रतीति को दुर्घट नहीं कहा जा सकता; क्योंकि एक व्यक्ति में भी रूप-भेद से भेद का ज्ञान सम्भव हो सकने से आधाराधेय-भाव की प्रतीति का उपपादन किया जा सकता है, क्योंकि आधाराधेय-रूप से प्रतीत होने वाले पदार्थों में परस्पर-भेद की प्रमा को उक्त प्रतीति का नियामक मानने की अपेक्षा परस्पर भेद के भ्रम-प्रमा-साधारण-ज्ञान को कारण मानने में लाघव है।

प्रागभाव और ध्वंस की प्रतियोगिता को केवल प्रतियोगिस्वरूप नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर तद्घट के प्रागभाव और

तद्घट के ध्वंस की प्रतियोगिता तद्घट-स्वरूप होने से अभिन्न हो जायगी; अतः प्रतियोगिताभेद से अभाव-भेद होता है, इस मत में उन अभावों के भेद की उपपत्ति न हो सकेगी, अतएव उन अभावों की प्रतियोगिता प्रतियोगी-अभाव-उभयस्वरूप होती है, ऐसा मानने पर उक्त आपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि प्रागभाव और ध्वंस में सहज-भेद होने से तत्तत् स्वरूप प्रतियोगिता में भेद अनिवार्य है।

"अत्र घटो नास्ति"—यहाँ घट नहीं है, इस प्रतीति के विषयभूत घटाभाव की प्रतियोगिता को घटस्वरूप मानने पर अनन्त घट में उस अभाव के प्रतियोगितात्व की कल्पना में गौरव होगा। इसी प्रकार घटाभाव की प्रतियोगिता को घटाभावस्वरूप भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर अधिकरण-भेद से अभाव-भेद-पक्ष में घटाभाव के अनन्त होने से अनन्त में उस अभाव के प्रतियोगितात्व की कल्पना में गौरव होगा, अतः लाघव के कारण उसे प्रतियोगितावच्छेदक-घटत्वस्वरूप माना जाता है।

इस सन्दर्भ में इस बात को समझ लेना आवश्यक है कि व्यधिकरण-धर्मावच्छिन्नाभाव की प्रतियोगिता प्रतियोगितावच्छेदकस्वरूप, प्रतियोगिस्वरूप अथवा प्रतियोगी-अभाव-उभयस्वरूप न होकर अतिरिक्त होती है। किन्तु अतिरिक्त होने का अर्थ यह नहीं है कि द्रव्य आदि सात पदार्थों से बहिर्भूत है, अपितु प्रतियोगी, प्रतियोगितावच्छेदक एवं अभावत्रितयरूप है। अतः "घटत्वेन पटो नास्ति", "घटत्वेन दण्डो नास्ति", "दण्डत्वेन पटो नास्ति" इन प्रतीतियों के विषयभूत अभावों की प्रतियोगिताओं में भेद की उपपत्ति होने में कोई बाधा नहीं होती है।

दीधितिकार ने प्रतियोगिता को द्रव्य आदि सात पदार्थों से बहिर्भूत माना है। उनका आशय यह है कि प्रतियोगिता प्रतियोगी और अभाव के बीच का सम्बन्ध है, अतः उसे प्रतियोगी-अभाव-उभय में रहना चाहिए, क्योंकि सम्बन्ध का उभय-सम्बन्धी में विद्यमान होना आवश्यक होता है, अन्यथा वह दो वस्तु का योजक न हो सकेगा; यदि प्रतियोगिता प्रतियोगी अथवा प्रतियोगितावच्छेक आदि रूप होगी, तो वह प्रतियोगी-मात्र में ही रहेगी, अभाव में नहीं रहेगी, अतः वह प्रतियोगी और अभाव के मध्य सम्बन्ध न हो सकेगी; किन्तु यदि वह अतिरिक्त होगी, तो प्रतियोगी-अभाव-उभय में वृत्ति होकर सम्बन्ध बन सकेगी।

उदयनाचार्य ने प्रतियोगिता को अभावाभावत्व-रूप माना है। उनके अनुसार घट घटाभावाभावरूप है, अतः घटाभावाभावत्व ही घट में घटाभाव की प्रतियोगिता है। उसमें घटाभाव-निरूपितत्व स्वाभाविक है, क्योंकि अभावत्व अनुयोगिता-रूप होता है और अनुयोगिता प्रतियोगी से निरूपित होती है, अतः घटाभावाभावत्व में घटाभावाभाव के प्रतियोगी घटाभाव का निरूपितत्व विद्यमान है, इसलिए उसको प्रतियोगिता-रूप मान लेने पर उसमें घटाभावनिरूपितत्व की अतिरिक्त कल्पना नहीं करनी होगी, किन्तु यदि घट में विद्यमान प्रतियोगिता को घटाभावाभावत्वरूप न मान कर प्रतियोगि-रूप प्रतियोगितावच्छेदकरूप अथवा अतिरिक्त-पदार्थ-स्वरूप माना जायगा, तो उसमें घटाभावनिरूपितत्व की कल्पना करनी होगी। इस मत में भी प्रतियोगिता द्रव्यादि सात पदार्थों में ही अन्तर्भूत हो जाती है, क्योंकि अभावाभावत्व की कुक्षि में प्रविष्ट अभावत्व भावभेदरूप है और भेद अभाव में अन्तर्भूत है, अतः इस मत के अनुसार प्रतियोगिता अभावात्मक है।

प्रश्न यह होता है कि प्रतियोगिता यदि प्रतियोगी, प्रतियोगितावच्छेदक अथवा अभावाभावत्व-रूप होगी तो वह केवल प्रतियोगी में ही रहेगी, अभाव में नहीं रहेगी, फिर दीधितिकार ने सम्बन्ध में उभय-सम्बन्धि-निष्ठता को आवश्यक बता कर जो प्रतियोगिता के सम्बन्ध में इन कल्पनाओं की समीक्षा की है, उसका समाधान इन मतों में क्या होगा ? इसका उत्तर यह है कि सम्बन्ध को उभय-सम्बन्धी में विद्यमान होना चाहिए, यह नियम नहीं माना जा सकता, क्योंकि यह नियम केवल संयोग में ही संभव है, अतः इस नियम के मानने पर अन्य प्रतियोगिता, विषयता आदि सभी सम्बन्धों को तिलाञ्जलि देनी होगी; अथवा उन सभी को अतिरिक्त पदार्थ मानना होगा। सच तो यह है कि उन सम्बन्धों को अतिरिक्त मानने पर भी उभय-निष्ठता का सम्पादन शक्य नहीं होगा, क्योंकि उन सम्बन्धों को भी किसी सम्बन्ध से ही उभय-निष्ठ मानना होगा; एवं उस सम्बन्ध को भी किसी अन्य सम्बन्ध से उभय-निष्ठ मानना होगा और इस क्रम से पदार्थ का अभ्युपगम करने पर अतिरिक्त पदार्थ की कल्पना अनवस्था दोष से ग्रस्त हो जायगी।

प्रतियोगिता के सम्बन्ध में दीधितिकार की मान्यता के उक्त रूप से त्याज्य हो जाने पर प्रश्न यह उठता है कि प्रतियोगिता को प्रतियोगी

आदि रूप मानने पर घट आदि में घटाभाव आदि की प्रतियोगिता की आश्रयता उपपन्न करने के लिए घट आदि में प्रतियोगितात्व-रूप व्यर्थ की कल्पना करनी होगी, फिर प्रश्न यह उठेगा कि प्रतियोगितात्व आदि का अन्तर्भाव द्रव्यादि पदार्थों के किस वर्ग में होगा। इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि प्रतियोगितात्व आदि का अन्तर्भाव सामान्य पदार्थ में है। उत्तर का आशय यह है कि सामान्य पदार्थ के दो भेद हैं—जाति और अखण्डोपाधि। जाति उसे कहते हैं जो नित्य हो और समवाय सम्बन्ध से अनेक में विद्यमान हो, जैसे घटत्वादि। अखण्डोपाधि उसे कहते हैं जो जाति से भिन्न हो और ज्ञान में स्वरूपतः प्रकार हो। ज्ञान में स्वरूपतः प्रकार होने का अर्थ है, ज्ञाननिरूपित-किञ्चिद्धर्मानवच्छिन्न-प्रकारता का आश्रय, जैसे प्रतियोगितात्व, प्रकारतात्व आदि।

अवच्छेदकता

अवच्छेदकता का अर्थ है परिच्छेदकता, नियामकता अथवा नियन्त्रकता। इन सभी शब्दों के अर्थ समान है। आशय यह है कि जो किसी को परिच्छिन्न, नियमित अथवा नियन्त्रित करे वह अवच्छेदक होता है।

अवच्छेदकता अवच्छेद्य, परिच्छेद्य, नियम्य अथवा नियन्त्रणीय के भेद से अनेक प्रकार की होती है, फलतः प्रतियोगिता, अनुयोगिता, आधारता, आधेयता, विषयता, विषयिता, कार्यता, कारणता, प्रतिबन्धकता, प्रतिबध्यता आदि अवच्छेद्यों के अनेक होने से उनकी अवच्छेदकता भी अनेक होती है।

अवच्छेदक

अवच्छेदकता के आश्रय को अवच्छेदक कहा जाता है। इसके मुख्य छः भेद हैं—देश, काल, धर्म, सम्बन्ध, विषयता और विषयिता। "पर्वते मध्ये वह्निः न शिखरे"—पर्वत के मध्य देश में अग्नि है शिखर में नहीं है, इस प्रतीति से यह सिद्ध होता है कि जब जिस पर्वत में अग्नि होता है, तब उस पर्वत में अग्नि और अग्नि का अभाव दोनों साथ रहते हैं; अग्नि पर्वत के मध्य देश में रहता है और अग्नि का अभाव पर्वत के शिखर देश में रहता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि मध्य देश अग्नि का और शिखर देश अग्नि के अभाव का अवच्छेदक है। इसी प्रकार "घटस्य जन्मकाले घटे गुणो नास्ति"—घट के जन्म के समय घट में गुण का

अभाव होता है, इस प्रतीति से यह सिद्ध होता है कि घट का जन्म-काल घट में गुणाभाव का अवच्छेदक है। देश और काल में रहने वाली यह अवच्छेदकता स्वरूप-सम्बन्ध-विशेष-रूप है, अर्थात् देश, काल में विद्यमान अवच्छेकता देश-काल-स्वरूप ही है, देश-काल से भिन्न नहीं है; देश, काल स्वयं ही देश, काल के साथ तत्तत् पदार्थ के अवच्छेदकतात्मक सम्बन्ध हैं।

धर्म-सम्बन्ध-रूप अवच्छेदक का परिचय प्रतियोगितावच्छेदक के प्रसङ्ग में दिया जायगा।

विषयता भी अवच्छेदक होती है, गदाधर भट्टाचार्य का मत है कि एक ज्ञान की समानाधिकरण विषयताओं में अवच्छेद्यावच्छेदक-भाव होता है, जैसे घट में "नीलघटवद् भूतलम्" इस ज्ञान की दो विषयताएँ हैं, एक नीलनिष्ठ-प्रकारतानिरूपित-विशेष्यता और दूसरी भूतलनिष्ठ-विशेष्यता-निरूपित-प्रकारता; अतः ये दोनों एक दूसरे के अवच्छेदक हैं, इसलिए इस ज्ञान को नीलनिष्ठ-प्रकारतानिरूपित घटनिष्ठविशेष्यत्वावच्छिन्न-प्रकारता-निरूपित भूतलनिष्ठ-विशेष्यताशाली ज्ञान के रूप में वर्णित किया जाता है।

विषयिता भी अवच्छेदक होती है। गदाधर का ही यह भी मत है कि जिन विषयताओं में निरूप्य-निरूपक-भाव होता है, उनसे निरूपित विषयिताओं में अवच्छेद्यावच्छेदक-भाव होता है जैसे "नीलो घटः" इस ज्ञान की नील-निष्ठ-प्रकारता और घटनिष्ठ-विशेष्यता में निरूप्य-निरूपक-भाव होने से नीलनिष्ठ-प्रकारता-निरूपित-प्रकारितारूप-विषयिता और घटनिष्ठ-विशेष्यतानिरूपित-विशेष्यितारूप-विषयिता एक दूसरे का अवच्छेदक है, इसीलिए इस ज्ञान को नीलनिरूपित-प्रकारित्वावच्छिन्न-घटनिरूपित-विशेष्यितावद् ज्ञान के रूप में वर्णित किया जाता है।

विषयता और विषयिता में विद्यमान उक्त अवच्छेदकता भी स्वरूप-सम्बन्ध-विशेषरूप है, अवच्छेद्य तथा अवच्छेदक विषयता या विषयिता से भिन्न न होते हुए सम्बन्ध के कार्य का सम्पादक हैं।

जगदीश के मत में एक ज्ञान की समानाधिकरण दो विषयताओं में अवच्छेद्यावच्छेदकभाव नहीं, किन्तु अभेद होता है। यह मत लाघव के आधार पर प्रतिष्ठित है, क्योंकि इसमें एक ज्ञान की एक अधिकरण में

विद्यमान विषयताओं में भेद न होने से ज्ञान की विषयताओं की संख्या में कमी होती है, अतः उनके मतानुसार विषयता या विषयिता को अवच्छेदक कोटि में नहीं रखा जा सकता। इस मत के अनुसार "नील-घटवद् भूतलम्" इस ज्ञान को नीलनिष्ठ-प्रकारता-निरूपित घटनिष्ठ-प्रकारता-निरूपित भूतलनिष्ठ-विशेष्यताशाली ज्ञान के रूप में वर्णित किया जाता है, क्योंकि घटनिष्ठ-नीलनिरूपित-विशेष्यता और भूतलनिरूपित-प्रकारता में अभेद होने से घटनिष्ठप्रकारता भी विशेष्यतात्व रूप से नीलनिष्ठ-प्रकारता से निरूपित हो जाती है।

गदाधर और जगदीश के पूर्व एक ज्ञान की समानाधिकरण विषयताओं में अवच्छेद्यावच्छेदकभाव या अभेद नहीं माना जाता था, किन्तु सामानाधिकरण्यमात्र माना जाता था। अतः उस समय "नीलघटवद् भूतलम्" इस ज्ञान को नीलनिष्ठप्रकारता-निरूपित घटनिष्ठविशेष्यता-समानाधिकरणप्रकारतानिरूपित भूतलनिष्ठ विशेष्यताशाली ज्ञान के रूप में वर्णित किया जाता था। यह रूप "नीलो घटः घटवद् भूतलम्" इस समूहा-लम्बन ज्ञान का व्यावर्तक न होने से बाद में अमान्य कर दिया गया।

प्रतियोगितावच्छेदक

प्रतियोगिता के दो अवच्छेदक होते हैं—धर्म और सम्बन्ध। जिस रूप से प्रतियोगी अभाव का विरोधी होता है वह प्रतियोगितावच्छेदक धर्म होता है और जिस सम्बन्ध से विरोधी होता है वह प्रतियोगिता-वच्छेदक सम्बन्ध होता है, जैसे, संयोग सम्बन्ध से (संयोगसम्बन्धा-वच्छिन्नप्रतियोगिताक) घटाभाव का घट घटत्व-रूप से और संयोग सम्बन्ध से विरोधी होता है। इसलिए घटत्व घटाभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक धर्म और संयोग घटाभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक सम्बन्ध होता है। जो जिसका अवच्छेदक होता है वह उससे अवच्छिन्न होता है, अतएव घटाभाव की प्रतियोगिता अपने धर्मविधया[1] अवच्छेदक घटत्व से और सम्बन्धविधया[2] अवच्छेदक संयोग से अवच्छिन्न होती है।

१. धर्मविधया अवच्छेदक का अर्थ है सम्बन्धावच्छिन्न अवच्छेदकता का आश्रय धर्म।

२. सम्बन्धविधया अवच्छेदक का अर्थ है सम्बन्धानवच्छिन्न अवच्छेदकता का आश्रय सम्बन्ध। अनवस्था के भय से सम्बन्धनिष्ठ अवच्छेदकता को सम्बन्धा-वच्छिन्न नहीं माना जाता।

इसलिए संयोग सम्बन्ध से घटाभाव का अर्थ होता है संयोगसम्बन्धावच्छिन्न घटत्वावच्छिन्न घटनिष्ठ-प्रतियोगिता का निरूपक अभाव।

जो जिस सम्बन्ध से अविद्यमान होने के कारण जिस अभाव का विरोधी नहीं होता है, किन्तु अभाव के विरोधी रूप से ज्ञात होता है, वह सम्बन्ध भी उस अभाव का प्रतियोगितावच्छेदक होता है, जैसे, संयोग द्रव्य का ही सम्बन्ध होता है, गुणादि का सम्बन्ध नहीं होता। अतएव रूप संयोग सम्बन्ध से कहीं विद्यमान न होने के कारण रूपाभाव का विरोधी नहीं होता, किन्तु जिस स्थान में संयोग सम्बन्ध से रूप का भ्रमात्मक ज्ञान हो जाता है उस स्थान में संयोग सम्बन्ध से रूपाभाव का ज्ञान नहीं होता। अतः रूप संयोग सम्बन्ध से संयोगेन रूपाभाव के विरोधी रूप से ज्ञात होने के कारण संयोग संयोगेन रूपाभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक सम्बन्ध होता है। इसी प्रकार प्रतियोगी जिस रूप से कहीं भी विद्यमान न होने के कारण वस्तुतः अपने अभाव का विरोधी नहीं होता, किन्तु उस रूप से ज्ञायमान होने पर अभाव का विरोधी होता है, वह रूप भी कतिपय विद्वानों के मत में अभाव का प्रतियोगितावच्छेदक होता है, जैसे, पट घटत्व-रूप से कहीं भी विद्यमान नहीं होता; अतएव पट घटत्व-रूप से अभाव का विरोधी नहीं हो सकता, किन्तु किसी स्थान में यदि घटत्व-रूप से पट का भ्रमात्मक ज्ञान हो जाय तो उस स्थान में घटत्वेन पटाभाव का ज्ञान नहीं होगा। इसलिए घटत्वेन पटाभाव का घटत्वेन पट के विरोधी रूप में ज्ञायमान होने के कारण घटत्व घटत्वेन पटाभाव की पटनिष्ठ-प्रतियोगिता का अवच्छेदक होता है। इसी प्रकार तादात्म्य सम्बन्ध से घट घटान्योन्याभाव का विरोधी होने से तादात्म्य सम्बन्ध घटान्योन्याभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक सम्बन्ध होता है।

वृत्ति-नियामक वृत्ति-अनियामक सम्बन्ध

सम्बन्ध दो प्रकार के होते हैं—वृत्ति-नियामक और वृत्ति-अनियामक। वृत्ति-नियामक सम्बन्ध वह होता है जिससे कोई पदार्थ वृत्ति-आश्रित होता है, जैसे, संयोग, समवाय और विशेषणता घट, भूतल आदि में संयोग सम्बन्ध से और कपाल आदि में समवाय सम्बन्ध से, काल में विशेषणता (कालिक), दिशा में विशेषणता (दिक्कृत) सम्बन्ध से आश्रित होते हैं, एवं घटाभाव आदि अभाव पर्वत आदि में विशेषणता अभावीय-

स्वरूप सम्बन्ध से आश्रित होते हैं, अतः संयोग आदि उक्त चार सम्बन्ध वृत्ति-नियामक हैं।

"इह हेतौ उपाधिः" इस प्रतीति के अनुरोध से व्यभिचारित सम्बन्ध से उपाधि हेतु में आश्रित माना जाता है। अतः व्यभिचारित सम्बन्ध भी वृत्ति-नियामक होता है। वृत्ति-नियामक सम्बन्ध से ही प्रतियोगी अभाव का विरोधी होता है, अतः वही प्रतियोगिता का अवच्छेदक होता है।

उक्त सम्बन्धों से भिन्न सभी सम्बन्ध वृत्ति के अनियामक होते हैं, अतः तादात्म्य को छोड़ कर वृत्ति का अनियामक कोई भी सम्बन्ध अभाव का प्रतियोगितावच्छेदक नहीं होता।

धर्म अथवा सम्बन्ध कोई भी प्रागभाव और ध्वंस की प्रतियोगिता का अवच्छेदक नहीं होता, क्योंकि प्रतियोगी में अभाव के विरोध की उपपत्ति के लिए ही धर्म और सम्बन्ध को प्रतियोगिता का अवच्छेदक माना जाता है, जैसे, कपाल में घट समवाय-सम्बन्ध से रहता है, संयोग-सम्बन्ध से नहीं रहता, एवं भूतल में संयोग-सम्बन्ध से रहता है, समवाय-सम्बन्ध से नहीं रहता। एवं घट नीलघटत्व-रूप से ही नीलघटाभाव का विरोधी होता है; पीत घटत्वादि-रूप से अथवा केवल घटत्व-रूप से नहीं होता। अतः इस सीमित विरोधिता के निर्वाहार्थ धर्म और सम्बन्ध को प्रतियोगिता का अवच्छेदक मान कर तत्तत् सम्बन्ध और तत्तद् धर्म से तत्तत् पदार्थ को तत्तत्सम्बन्धावच्छिन्न तत्तद्धर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताक तत्तत् पदार्थाभाव का विरोधी माना जाता है; किन्तु यह युक्ति अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव में ही घटित होती है, प्रागभाव और ध्वंस में नहीं, क्योंकि ऐसा नहीं होता कि जिस समय जिस पदार्थ का प्रागभाव या ध्वंस होता है उस समय वह पदार्थ किसी रूप या किसी सम्बन्ध से स्वयं भी रहता है। अपने ध्वंस और प्रागभाव काल में कोई भी पदार्थ किसी भी रूप से अथवा किसी भी सम्बन्ध से नहीं रहता, अतः धर्म और सम्बन्ध को ध्वंस और प्रागभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक न मानने पर भी ध्वंस और प्रागभाव के प्रतियोगी के साथ उसके विरोध की उपपत्ति में कोई बाधा नहीं होती; इसलिए ध्वंस और प्रागभाव की प्रतियोगिता को किसी धर्म अथवा सम्बन्ध से अवच्छिन्न नहीं माना जाता।

किन्तु कतिपय विद्वानों ने ध्वंस और प्रागभाव की प्रतियोगिता को सम्बन्धावच्छिन्न माना है, जैसे, घट-ध्वंस का अर्थ है स्वाश्रयत्व स्वपूर्व-कालत्वान्यतरसम्बन्धावच्छिन्न-प्रतियोगिताक घटाभाव। घट-काल में स्वाश्रयत्व-सम्बन्ध से घट रहता है और घट-पूर्व-काल में स्वपूर्वकालत्व-सम्बन्ध से रहता है, अतः उक्त अन्यतर सम्बन्ध से घटाभाव-रूप घट-ध्वंस घट-काल और घट-पूर्वकाल में नहीं रहता है, किन्तु घट-नाश-काल में उक्त अनन्यतर सम्बन्ध में किसी भी सम्बन्ध से घट के न रहने से उक्त अन्यतर-सम्बन्धावच्छिन्न-प्रयियोगिताक-घटाभाव-रूप घट-ध्वंस रहता है। इसी प्रकार घटप्रागभाव स्वाश्रयत्व स्वोत्तरकालत्वान्यतर-सम्बन्धावच्छिन्न-प्रतियोगिताक-घटाभाव-रूप है। घट-काल में स्वाश्रयत्व और घट-नाश-काल में स्वोत्तरकालत्व सम्बन्ध से घट के रहने से उक्त दोनों कालों में उक्त अभाव-रूप घट-प्रागभाव नहीं रहता, किन्तु घटोत्पत्तिपूर्व-काल में उक्त अन्यतर सम्बन्ध में किसी भी सम्बन्ध से घट के न रहने से उक्त काल में उक्त अभाव-रूप घट-प्रागभाव रहता है। ध्वंस और प्राग-भाव के प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध की कल्पना उनमें संसर्गाभाव के लक्षण की उपपत्ति के लिए की गयी है, जैसे, संसर्गाभाव का लक्षण है प्रतियोगितावच्छेदक संसर्ग से प्रतियोगी के आरोप से उत्पन्न होने वाली प्रतीति का विषयभूत अभाव। इसका समन्वय संयोगेन घटाभाव में इस प्रकार होता है—संयोग से घटाभाव का प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध है संयोग; उससे प्रतियोगी घट का आरोप है; यदि यहाँ संयोग-सम्बन्ध से घट हो तो उसका प्रत्यक्ष भी हो; इससे जन्य प्रतीति है यतः यहाँ घट का प्रत्यक्ष नहीं होता है, अतः यहाँ घट का अभाव है; इस प्रतीति का विषय है घटाभाव। स्पष्ट है कि यदि ध्वंस और प्रागभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक सम्बन्ध न माना जायगा तो संसर्गाभाव के उक्त लक्षण का समन्वय न हो सकेगा, क्योंकि प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध न होने से लक्षण-घटक उक्त आरोपरूप-कारण असिद्ध है।

प्रतियोगितावच्छेदकता

प्रतियोगितावच्छेदकता के दो भेद होते हैं—स्वरूपसम्बन्ध-विशेषरूप और अनतिरिक्त-वृत्तित्व-रूप। अनतिरिक्त वृत्तित्व के दो अर्थ हैं, जो प्रतियोगिताविशेष के सहयोग से वर्णित होते हैं, जैसे, घटाभाव-प्रतियोगिता के अनतिरिक्त-वृत्तित्व का एक अर्थ होगा—घटाभाव-प्रति-

योगिता से शून्य में अवृत्तित्व; और दूसरा अर्थ होगा—स्वव्यापक-घटाभाव-प्रतियोगिताकत्व; घटत्व घटाभावप्रतियोगिता से शून्य पट आदि में अवृत्ति होने से तथा घटाभावप्रतियोगिता के घटत्व के व्यापक होने से उक्त दोनों अर्थों में घटत्व में घटाभावप्रतियोगिता की अनतिरिक्त-वृत्तित्व-रूप अवच्छेदकता है; अनतिरिक्त-वृत्तित्व के उक्त अर्थों के अनुसार घट में रहने वाले कम्बुग्रीवादिमत्त्व आदि अन्य धर्मों में भी घटाभावप्रतियोगिता की अनतिरिक्त-वृत्तित्व-रूप अवच्छेदकता रहती है, क्योंकि कम्बुग्रीवादि-मत्त्व भी घटाभावप्रतियोगिता से शून्य पट आदि में अवृत्ति है तथा घटाभावप्रतियोगिता कम्बुग्रीवादिमत्त्व का व्यापक है।

प्रतियोगिता की स्वरूप-सम्बन्ध-विशेषरूप अवच्छेदकता उस धर्म में रहती है जो प्रतियोगिविशिष्ट अभाव की प्रतीति में प्रतियोगी में विशेषण-रूप में भासित होता है, जैसे, प्रतियोगिविशिष्ट अभाव की प्रतीति है—"घटो नास्ति" यह प्रतीति, इसके प्रतियोगी घट में घटत्व विशेषण-रूप में भासित होता है, अतः घटत्व में घटाभाव की प्रतियोगिता की स्वरूप-सम्बन्ध-विशेषरूप अवच्छेदकता होती है। स्वरूप-सम्बन्ध-विशेष कहने का अभिप्राय यह है कि अवच्छेदकता कोई अतिरिक्त पदार्थ नहीं है, किन्तु अवच्छेदक-स्वरूप होते हुए अवच्छेदक के साथ अवच्छेद्य प्रतियोगिता का सम्बन्ध है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि स्वरूप-सम्बन्ध-विशेषरूप अवच्छेदकता प्रतियोगिविशिष्ट अभाव की प्रतीति में विशेषण-रूप में भासित होने वाले उसी धर्म में मान्य होती है जिसकी अपेक्षा किसी अन्य लघु धर्म को प्रतियोगिता का अवच्छेदक मानना सम्भव नहीं होता। यही कारण है जिससे "कम्बुग्रीवादिमान् नास्ति" इस प्रतीति में प्रतियोगी में विशेषण-रूप में भासित होने वाले कम्बुग्रीवादिमत्त्व को उस अभाव का प्रतियोगितावच्छेदक नहीं माना जाता; क्योंकि कम्बुग्रीवादिमत्त्व की अपेक्षा लघु धर्म घटत्व को उस अभाव का प्रतियोगितावच्छेदक मानना सम्भव है। आशय यह है कि घटत्व और कम्बुग्रीवादि-मत्त्व दोनों ही घट के धर्म हैं, उनमें घटत्व सम्पूर्ण घट में समवाय-सम्बन्ध से रहने वाली एक जाति है और कम्बुग्रीवादिमत्त्व कम्बुग्रीवारूप हैं, और उसका अर्थ है कपालद्वय-संयोग जो स्वसमवायि-समवेत-द्रव्यत्व-सम्बन्ध से घट में रहता है, जैसे, स्व है कपाल द्वारा संयोग, उसका समवायि-समवाय सम्बन्ध से आश्रय है कपालद्वय, उसमें समवेत द्रव्य है घट, अतः घट में

कम्बुग्रीवादिमत्त्व-कपालद्वयसंयोग स्वसमवायि-समवेत-द्रव्यत्व-सम्बन्ध से है। कपालद्वय-संयोगरूप कम्बुग्रीवा घट-भेद से भिन्न होने से अनन्त है और घट के साथ उसका उक्त सम्बन्ध भी गुरु है, अतएव उसकी अपेक्षा स्वरूप और सम्बन्ध दोनों दृष्टि से लघु घटत्व को ही उक्त प्रतीति के विषयभूत अभाव का प्रतियोगितावच्छेदक मानना उचित होने से उक्त गुरु-सम्बन्ध से अनन्त कम्बुग्रीवा को प्रतियोगितावच्छेदक नहीं माना जाता।

अनुयोगिता

अनुयोगिता शब्द का भी व्यवहार सम्बन्ध और अभाव दोनों के सन्दर्भ में होता है; अभाव के सन्दर्भ में अभाव स्वयं अनुयोगी कहा जाता है और अभावत्व को अनुयोगिता-विशेष कहा जाता है। इस सन्दर्भ में अनुयोगिता विरोध्यतारूप है। अभाव प्रतियोगी से विरोध्य होने के नाते प्रतियोगी का अनुयोगी कहा जाता है, जैसे, घट घटाभाव का प्रतियोगी और घटाभाव घट का अनुयोगी है। अनुयोगी और अनुयोगिता प्रतियोगी एवं प्रतियोगिता से निरूप्य होती है और प्रतियोगिता अनुयोगी एवं अनुयोगिता से निरूप्य होती है।

सम्बन्ध की प्रतियोगिता एवं अनुयोगिता

जो जिस सम्बन्ध से कहीं आश्रित अथवा सम्बद्ध होता है, वह सम्बन्ध का प्रतियोगी होता है और जहाँ आश्रित या सम्बद्ध होता है, वह उस सम्बन्ध का अनुयोगी होता है, जैसे, घट संयोग-सम्बन्ध से भूतल में आश्रित होता है, अतः घट संयोग का प्रतियोगी और भूतल अनुयोगी होता है, फलतः वह संयोग घट-प्रतियोगिक और भूतलानुयोगिक होता है। संयोग आदि सम्बन्धों की प्रतियोगिता और अनुयोगिता "भूतले घटस्य संयोगसम्बन्धः" इस व्यवहार से सिद्ध होती है, क्योंकि भूतल-शब्द में लगी सप्तमी विभक्ति का अर्थ है अनुयोगिता और घट-शब्द में लगी षष्ठी का अर्थ है प्रतियोगिता। संयोग की प्रतियोगिता संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न आधेयतारूप है और अनुयोगिता संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न आधारतारूप है। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि प्रतियोगिता और आधेयता के अभिन्न होने पर भी वह आधेयतात्वरूप से ही सम्बन्धा-वच्छिन्न होती है, प्रतियोगितात्वरूप से सम्बन्धावच्छिन्न नहीं होती।

कुछ सम्बन्ध उभय-प्रतियोगिक और उभयानुयोगिक होते हैं, जैसे, तादात्म्य, मेषद्वय का एवं बटे हुए तन्तुओं का संयोग आदि।

उभय-प्रतियोगिक उभयानुयोगिक सम्बन्धों में विषयता-विषयिता, स्वत्व-स्वामित्व आदि सम्बन्धों की भी गणना "घटीयं ज्ञानं—ज्ञातो घट: राज्ञो देश:-देशस्य राजा" इत्यादि प्रतीतियों के आधार पर विद्वानों को मान्य हैं।

सम्बन्ध

जिसके द्वारा दो वस्तुओं में आधाराधेयभाव, कार्य-कारण-भाव, विशेष्य-विशेषण-भाव, व्याप्य-व्यापक-भाव, साध्य-साधक-भाव, विरोध्य-विरोधिभाव होता है वह सम्बन्ध है, जैसे, घट-भूतल के संयोग से भूतल और घट में आधाराधेय-भाव होता है; पट और तन्तु में समवाय और तादात्म्य से कार्य-कारण-भाव होता है; घट और रूप में समवाय से विशेष्य-विशेषण-भाव होता है; धूम और वह्नि में संयोग-सम्बन्ध से व्याप्य-व्यापक-भाव होता है; संयोग से वह्नि और धूम में साध्य और साधक भाव होता है; गोत्व-अश्वत्व में समवाय से विरोध्य-विरोधि-भाव होता है।

उक्त प्रयोजनों में किसी एक से सब सम्बन्धों की सिद्धि होती है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उक्त सभी प्रयोजन किसी एक सम्बन्ध से नहीं सम्पन्न होते, किन्तु उक्त प्रयोजन अन्यतम रूप से लक्षण बन सकते हैं, अर्थात् यह कहा जा सकता है कि उक्त प्रयोजनों में किसी एक का भी जो साधक हो वह सम्बन्ध है।

सम्बन्ध का दूसरा लक्षण है संसर्गताख्य-विषयता। यह विषयता जिसमें हो उसे सम्बन्ध कहा जाता है, जैसे, "दण्डी पुरुष:" इस ज्ञान की संसर्गता का आश्रय होने से संयोग, "रूपी घट:" इस ज्ञान की संसर्गता का आश्रय होने से समवाय सम्बन्ध है।

सम्बन्ध का तीसरा लक्षण है—जिससे दो वस्तुओं में विशिष्ट प्रत्यय हो वह सम्बन्ध है, जैसे, घट-भूतल के संयोग से "घटवद् भूतलम्" इस प्रकार विशिष्ट प्रत्यय होता है। अत: संयोग घट-भूतल का सम्बन्ध है।

सम्बन्ध-भेद

सम्बन्ध के छ: मुख्य भेद हैं, जैसे साक्षात्-सम्बन्ध, परम्परा-सम्बन्ध, वृत्ति-नियामक-सम्बन्ध, वृत्ति-अनियामक-सम्बन्ध, सामान्य-सम्बन्ध और विशेष-सम्बन्ध। इनमें वृत्ति-नियामक और वृत्ति-अनियामक सम्बन्धों की

चर्चा प्रतियोगिता के प्रसङ्ग में की जा चुकी है, शेष की चर्चा अब करनी है।

जिसमें एक ही संसर्गता होती है उसे साक्षात्-सम्बन्ध कहा जाता है और जिसमें दो संसर्गताएँ होती हैं उसे परम्परा-सम्बन्ध कहा जाता है, जैसे, "घटवद् भूतलम्" इस ज्ञान में संयोग में 'कपालं घटवत्' इस प्रतीति में समवाय में क्रम से संयोगत्वावच्छिन्न एवं समवायत्वावच्छिन्न एक ही संसर्गता होने से संयोग और समवाय साक्षात्-सम्बन्ध है। इसी प्रकार कालिक, दैशिक, स्वरूप, पर्याप्ति, आधेयता, विषयता आदि भी साक्षात्-सम्बन्ध में अन्तर्भूत होते हैं, क्योंकि उन सभी में तत्तत् प्रतीतियों में एक ही संसर्गता होती है। कम्बुग्रीवा-कपालद्वय-संयोग का घट के साथ स्व-समवायिसमवाय, घटगत-रूप आदि के साथ चक्षु का संयुक्त-समवाय, रूपत्व आदि के साथ संयुक्त-समवेत-समवाय आदि सम्बन्ध परम्परा-सम्बन्ध है, क्योंकि उसके पूर्वभाग का सम्बन्ध उसके प्रतियोगी के साथ तथा उत्तरभाग का सम्बन्ध अनुयोगी के साथ होता है। अतः एक संसर्गता उसके पूर्वभाग में तथा दूसरी संसर्गता उत्तरभाग में होती है। इसलिए दो संसर्गताओं के आश्रय से घटित होने के कारण ऐसे संसर्ग को परम्परा-सम्बन्ध कहा जाता है।

उक्त सम्बन्धों में अन्तिम हैं सामान्य-सम्बन्ध और विशेष-सम्बन्ध। संयोग, समवाय आदि सामान्य-सम्बन्ध हैं। यही सम्बन्ध किञ्चित्प्रतियोगिकत्व अथवा किञ्चिद् अनुयोगिकत्व से विशिष्ट होने पर विशेष-सम्बन्ध हो जाते हैं। सामान्य-संयोग द्रव्यमात्र का सम्बन्ध होता है, किन्तु घट-प्रतियोगिसंयोग घट का ही सम्बन्ध होता है और भूतलानुयोगिक-संयोग भूतल में ही आश्रित होता है।

संयोग-सम्बन्ध

संयोग सभी द्रव्यों का सामान्य गुण है। ऐसा कोई द्रव्य नहीं है जिसमें किसी अन्य द्रव्य का कभी संयोग न होता हो। यह बाहुल्येन दो द्रव्यों के बीच होता है, किन्तु कभी-कभी दो द्रव्यों से अधिक द्रव्यों में भी होता है, जैसे, जब कई तन्तु एक साथ बट दिए जाते हैं तो उनमें होने वाला संयोग उभयाश्रित न होकर बहु-आश्रित होता है। इसके दो भेद हैं—नित्य और अनित्य।

विभु द्रव्यों का परस्पर संयोग नित्य है, क्योंकि व्यापक होने से उनमें किसी का एक स्थान छोड़ कर अन्य स्थान में जाना सम्भव न होने से तथा नित्य होने के कारण किसी का नाश न होने से उनमें संयोग का अभाव नहीं हो सकता।

विभु द्रव्यों के परस्पर संयोग से भिन्न सभी संयोग अनित्य हैं। उनका जन्म और नाश दोनों होता है। अनित्य संयोग का जन्म कर्म और संयोग से होता है, जैसे, किसी स्थिर द्रव्य में स्थानान्तर से आकर मिलने वाले द्रव्य का संयोग आकर मिलने वाले द्रव्य के कर्म से उत्पन्न होता है। ऐसे संयोगों में उदाहरणार्थ वृक्ष, पर्वत आदि के साथ पक्षी, वानर आदि का संयोग; गृह, गोष्ठ आदि के साथ मनुष्य, पशु आदि का संयोग; विद्यालय, चिकित्सालय आदि के साथ छात्र, रोगी आदि का संयोग लिया जा सकता है। ये सब संयोग संयुक्त होने वाले द्रव्यों में केवल एक के कर्म से उत्पन्न होते हैं, किन्तु जब दो द्रव्य एक दूसरे की ओर गतिशील हो किसी एक स्थान में पहुँचते हैं और आपस में मिल जाते हैं तो ऐसे द्रव्यों का संयोग दोनों के कर्म से उत्पन्न होता है, जैसे, आपस में टक्कर लेने वाले दो भेड़ों का, अखाड़े में कुश्ती करने वाले दो पहलवानों का संयोग। इस प्रकार कर्मजन्य-संयोग दो वर्गों में बट जाता है—अन्यतरकर्मज—संयुक्त होने वाले द्रव्यों में किसी एक मात्र के कर्म से जन्य संयोग और उभयकर्मज—संयुक्त होने वाले दोनों द्रव्यों के कर्म से जन्य संयोग।

कर्मज-संयोग से भिन्न जो अनित्य-संयोग होता है उसे संयोगज-संयोग कहा जाता है, जैसे, जिस भूमि पर कपाल-द्वय के संयोग से घट उत्पन्न होता है, उस भूमि के साथ घट का संयोग हो जाता है, वहाँ के आकाश, दिशा आदि के साथ भी उसका संयोग हो जाता है। यह सब संयोग कर्म-जन्य नहीं है, क्योंकि संयुक्त होने वालों में कोई भी उस समय सक्रिय नहीं है, किन्तु भूमि, आकाश आदि के साथ कपाल का संयोग पहले से विद्यमान होने के कारण उसी संयोग से भूमि, आकाश आदि के साथ कपालस्थ-घट का संयोग हो जाता है। इसी प्रकार जब कोई मनुष्य किसी वृक्ष की शाखा को अपने हाथ से पकड़ लेता है तब शाखा और हाथ का संयोग होने से वृक्ष और मनुष्य-शरीर का भी संयोग हो जाता है। वृक्ष और शरीर के उस समय निष्क्रिय होने से निश्चय ही

यह संयोग कर्मज न होकर शाखा और हाथ के संयोग से उत्पन्न होने के कारण संयोगज है।

ये सभी संयोग अपने आश्रय द्रव्यों को एक दूसरे से जोड़ते हैं, सम्बद्ध करते हैं, अतः यह अपने आश्रय द्रव्यों के सम्बन्ध कहे जाते हैं। इनमें कुछ संयोग वृत्ति-नियामक—आधाराधेय-भाव के सम्पादक होते हैं और कुछ केवल सम्बन्धिता या सम्बद्धता के नियामक होते हैं, जैसे, वृक्ष, पर्वत आदि के साथ कपि, पक्षी आदि के कर्म से उत्पन्न संयोग वृक्ष आदि में कपि की वृत्ति का नियामक है, दोनों में आधाराधेय-भाव का सम्पादक है; वृक्ष आदि आधार हैं और कपि आदि आधेय हैं, दो भेड़ों और दो मल्लों के कर्म से उत्पन्न होने वाला दो भेड़ों और दो मल्लों का संयोग वृत्ति का नियामक नहीं हैं। इस संयोग से कोई किसी का आधार या आधेय नहीं बनता, किन्तु इसके द्वारा दोनों एक दूसरे के सम्बन्धी-मात्र हो जाते हैं, दोनों एक दूसरे से सम्बद्ध हो जाते हैं।

इस प्रकार भूतल और कपाल के संयोग से भूतल और सद्योजात घट का जो संयोग होता है, वह भूतल में घट की वृत्ति का नियामक होता है। इस संयोग से भूतल और घट में आधाराधेय-भाव हो जाता है, किन्तु उसी समय कपाल-आकाश के संयोग से जो घट-आकाश का संयोग होता है, किंवा वृक्ष, शाखा और मनुष्य के हाथ के संयोग से जो वृक्ष और मनुष्य-शरीर का संयोग होता है, वह वृत्ति-नियामक नहीं होता। उससे संयुक्त होने वालों में आधाराधेय-भाव नहीं होता, किन्तु केवल सम्बन्धिता या सम्बद्धता मात्र होती है।

घट-भूतल के संयोग को वृत्ति-नियामक मानने से यह प्रश्न उठता है कि यदि घट-भूतल का संयोग वृत्ति-नियामक है तो वह जैसे भूतल में है उसी प्रकार घट में भी है, फिर जैसे उससे भूतल घट का आधार बनता है, उसी प्रकार घट को भी भूतल का आधार बनना चाहिए, तथा 'भूतले घटः' के समान 'घटे भूतलं' ऐसी प्रतीति और व्यवहार होना चाहिए। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि सामान्य-रूप से किसी वस्तु का सम्बन्ध उसकी आधारता का नियामक नहीं होता, किन्तु जिस सम्बन्ध का जो वस्तु प्रतियोगी होती है, वही सम्बन्ध उस वस्तु की आधारता का नियामक होता है और जो वस्तु जिस सम्बन्ध का अनुयोगी होती है, वह सम्बन्ध उस वस्तु की आधेयता का नियामक है। घट-भूतल का जो

संयोग होता है उसका प्रतियोगी घट होता है, भूतल नहीं होता; इसी प्रकार उसका अनुयोगी भूतल होता है, घट नहीं होता; इसीलिए वह संयोग घट-प्रतियोगिक होने से घट की आधारता का और भूतलानुयोगिक होने से भूतल की आधेयता का नियामक है, तथा भूतल-प्रतियोगिक न होने से भूतल की आधारता और घटानुयोगिक न होने से घट की आधेयता का नियामक नहीं होता है। इसीलिए भूतल आधार और घट आधेय होता है, किन्तु घट आधार और भूतल आधेय नहीं होता। घट-भूतल के संयोग का प्रतियोगी घट ही और अनुयोगी भूतल ही होता है। यह बात "भूतले घटस्य संयोगः सम्बन्धो न तु घटे भूतलस्य" इस अनुभव से सिद्ध है, क्योंकि इस अनुभव वाक्य में सप्तमी का अर्थ है अनुयोगिता और षष्ठी का अर्थ है प्रतियोगिता। अतः इस अनुभव से संयोग में भूतलानुयोगिकत्व और घटप्रतियोगिकत्व तथा घटानुयोगिकत्व और भूतलप्रतियोगिकत्व का अभाव सिद्ध है।

पुनः प्रश्न होता है कि घट-भूतल का घट-प्रतियोगिक-संयोग जैसे भूतल-निष्ठ होने से भूतल को घटाधार बनाता है, उसी प्रकार घट-निष्ठ होने से घट को भी घटाधार क्यों नहीं बनाता ? इसका उत्तर यह है कि घट-भूतल का घट-प्रतियोगिक-संयोग यद्यपि भूतल के समान घट में भी है, तथापि भूतल और घट में उसके रहने में अन्तर है। अन्तर यह है कि वह संयोग भूतल में घट-प्रतियोगिकत्व-विशिष्ट-संयोगत्व-रूप से रहता है और घट में केवल संयोगत्व या तत्संयोगत्व-रूप से रहता है और वह घट-प्रतियोगित्व-विशिष्ट-संयोगत्व-रूप से ही घटाधारता का नियामक होता है, केवल संयोगत्व या तत्संयोगत्व-रूप से नहीं होता है।

यदि यह प्रश्न हो कि जब घट-भूतल के संयोग में घट प्रतियोगिकत्व है और वह संयोग घट में है तो घट में घट-प्रतियोगिकत्व-विशिष्ट-संयोगत्व-रूप से उसके रहने में क्या बाधा है, क्योंकि विशिष्ट का अभाव विशेष्य में विशेषण का अभाव अथवा अधिकरण में विशेष्य का अभाव होने से ही होता है, जैसे, श्याम-घट जब पक कर लाल हो जाता है तब घट में श्यामता न होने से श्याम-घट का अभाव होता है; अथवा श्याम-घट को अन्यत्र हटा देने से पूर्व-स्थान में श्याम-घट का अभाव होता है, किन्तु घट-भूतल-संयोग के सम्बन्ध में ये दोनों बातें नहीं हैं; न उसमें घट-प्रतियोगिकत्व का अभाव है और न घट में उसी का अभाव है; अतः

यह कहना युक्तिसङ्गत नहीं हो सकता कि घट में घट-भूतल-संयोग का घटप्रतियोगिकत्व-विशिष्ट-संयोगकत्व-रूप से अभाव है ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि घट और भूतल का संयोग भूतल के साथ घट का सम्बन्ध है, घट के साथ घट का सम्ब्रन्ध नहीं है। इस प्रतीति से यह सिद्ध है कि घट और भूतल के संयोग में घट-प्रतियोगिकत्व अव्याप्य-वृत्ति है, भूतल वृत्तित्व-रूप से वह घट-प्रतियोगिक है, घट-वृत्तित्व-रूप से घट-प्रतियोगिक नहीं है और नियम यह है कि जो सम्बन्ध जिस वस्तु में वृत्ति होने से यद्वस्तुप्रतियोगिक होता है, उसी वस्तु में वह तद्वस्तु-प्रतियोगिकत्व-विशिष्ट-रूप से रहता है; घट और भूतल का संयोग यतः घटवृत्तित्व-रूप से घटप्रतियोगिक नहीं है, अतः घटप्रतियोगिकत्व-विशिष्टसंयोगत्व-रूप से घट में न रहने से घट को घट का आधार नहीं बना सकता।

यद्यपि घट और भूतल के संयोग से घट में घटाधारता का परिहार इस नियम से भी हो सकता है कि जो सम्बन्ध यत्प्रतियोगिक होता है उस सम्बन्ध की अनुयोगिता ही उस प्रतियोगी की आधारता का नियामक होती है; घट और भूतल के घट-प्रतियोगिक-संयोग की अनु-योगिता घट में नहीं है, अतः घट में घटाधारता की आपत्ति नहीं हो सकती; तथापि उक्त रीति से सम्बन्ध में तत्प्रतियोगिकत्व को अव्याप्य-वृत्ति मान कर ही तत्प्रतियोगिकत्व-विशिष्ट-सम्बन्ध को तदाधारता का नियामक मानना आवश्यक है, क्योंकि तत्प्रतियोगिक-सम्बन्ध की अनु-योगिता को तदाधारता का नियामक मानने पर घट-भूतल संयोग से घट में घटाधारता का परिहार हो जाने पर भी अन्यत्र आपत्ति होगी; जैसे, किसी पुस्तक के दो पत्रों को चिपका देने पर उन पत्रों का जो संयोग होता है, दोनों पत्र उस संयोग के प्रतियोगी और अनुयोगी दोनों होते हैं, अतः उन दोनों पत्रों में जैसे एक दूसरे का आधार होता है, उसी प्रकार उनमें अपनी आधारता की भी आपत्ति होगी, क्योंकि उनके संयोग का जो पत्र प्रतियोगी है वह अनुयोगी भी है, अतः तत्तत्-पत्र-प्रतियोगिक-संयोग की अनुयोगिता तत्तत्-पत्र में होने से तत्तत्-पत्र में तत्तत्-पत्र की आधारता का परिहार असम्भव होगा; किन्तु सम्बन्ध में जब तत्प्रतियोगिकत्व को अव्याप्य-वृत्ति माना जायगा तब तत्पत्र-वृत्तित्व-रूप से तत्पत्र-संयोग में तत्पत्र-प्रतियोगिकत्व का अभाव होने से तत्पत्र

में तत्पत्र-प्रतियोगिकत्व-विशिष्ट तत्पत्र-प्रतियोगिक-संयोग के न होने से तत्पत्र में तत्पत्र की आधारता का परिहार अनायास हो जायगा।

समवाय-सम्बन्ध

समवाय द्रव्य, गुण आदि से भिन्न एक भावभूत शाश्वत पदार्थ है। यह न्याय-वैशेषिक-दर्शन के सिद्धान्तों की आधारशिला है। इसी पर उन दर्शनों के सभी प्रमुख सिद्धान्त प्रतिष्ठित हैं। इसे ही जन्य द्रव्य का उसके अवयवों के साथ, गुण कर्म का द्रव्य के साथ, जाति का द्रव्य गुण कर्म के साथ, विशेष का नित्य द्रव्य के साथ सम्बन्ध माना जाता है। वस्तुतः उक्त युगलों के सम्बन्ध-रूप में ही इसकी सिद्धि होती है।

समवाय के अस्तित्व में क्या प्रमाण है, इस प्रश्न के उत्तर में नैयायिकों का कहना है कि घट-भूतल का संयोग-सम्बन्ध जैसे प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध होता है, उसी प्रकार तन्तु और पट का, पट और रूप आदि गुण तथा कर्म का, पट, रूप, कर्म आदि और पटत्व, रूपत्व, कर्मत्व आदि का समवाय-सम्बन्ध भी प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध होता है, क्योंकि जैसे घट, भूतल और उसके संयोग के साथ चक्षु का सन्निकर्ष होने पर प्रकाश आदि अन्य कारणों के सन्निधान में घट-भूतल के संयोग का "घटवद् भूतलम्" किं वा "भूतले घटः" इस प्रकार प्रत्यक्ष होता है, उसी प्रकार तन्तु, पट तथा उसके समवाय के साथ चक्षु का सन्निकर्ष होने पर "पटवन्तस्तन्तवः", "तन्तुषु पटः" इस प्रकार तन्तु-पट के समवाय का भी प्रत्यक्ष होता है। इन प्रत्यक्षात्मक बुद्धियों के आधार पर ही अनुमान द्वारा उन व्यक्तियों को भी समवाय का अस्तित्व स्वीकार करने के लिए सहमत किया जाता है जो उक्त प्रत्यक्षात्मक बुद्धियों को सम्बन्ध-ग्राही मानने में अथवा तादात्म्य स्वरूप से भिन्न सम्बन्ध का ग्राहक मानने में विमति प्रकट करते हैं। समवाय-विरोधियों की विमति का निरास करने के लिए निम्न प्रकार के अनुमानों का प्रयोग हो सकता है—

"तन्तुषु पटः" इस प्रतीति से पट में तन्तु की आधेयता और तन्तु में पट की आधारता सिद्ध होती है। इस आधेयता तथा आधारता को पक्ष करके इस प्रकार का अनुमान प्रयोग हो सकता है—तन्तु-निष्ठ-आधारता से निरूपित पटनिष्ठ-आधेयता सम्बन्ध से अवच्छिन्न है, क्योंकि

आधेयता है, जो भी आधेयता होती है, वह सम्बन्ध से अवच्छिन्न होती है, जैसे, भूतल-निष्ठ-आधारता से निरूपित घटनिष्ठ-संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न-आधेयता, अथवा—पटनिष्ठ-आधेयता-निरूपित तन्तु-निष्ठ-आधारता सम्बन्ध से अवच्छिन्न है, क्योंकि आधारता है, जो भी आधारता होती है, वह सम्बन्ध से अवच्छिन्न होती है, जैसे, घट-निष्ठ-आधेयता-निरूपित भूतल-निष्ठ-संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न-आधारता।

आधेयता और आधारता में किसी एक ही के सम्बन्धावच्छिन्न होने में कोई प्रमाण न होने से दोनों को सम्बन्धावच्छिन्न मानने के आधार पर उक्त अनुमानों की उपपत्ति होती है।

उक्त आधेयता और आधारता को संयोग-सम्बन्ध से अवच्छिन्न नहीं माना जा सकता, क्योंकि जो द्रव्य असंयुक्त अवस्था में विद्यमान होते हैं, उन्हीं में संयोग का जन्म होता है, पट तन्तु से सम्बद्ध होने से पूर्व विद्यमान नहीं होता है, अतः तन्तु के साथ पट का संयोग सम्भव न होने से पट-निष्ठ-तन्तु की आधेयता को किं वा तन्तु-निष्ठ-पटाधारता को संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न मानना सम्भव न होने से समवाय के विना "तन्तुषु पटः" इस प्रतीति की उपपत्ति न हो सकेगी।

उक्त आधेयता और आधारता को कालिक-सम्बन्ध से भी अवच्छिन्न नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर जिन तन्तुओं से जो पट नहीं उत्पन्न होता, किन्तु उनके काल में रहता है, उन तन्तुओं में उस पट की प्रतीति होने लगेगी। इस प्रकार "एषु तन्तुषु सः पटः"—इन तन्तुओं में वह पट है, और "तेषु तन्तुषु एष पटः"—उन तन्तुओं में यह पट है, ऐसी प्रतीतियों की आपत्ति होगी। अतः उक्त अनुमानों द्वारा पट-निष्ठ-तन्तु-निरूपित-आधेयता और तन्तु-निष्ठ-पटाधारता के अवच्छेदक-रूप में समवाय की सिद्धि होती है।

पट की उत्पत्ति तन्तुओं में होती है, कपाल आदि में नहीं होती। इस वस्तुस्थिति की उपपत्ति के लिए पट के प्रति तादात्म्य-सम्बन्ध से तन्तु को कारण माना जाता है। अतः समवाय-साधनार्थ निम्न प्रकार का भी अनुमान-प्रयोग हो सकता है—

तन्तु-निष्ठ-तादात्म्य-सम्बन्धावच्छिन्न-कारणता-निरूपित पट-निष्ठ-कार्यता सम्बन्धावच्छिन्न है, क्योंकि कार्यता है; जो भी कार्यता होती है

वह सम्बन्धावच्छिन्न होती है, जैसे कपाल-निष्ठ-कारणता-निरूपित घट-आदि-निष्ठ-कालिक-सम्बन्धावच्छिन्न-कार्यता। पट-निष्ठ उक्त कार्यता को संयोग-सम्बन्ध से अवच्छिन्न नहीं माना जा सकता, क्योंकि संयोग विद्यमान द्रव्यों में होता है, पट-जन्म के बाद संयोग-सम्बन्ध हो सकता है, जन्म-काल में नहीं हो सकता, क्योंकि संयोग गुण होने से उसी द्रव्य में उत्पन्न हो सकेगा जो उसकी उत्पत्ति के पूर्व हो; पट अपने जन्म-काल के पूर्व नहीं रहता, अतः जन्म-काल में उसमें संयोग नहीं उत्पन्न हो सकता। संयोग उभयनिष्ठ होता है, अतः यह नहीं कहा जा सकता कि पट के जन्म-काल में पट का संयोग पट में न उत्पन्न होकर केवल तन्तु में उत्पन्न हो सकता है, अतः पट-निष्ठ-तन्तु-कार्यता को संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न नहीं माना जा सकता। पट-निष्ठ-तन्तु-कार्यता को कालिक-सम्बन्ध से भी अवच्छिन्न नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर कालिक-सम्बन्ध से पट के जन्म-स्थान-काल में तादात्म्य-सम्बन्ध से तन्तु के न रहने से व्यभिचार होगा, अतः उसे समवाय-सम्बन्धावच्छिन्न मानना आवश्यक है।

कारणतावच्छेदक-सम्बन्ध के रूप में भी समवाय का अनुमान हो सकता है, जैसे, पट-निष्ठ-कार्यता-निरूपित तन्तु-संयोग-निष्ठ-कारणता सम्बन्धावच्छिन्न है, क्योंकि कारणता है, जो भी कारणता होती है वह सम्बन्धावच्छिन्न होती है, जैसे, पट-निष्ठ-कार्यता-निरूपित तन्तु-निष्ठ-तादात्म्य-सम्बन्धावच्छिन्न-कारणता। तन्तु-संयोग-निष्ठ उक्त कारणता को संयोग-सम्बन्ध से अवच्छिन्न नहीं माना जा सकता, क्योंकि संयोग द्रव्य का ही होता है, संयोग का नहीं होता; उसे कालिक-सम्बन्ध से भी अवच्छिन्न नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर असंयुक्त तन्तुओं में भी पट की उत्पत्ति का प्रसङ्ग होगा।

प्रतियोगितावच्छेदक-सम्बन्ध के रूप में भी समवाय का अनुमान हो सकता है, जैसे, वायु-निष्ठ-रूपाभावीय-प्रतियोगिता सम्बन्धावच्छिन्ना है, क्योंकि वह अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता है, जो भी अत्यन्ताभावीयप्रतियोगिता होती है वह सम्बन्धावच्छिन्न होती है, जैसे, जल-निष्ठ-वह्न्यभाव-निरूपित संयोगसम्बन्धावच्छिन्न-वह्नि-निष्ठ-प्रतियोगिता। रूपाभाव की उक्त प्रतियोगिता को संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर पृथिवी आदि में भी रूपाभाव की प्रतीति होने लगेगी। उसे कालिक-सम्बन्ध से भी अवच्छिन्न नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर वायु में भी रूपाभाव की प्रतीति नहीं हो सकेगी।

प्रकारतावच्छेदक-सम्बन्ध के रूप में भी समवाय की सिद्धि हो सकती है, जैसे, "घटो रूपवान्" इस ज्ञान से निरूपित घट-निष्ठ-विशेष्यता-निरूपित रूप-निष्ठ प्रकारता-सम्बन्ध से अवच्छिन्न है, क्योंकि प्रकारता है; जो भी प्रकारता होती है वह सम्बन्धावच्छिन्न होती है, जैसे, "दण्डी पुरुषः" इस ज्ञान से निरूपित पुरुष-निष्ठ-विशेष्यता-निरूपित संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न-दण्डनिष्ठ-प्रकारता। उसे संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न मानने पर उक्त प्रतीति भ्रम हो जायगी, क्योंकि घट में संयोग-सम्बन्ध से रूप नहीं रहता। इसी प्रकार इसे कालिक-सम्बन्ध से अवच्छिन्न मानने पर "वायुः रूपवान्" इस प्रतीति में प्रमात्व की आपत्ति होगी; अतः उसे समवाय-सम्बन्ध से अवच्छिन्न मानना अपरिहार्य है।

यदि यह कहा जाय कि तन्तु-निरूपित-पट-निष्ठ-आधेयता किं वा तन्तु-निष्ठ-पटाधारता, पट-निष्ठ-तन्तु-कार्यता, तन्तु-संयोग-निष्ठ-पट-कारणता, वायु-निष्ठ-रूपाभाव की रूप-निष्ठ-प्रतियोगिता, घट-निष्ठ-विशेष्यता से निरूपित रूप-निष्ठ-प्रकारता को संयोग अथवा कालिक-सम्बन्ध से अवच्छिन्न मानना सम्भव न होने पर भी स्वरूप-सम्बन्ध से अवच्छिन्न मानने में कोई बाधा नहीं है, क्योंकि स्वरूप, आधार और आधेय, कार्य और कारण, प्रतियोगी और उसका अधिकरण विशेष्य और प्रकार से भिन्न नहीं है, अतः स्वरूप को सम्बन्ध मानने में अतिरिक्त पदार्थ की कल्पना नहीं होती, जैसी कि समवाय के किसी अन्य रूप में सिद्धि न होने से उसे सम्बन्ध मानने में होती है।

स्वरूप को सम्बन्ध मानने पर यह प्रश्न उठ सकता है कि तन्तु-स्वरूप, पट-स्वरूप अथवा उभय-स्वरूप में किसी को भी तन्तु-पट का सम्बन्ध मानने पर उसके द्वारा तन्तु और पट एक दूसरे से सम्बद्ध न हो सकेंगे, क्योंकि तन्तु-स्वरूप केवल तन्तु में है, पट में नहीं हैं एवं पट का स्वरूप केवल पट में है, तन्तु में नहीं हैं, उभय-स्वरूप किसी में नहीं है, न तन्तु में ही है और न पट में ही है, क्योंकि दोनों का स्वरूप भिन्न है, जो अलग-अलग तन्तु और पट में रहता है, मिलकर कहीं नहीं रहता? इसका उत्तर यह है कि पट के आश्रय काल-विशेष में विद्यमान तन्तु ही तन्तु के साथ पट का स्वरूप-सम्बन्ध है, क्योंकि दोनों से सम्बद्ध काल के द्वारा तन्तु-स्वरूप को तन्तु के साथ पट का सम्बन्ध होने में कोई असंगति नहीं है। आशय यह है कि काल-विशेष-विशिष्ट तन्तु ही तन्तु के साथ पट

का सम्बन्ध है; काल-विशेष-निष्ठ-पट इस सम्बन्ध का प्रतियोगी है, और काल-विशेष-विशिष्ट-तन्तु से अभिन्न तन्तु अनुयोगी है, काल-निरूपित-आधेयता प्रतियोगिता का नियामक है, और तन्तु का तादात्म्य अनुयोगिता का नियामक है; उक्त तन्तु को स्वरूपत्व-रूप से पट का सम्बन्ध मानने से वह परम्परा-सम्बन्ध न होकर साक्षात्-सम्बन्ध होता है।

समवाय-विरोधियों के उक्त कथन के उत्तर में समवायवादियों का कहना है कि स्वरूप को सम्बन्ध मान कर समवाय को नकारा नहीं जा सकता, क्योंकि स्वरूप को सम्बन्ध मानने पर समवेत माने जाने वाले पदार्थों के अनन्त अधिकरणों में सम्बन्धत्व की कल्पना करने में महान् गौरव है, उसकी अपेक्षा समवेत कहे जाने वाले सभी पदार्थों के सम्बन्ध-रूप में एक समवाय की कल्पना में महान् लाघव है। स्वरूप को सम्बन्ध मानने में दूसरा दोष यह है कि उक्त रीति से काल-विशेष-विशिष्ट तन्तु आदि को पट आदि का स्वरूप-सम्बन्ध मानने पर तन्तु आदि के साथ पट का साक्षात्सम्बन्ध न होकर परम्परा-सम्बन्ध हो जायगा; स्वरूपत्व-रूप से सम्बन्ध मान कर साक्षात्सम्बन्ध की उपपत्ति करने पर परम्परा-सम्बन्ध का विलय हो जायगा, क्योंकि सभी परम्पराओं को स्वरूपत्व-रूप से सम्बन्ध मान कर उनमें साक्षात्सम्बन्धत्व की उपपत्ति की जा सकेगी। यदि यह कहा जाय कि तन्तु-पट के आश्रयभूत-काल को ही स्वरूप-सम्बन्ध मान लेने से इस दोष का परिहार हो जायगा, रूप वायु के आश्रयभूत-काल को रूप वायु का स्वरूप-सम्बन्ध मानने में कोई युक्ति न होने से वायु में रूप की आश्रयता और प्रतीति की आपत्ति भी न होगी, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि समवेत कहे जाने वाले अनन्त पदार्थों के और उनके अनन्त अधिकरणों के आश्रयभूत-काल भी अनन्त हैं, अतः काल को स्वरूप-सम्बन्ध मानने पर भी अनन्तकाल में स्वरूप-सम्बन्धत्व की कल्पना का गौरव अनिवार्य है।

यदि यह कहा जाय कि एक समवाय को सभी समवेत पदार्थों का सम्बन्ध मानने पर पदार्थ-सांकर्य की आपत्ति होगी, क्योंकि द्रव्यत्व, गुणत्व आदि का सम्बन्ध जब एक ही होगा तो गुण आदि में द्रव्यत्व का सम्बन्ध होने से द्रव्यत्व की तथा द्रव्य में गुणत्व आदि का सम्बन्ध होने से द्रव्य में गुणत्व आदि की आश्रयता का वारण न हो सकेगा; तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि समवाय द्रव्य में द्रव्यत्व का सम्बन्ध है, गुणादि में

नहीं । इसी प्रकार वह गुण आदि में गुणत्व आदि का सम्बन्ध है, द्रव्य में नहीं । अतः सभी समवेत पदार्थों का एक सम्बन्ध होने पर भी उक्त आपत्ति नहीं हो सकती । कहने का आशय यह है कि जैसे, घट-भूतल का एक ही संयोग घट और भूतल में होता है, किन्तु यह "भूतले घटस्य संयोगः न तु घटे भूतलस्य" इस अनुभव के आधार पर भूतलानुयोगिक-घटप्रतियोगिक होता है, घटानुयोगिक-भूतलप्रतियोगिक नहीं होता; उसी प्रकार द्रव्य, गुण आदि में द्रव्यत्व, गुणत्व आदि का एक ही समवाय-सम्बन्ध होने पर भी "द्रव्ये द्रव्यत्वस्य समवायः सम्बन्धो न तु गुणादिषु, गुणादौ गुणत्वादेः समवायः सम्बन्धो न तु द्रव्ये" इस अनुभव के बल से वह द्रव्यानुयोगिक द्रव्यत्व-प्रतियोगिक है, गुणादि-अनुयोगिक द्रव्यत्व-प्रतियोगिक नहीं है, एवं गुणादि-अनुयोगिक गुणत्व आदि प्रतियोगिक है, द्रव्यानुयोगिक गुणत्वादि-प्रतियोगिक नहीं है, और नियम यह है कि जो सम्बन्ध यदनुयोगिक होने से यत्प्रतियोगिक होता है वह तदनुयोगी में ही तत्प्रतियोगी की आश्रयता का नियामक होता है । समवाय यतः द्रव्यानुयोगिक होने से द्रव्यत्व-प्रतियोगिक है, गुणादि-अनुयोगिक होने से द्रव्यत्व-प्रतियोगिक नहीं है, अतः उससे द्रव्य में ही द्रव्यत्व की आश्रयता होगी, गुण आदि में नहीं होगी । इसी प्रकार वह गुणादि-अनुयोगिक होने से गुणत्वादि-प्रतियोगिक है, द्रव्यानुयोगिक होने से नहीं है; अतः उससे गुण आदि में ही गुणत्व आदि की आश्रयता होगी, द्रव्य में नहीं होगी । अतः सभी समवेत पदार्थों का एक ही समवाय-सम्बन्ध होने पर भी पदार्थ-सांकर्य की आपत्ति नहीं हो सकती ।

समवाय मूलतः साक्षात्सम्बन्ध है, किन्तु आवश्यकतानुसार वह परम्परा-सम्बन्ध का अङ्ग बनता है, जैसे, घट के रूप आदि के साथ चक्षु का चक्षुसंयुक्त-घटसमवाय, पट के साथ तन्तु-रूप का स्वसमवायि-समवाय, सामान्य, विशेष समवाय के साथ सत्ता जाति का स्वसमवायि-द्रव्यादि-समवाय आदि में । साक्षात्सम्बन्ध होने की दशा में वह वृत्ति-नियामक तथा प्रतियोगिता का अवच्छेदक सम्बन्ध होता है और परम्परा-सम्बन्ध होने की दशा में वृत्ति का अनियामक तथा प्रतियोगिता का अनवच्छेदक होता है ।

न्याय-मत में सम्बन्ध के प्रत्यक्ष में सम्बन्धिद्वय का प्रत्यक्ष कारण माना जाता है, अतः प्रत्यक्षसम्बन्धी रूप, घट आदि के साथ समवाय का प्रत्यक्ष होता है ।

वैशेषिक-मत में सम्बन्ध के प्रत्यक्ष में उसके यावद् आश्रय के प्रत्यक्ष को कारण माना जाता है। समवाय के एक होने से उसके आश्रय आकाश आदि का प्रत्यक्ष न होने से यावद् आश्रय के प्रत्यक्ष रूप कारण का अभाव होने के नाते समवाय का प्रत्यक्ष नहीं होता। समवाय का प्रत्यक्ष सम्भव होने से न्यायमत में "रूपवान् घटः" आदि विशिष्ट बुद्धियों के संसर्गविधया विषय-रूप में समवाय का अनुमान होता है, जैसे, "रूपवान् घटः" यत्-प्रत्यक्ष-बुद्धि विशेष्य-विशेषण के सम्बन्ध को विषय करती है, क्योंकि वह विशिष्ट बुद्धि है, जो भी विशिष्ट बुद्धि होती है वह सभी विशेष्य-विशेषण के सम्बन्ध को विषय करती है, जैसे, "दण्डी पुरुषः" यह बुद्धि दण्ड-पुरुष के संयोग को विषय करती है।

समवाय का प्रत्यक्ष सम्भव न होने से वैशेषिक-मत में उक्त बुद्धि के कारण-रूप में समवाय का अनुमान होता है, जैसे, "रूपवान् घटः" यह प्रत्यक्ष प्रमा विशेष्य-विशेषण के सम्बन्ध से जन्य है, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमा है, जो भी प्रत्यक्ष प्रमा होती है, वह विशेष्य-विशेषण के सम्बन्ध से जन्य होती है, जैसे, "दण्डी पुरुषः" यह प्रत्यक्ष प्रमा दण्ड-पुरुष के संयोग से जन्य है।

वैशेषिक-मत में "रूपाभाववान् घटः" इस बुद्धि में "रूपवान् घटः" इस बुद्धि को समवाय-सम्बन्ध से अतिरिक्त सम्बन्ध से अनवच्छिन्न-रूप-निष्ठ-प्रकारता-निरूपित-घटत्वावच्छिन्नविशेष्यताक-निश्चयत्वरूप से प्रतिबन्धकता होती है, अतः "रूपवान् घटः" इस प्रत्यक्ष प्रमा में रूप-निष्ठ-प्रकारता में सम्बन्धावच्छिन्नत्व न होने पर भी उसमें "रूपाभाववान् घटः" इस बुद्धि की प्रतिबन्धकता उपपन्न हो जाती है।

समवाय का लक्षण

अपने दोनों सम्बन्धियों से भिन्न नित्य सम्बन्ध समवाय है। यदि इस लक्षण में से नित्य अंश को निकाल दिया जाय तो घट-भूतल के संयोग में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि वह अपने दोनों सम्बन्धी घट और भूतल से भिन्न है तथा दोनों के मध्य सम्बन्ध है। एक सम्बन्धी से भिन्न कहने पर आकाश के साथ घटाद्यभाव के स्वरूप-सम्बन्ध में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि आकाश के एक होने से लाघवात् उसी का स्वरूप-सम्बन्ध है, घटाद्यभाव का स्वरूप नहीं; अतः वह अपने एक सम्बन्धी घटाद्यभाव से भिन्न है।

घटत्व आदि भी सामान्य-लक्षणा-प्रत्यासत्ति के रूप में घट आदि के साथ चक्षु का सम्बन्ध है तथा अपने सम्बन्धी घटादि एवं चक्षु से भिन्न और नित्य है, अतः उसमें उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। इसी प्रकार विभु-द्वय के नित्य संयोग में अतिव्याप्ति होगी। अतः उक्त लक्षण में सम्बन्ध का अर्थ है विशिष्ट-प्रत्यय-जनन-योग्य। घटत्व आदि सामान्य-लक्षणा-प्रत्यासत्ति द्वारा कभी भी "घटादिः चक्षुष्मान्" ऐसा विशिष्ट-प्रत्यय तथा संयोग-सम्बन्ध से "आकाशः कालवान्" ऐसा विशिष्ट-प्रत्यय नहीं होता, अतः घटत्व आदि एवं विभु-द्वय-संयोग में विशिष्ट-प्रत्यय-जनन-योग्यता न होने से उसमें अतिव्याप्ति नहीं होती।

विशेषणता

विशेषणता शब्द न्याय-वैशेषिक-दर्शन में दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है—ज्ञान की एक विषयता के अर्थ में तथा स्वरूप-सम्बन्ध के अर्थ में, जैसे, "घटवद् भूतलम्" इस ज्ञान में घट भूतल का विशेषण होकर भासित होता है, अतः उसमें उक्त ज्ञान की विशेषणता-रूप-विषयता है; उसी ज्ञान में घट-भूतल के सम्बन्ध-रूप में भासित होने वाले संयोग में संयोगत्व विशेषण होकर भासित होता है, अतः संयोगत्व में भी उक्त ज्ञान की विशेषणता-रूप-विषयता है। घट-निष्ठ-विशेषणता और संयोगत्व-निष्ठ-विशेषणता में अन्तर यह है कि पहली सम्बन्धावच्छिन्न है और दूसरी सम्बन्धानवच्छिन्न। पहली प्रकारता शब्द से भी व्यवहृत होती है, किन्तु दूसरी विशेषणता शब्द से ही अभिहित होती है। पहली विशेषणता प्रकारता-रूप से ज्ञान का जन्यतावच्छेदक होती है, क्योंकि तत्प्रकारक-ज्ञान के प्रति तद्विषयक-ज्ञान को कारण माना जाता है। इस कार्य-कारण-भाव का ही यह फल है कि जो वस्तु ज्ञात नहीं रहती, वह ज्ञान में प्रकार नहीं हो सकती। घट का ज्ञान पूर्व में न रहने पर "घटवद् भूतलम्" इस घट-प्रकारक-ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती और "अयं घटः" इस घटत्व-प्रकारक-ज्ञान के पूर्व घटत्व-विषयक-निर्विकल्पक ज्ञान को मान्यता दी जाती है। सामान्य रूप से विशेषणता को जन्यता-वच्छेदक मान कर तद्विशेषणक-बुद्धि में तद्-विषयक ज्ञान को कारण नहीं माना जाता; जिसका फल यह होता है कि "घटं पश्यति" इस वाक्य के घटक किसी शब्द से आधेयतात्व-रूप आधेयता की उपस्थिति न होने पर भी उस वाक्य से उत्पन्न शाब्दबोध में द्वितीया विभक्ति के अर्थ

विषयता में घट के सम्बन्ध-रूप से भासित होने वाली आधेयता में आधेयतात्व विशेषण होकर भासित होता है।

स्वरूप-सम्बन्ध के अर्थ में प्रयुक्त विशेषणता शब्द तीन प्रकार की विशेषणता का बोधक होता है—अभावीय विशेषणता, कालिक विशेषणता और दैशिक विशेषणता। अभावीय विशेषणता का अर्थ है अभाव का स्वरूप-सम्बन्ध। यह अभाव के अधिकरण-स्वरूप होता है, जैसे, जिस काल में जिस भूतल आदि अधिकरण में घटाभाव की बुद्धि होती है, तत्काल-विशिष्ट-भूतलादि स्वरूपत्व रूप से भूतल आदि के साथ घटाभाव का सम्बन्ध होता है। कालिक विशेषणता को संक्षेप में कालिक शब्द से व्यवहृत किया जाता है। यह काल-स्वरूप होता है। काल के साथ स्वयं काल ही घट आदि पदार्थों का कालिक-विशेषणतात्व-रूप से अथवा कालिकत्व-रूप से सम्बन्ध होता है। दैशिक विशेषणता शब्द का प्रयोग दिङ्निष्ठ-विशेषणता और देशनिष्ठ-विशेषणता इन दोनों अर्थों में होता है। दिङ्निष्ठ-विशेषणता दिशा-रूप होती है और देशनिष्ठ-विशेषणता देशस्वरूप होती है। दिशास्वरूप विशेषणता दिशा के साथ वस्तुमात्र का सम्बन्ध है, देशस्वरूप-विशेषणता अभावीय विशेषणतारूप ही है, जिस देश में जो अभाव प्रमित होता है उस देश का स्वरूप ही उसका सम्बन्ध होता है। ये तीनों विशेषणताएँ वृत्तिनियामक तथा अभाव की प्रतियोगिता का सम्बन्धविधया अवच्छेदक होती हैं।

पर्याप्ति

पर्याप्ति भी एक विशेष प्रकार का स्वरूप-सम्बन्ध है, जैसी कि न्याय-जगत् में प्रसिद्धि है—**"पर्याप्तिश्च अयमेकः, इमौ द्वौ इति प्रतीतिसाक्षिकः स्वरूप-सम्बन्ध-विशेषः"**—पर्याप्ति विशेष प्रकार का स्वरूप-सम्बन्ध है, जिसमें साक्षी है "अयमेकः, इमौ द्वौ" यह प्रतीति। "अयमेकः" इस प्रतीति से एकत्व की पर्याप्ति सिद्ध होती है, जिससे एकमात्र में रहने वाली अवच्छेदकता आदि की पर्याप्ति का होना संकेतित होता है। "इमौ द्वौ" इस प्रतीति से द्वित्व की पर्याप्ति सिद्ध होती है, जिससे दो में रहने वाली अवच्छेदकता आदि पदार्थों की पर्याप्ति होने का संकेत मिलता है। यह अपने प्रतियोगी एकत्व, द्वित्व आदि से अभिन्न होने के कारण स्वरूप-सम्बन्ध-विशेष शब्द से अभिहित होती है।

प्रश्न होता है कि द्वित्व के समवाय से ही "द्वौ" इस प्रतीति की उपपत्ति कर ली जाय, उसके लिए पर्याप्ति नाम से द्वित्व-स्वरूप को द्वित्व का सम्बन्ध मानने की क्या आवश्यकता है ? इसका उत्तर यह है कि यदि द्वित्व के समवाय से "द्वौ" इस प्रतीति की उपपत्ति की जायेगी तो 'घटौ' इस प्रतीति के समान 'आकाशौ' इस प्रतीति की भी आपत्ति होगी, क्योंकि घट आकाशगत द्वित्व समवाय-सम्बन्ध से आकाश में भी रहता है और जब द्वित्व-स्वरूप पर्याप्ति को द्वित्व का सम्बन्ध माना जायगा तब धर्मितावच्छेदक से व्याप्य द्वित्व को द्वित्व का पर्याप्ति सम्बन्ध मानने पर यह आपत्ति नहीं होगी, क्योंकि "आकाशौ" इस प्रतीति में धर्मितावच्छेदक है आकाशत्व और आकाशत्व का व्याप्य कोई द्वित्व नहीं है, क्योंकि दो आकाश न होने से आकाश और किसी अन्य में रहने वाला द्वित्व ही आकाश में रहेगा और वह द्वित्व आकाश से भिन्न में भी रहने से आकाशत्व का व्याप्य न हो सकेगा। "घटौ" यह प्रतीति होगी, क्योंकि दो घट में रहने वाला द्वित्व घटत्व का व्याप्य होने से घट के साथ द्वित्व का सम्बन्ध हो सकेगा। यह व्यवस्था समवाय से द्वित्व का भान मानने पर नहीं हो सकती, क्योंकि समवाय के एक होने से घट-द्वय में विद्यमान द्वित्व का समवाय घट-भिन्न में भी रहने के कारण घटत्व का व्याप्य नहीं हो सकेगा; अतः शुद्ध समवाय को ही द्वित्व का सम्बन्ध मानना होगा और उस स्थिति में "घटौ" के समान "आकाशौ" इस प्रतीति की भी आपत्ति होगी, क्योंकि घटाकाशगत-द्वित्व समवाय-सम्बन्ध से आकाश में प्राप्य है।

इस सन्दर्भ में यह ज्ञातव्य है कि जहाँ धर्मितावच्छेदक केवल एक धर्म होता है वहीं धर्मितावच्छेदक-व्याप्य-पर्याप्ति-सम्बन्ध से द्वित्व का भान होता है, जैसे, "घटौ, पटौ" इत्यादि प्रतीति। किन्तु जहाँ धर्मितावच्छेदक एक से अधिक होता है वहाँ शुद्ध पर्याप्ति से द्वित्व का भान होता है, जैसे, "घटपटौ" इत्यादि प्रतीति, क्योंकि इस प्रतीति में घटत्व, पटत्व दो धर्म धर्मितावच्छेदक हैं और घट-पट-निष्ठ-द्वित्व उन दोनों का व्याप्य नहीं है।

एकत्व तथा एकमात्र में रहने वाले अन्य धर्म का पर्याप्ति-सम्बन्ध होने में कतिपय विद्वानों की विमति है। उनका कहना है कि जिस युक्ति से द्वित्व की पर्याप्ति को मान्यता प्राप्त होती है उस युक्ति जैसी कोई युक्ति

एकत्व आदि की पर्याप्ति के पक्ष में प्राप्य नहीं है। "एकत्वम् एकस्मिन्नेव पर्याप्तं न तु द्वित्वम्"—एकत्व एकमात्र में पर्याप्त होता है, किन्तु द्वित्व ऐसा नहीं होता है, इस प्रतीति के बल से एकत्व की पर्याप्ति का समर्थन नहीं हो सकता, क्योंकि एकत्व एकमात्र में पर्याप्त है, इसका अर्थ है एकत्व एकमात्र में समवेत है। उसके लिए एक से अधिक आश्रय की अपेक्षा नहीं है, किन्तु द्वित्व ऐसा नहीं है। केवल एक आश्रय में द्वित्व का समवेत होना सम्भव नहीं है, क्योंकि एकाधिक आश्रय के विना उसका जन्म ही नहीं हो सकता।

पर्याप्ति के सम्बन्ध में जगदीश और गदाधर के दृष्टि-भेद को समझ लेना आवश्यक है। जगदीश पर्याप्ति का माध्यमिक स्वरूप मानते हैं, अर्थात् कोई विशेषण लगा कर पर्याप्ति के प्रतियोगी का संकोच करना उन्हें मान्य है, जैसे महानसीय वह्न्यभाव की प्रतियोगितावच्छेदकता महानसीयत्व और वह्नित्व दो धर्मों में पर्याप्ति सम्बन्ध से रहती है। अतः महानसीय वह्न्यभाव प्रतियोगितावच्छेदकता पर्याप्ति का प्रतियोगी है। जगदीश के अनुसार इस प्रतियोगी को विशेषण द्वारा संकुचित किया जा सकता है, जैसे, उक्त अवच्छेदकता महानसीयत्व और वह्नित्व में यदि भिन्न-भिन्न है और महानसीय वह्न्यभाव प्रतियोगितावच्छेदकतात्व-रूप से दोनों का अनुगम कर उन्हें पर्याप्ति का प्रतियोगी बनाया जाता है तो उसे महानसीयत्वावृत्तित्व विशेषण से संकुचित किया जा सकता है और महानसीयत्वावृत्ति महानसीय वह्न्यभाव-प्रतियोगितावच्छेदतात्व-रूप से वह्नित्व-मात्र में पर्याप्ति सम्बन्ध से उसे सीमित किया जा सकता है एवं यदि महानसीयत्व, वह्नित्व में महानसीय वह्न्यभाव-प्रतियोगितावच्छेदकता एक हो तो उसे वह्नित्वावृत्तित्व विशेषण से उसी प्रकार नहीं संकुचित किया जा सकता, जैसे घटत्व को नीलघटावृत्तित्व विशेषण से नहीं संकुचित किया जा सकता। किन्तु जैसे घटत्व को पीत घट वृत्तित्वविशिष्टत्वरूप से संकुचित किया जाता है, उसी प्रकार महानसीयत्व और वह्नित्व दोनों में रहने वाली एक महानसीय वह्न्यभाव-प्रतियोगितावच्छेदकता को भी वह्नित्व-वृत्तित्व-विशिष्टत्व-रूप से संकुचित किया जा सकता है और वह्नित्व-मात्र में पर्याप्ति-सम्बन्ध से रखा जा सकता है। किन्तु गदाधर को यह मान्य नहीं है। उनका कहना है कि "वह्नित्वमहानसीयत्वे महानसीयवह्न्यभाव-प्रतियोगितावच्छेदके"—वह्नित्व

और महानसीयत्व यह दो महानसीय वह्न्यभाव के प्रतियोगितावच्छेदक हैं, इस सार्वजनीन प्रतीति से महानसीय वह्न्यभाव-प्रतियोगितावच्छेदकतात्व-रूप से उक्त अवच्छेदकता की पर्याप्ति महानसीयत्व वह्नित्व दो में तो सिद्ध है, किन्तु ऐसी कोई स्वाभाविक प्रतीति नहीं है जिससे उक्त विशेषण से संकुचित होकर वह्नित्वभाव में उसका पर्याप्ति-सम्बन्ध से रहना सिद्ध हो। अतः पर्याप्ति के प्रतियोगी का संकोच निर्युक्तिक होने से अमान्य है।

अभाव के स्वरूप-निर्धारण में पर्याप्ति की ऐसी आवश्यकता है जिसकी पूर्ति प्रकारान्तर से शक्य नहीं है, जैसे, "घटो नास्ति" इस प्रतीति के विषयभूत घटाभाव का प्रसङ्ग लेकर इस बात की परीक्षा की जा सकती है।

घटाभाव का अर्थ यदि घट-प्रतियोगिक-अभाव किया जायगा तो नील घट के अधिकरण में भी घट-प्रतियोगिक पीतघटाभाव के रहने से "घटो नास्ति" इस प्रतीति की आपत्ति होगी। घटत्व से भिन्न धर्म से अनवच्छिन्न घटनिष्ठ-प्रतियोगिता के निरूपक अभाव को यदि घटाभाव कहा जायगा तो घटत्वेन पीतघटाभाव को लेकर नील घट के अधिकरण में "घटो नास्ति" इस प्रतीति की आपत्ति होगी। यदि घटत्वेतर-धर्मानवच्छिन्न घटत्वव्यापक-प्रतियोगिता के निरूपक अभाव को घटाभाव कहा जायगा तो तद्घट-मात्र के आश्रय में घटत्वेन तद्घट, तद्घटान्य-घट उभयाभाव को लेकर उक्त प्रतीति की आपत्ति होगी। अतः इन आपत्तियों के परिहारार्थ पर्याप्ति का करालम्बन कर घटाभाव को इस प्रकार परिभाषित करना होगा—

घटत्वगत-एकत्व में वृत्ति अनुयोगिता का आश्रय अभाव घटाभाव है। तद्वृत्ति स्वनिरूपित-अवच्छेदकता प्रतियोगिक-पर्याप्ति-अनुयोगिता-अवच्छेदकत्व तथा स्वनिरूपित-निरूपकतावच्छेदकता-प्रतियोगिक-पर्याप्ति-अनुयोगिता-अवच्छेदकत्व, इस उभय सम्बन्ध से। ऐसा अभाव घटाभाव ही होगा, क्योंकि उसका प्रतियोगितावच्छेदक और प्रतियोगिनिष्ठ-निरूपकता का अवच्छेदक एक ही है और वह है घटत्व; अतः घटाभावत्व-रूप-अनुयोगिता उक्त उभय सम्बन्ध से घटत्वगत-एकत्व में वृत्ति होगी।

अभाव के निर्वचन की अन्य गति न होने से एकमात्र वृत्ति धर्म की पर्याप्ति मानना अनिवार्य हो जाता है।

अभावत्व–अनुयोगिता

अभावत्व भी एक प्रकार का स्वरूप-सम्बन्ध है जैसा कि व्याप्ति के सिद्धान्त-लक्षण की दीधिति में रघुनाथ शिरोमणि ने कहा है--**"अभावत्वं च इदमिह नास्ति इदमिदं न भवति इति प्रतीतिनियामको भावाभावसाधारणः"**—अभावत्व यह यहाँ नहीं है, अर्थात् अमुक वस्तु अमुक स्थान में नहीं है, जैसे, भूतल में घट नहीं है और 'यह यह नहीं है', अर्थात् यह वस्तु यह दूसरी वस्तु नहीं है, जैसे, घट पट नहीं है, इस प्रतीति का नियामक भाव अभाव दोनों में रहने वाला विशेष प्रकार का स्वरूप-सम्बन्ध है। आशय यह है कि "इदमिह नास्ति"—यह यहाँ नहीं है, भूतल में घट नहीं है, अर्थात् भूतल में घटाभाव है, एवं यह यह नहीं है—घट पट नहीं है, घट पट का परस्पर में अन्योन्याभाव है, अर्थात् घट में पट का और पट में घट का अन्योन्याभाव है, इस प्रतीति का होना अभावत्व पर निर्भर है। यदि अभावत्व न हो तो किसके बल पर अभाव का होना सिद्ध होगा और यदि अभाव न सिद्ध होगा तो किसे घट आदि से विशेषित कर "भूतल में घट का अभाव है", इस रूप में अवगत और व्यवहृत किया जायगा। अतः स्पष्ट है कि उक्त प्रतीति का नियामक अभावत्व ही है। वह भाव और अभाव दोनों का धर्म है, क्योंकि जैसे, "भूतले घटो नास्ति" इस रूप में भूतल आदि में घट आदि भाव के निषेध की प्रतीति होती है, "घटे घटत्वाभावो नास्ति" इस रूप में घट आदि में घटत्व आदि के अभाव के भी निषेध की प्रतीति होती है, अतः अभावत्व को घटत्वाभावाभाव-पटत्वात्मक-भाव का भी धर्म मानना अनिवार्य है, क्योंकि यदि भावभूत-घटत्व में अभावत्व नहीं होगा तो उसे घटत्वाभाव का अभाव कैसे कहा जायगा।

प्रश्न होता है कि ठीक है, अभावत्व "इदमिह नास्ति" और "इदमिदं न भवति" इस प्रतीति का नियामक भाव अभाव दोनों का धर्म है, किन्तु वह स्वयं क्या है? इसी प्रश्न का यह उत्तर है कि वह स्वरूप-सम्बन्ध-विशेष है, अर्थात् अभावत्व अभाव-स्वरूप होते हुए अभाव के साथ प्रतियोगी का सम्बन्ध है; जब वह प्रतियोगी घट आदि के सम्बन्धितावच्छेदक रूप से विवक्षित होता है तब उसे अभावत्व शब्द से अभिहित किया जाता है और जब वह अभाव के साथ प्रतियोगी घट आदि के सम्बन्ध-रूप में विवक्षित होता है तब उसे अनुयोगिता शब्द से

अभिहित किया जाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि अभावत्व अनुयोगिता नाम से अभाव के साथ प्रतियोगी का सम्बन्ध है और अभावात्मक-सम्बन्धी से भिन्न न होने के कारण स्वरूप-सम्बन्ध-विशेष शब्द से व्यपदिष्ट होता है।

आधेयता–आधारता

आधेयता–आधारता भी स्वरूप-सम्बन्ध-विशेष है, जैसे, "घटं पश्यति" में घट-शब्दोत्तर द्वितीया विभक्ति 'अम्' का अर्थ है विषयता; उसके साथ घट का अन्वय आधेयता कि वा आधारता सम्बन्ध से होता है और आधेयता तथा आधारता अपने सम्बन्धी घट से भिन्न नहीं हैं। आधेयता को वृत्ति, वृत्तिता, निष्ठत्व आदि शब्दों से भी व्यवहृत किया जाता है और आधारता को आश्रयता, अधिकरणता आदि शब्दों से व्यवहृत किया जाता है।

विषयता–विषयिता

विषयता और विषयिता भी स्वरूप-सम्बन्ध-विशेष है, "चैत्रो घटं जिज्ञासते"—चैत्र को घट की जिज्ञासा है, इसमें 'जिज्ञासते' यह क्रियापद 'ज्ञा' धातु से इच्छार्थक 'सन्' प्रत्यय होने से निष्पन्न 'जिज्ञास' इस सन्नन्त धातु से 'त' प्रत्यय द्वारा निष्पन्न है। इसमें जिज्ञास' धातु के घटक 'सन्' प्रत्यय के अर्थ इच्छा में 'जिज्ञास' के घटक 'ज्ञा' धातु के अर्थ ज्ञान का विषयता कि वा विषयिता-सम्बन्ध से अन्वय होता है; इसलिए 'जिज्ञास' का अर्थ होता है ज्ञान-विषयक-इच्छा। ज्ञान में इच्छा की विषयता कि वा इच्छा में ज्ञान-निरूपित-विषयिता दोनों इच्छा के अस्तित्व पर निर्भर होने से इच्छा-रूप हैं और ज्ञान तथा इच्छा को परस्पर सम्बद्ध करने के नाते सम्बन्ध हैं। इस प्रकार अपने सम्बन्धी इच्छा से अभिन्न होते हुए सम्बन्ध का कार्य-सम्पादन करने से यह दोनों ही स्वरूप-सम्बन्ध-विशेष हैं। विषयता को सम्बन्ध मानने पर उसका आश्रय उसका प्रतियोगी होता है और उसका निरूपक अनुयोगी होता है एवं विषयिता को सम्बन्ध मानने पर उसका निरूपक प्रतियोगी तथा उसका आश्रय अनुयोगी होता है। प्राचीन नैयायिकों ने विषयता को और नवीन नैयायिकों ने विषयिता को सम्बन्ध माना है।

प्रतियोगिता–अनुयोगिता

प्रतियोगिता–अनुयोगिता भी स्वरूप-सम्बन्ध का ही प्रभेद है। "घटस्य अभावः"—घड़े का अभाव, इस वाक्य में घट शब्द के साथ लगी

'स्य' इस षष्ठी विभक्ति का अर्थ है सम्बन्ध, जो हिन्दी वाक्य के 'का' से सूचित होता है। षष्ठी के इस अर्थ के योग से "घटस्य अभावः" का अर्थ है घट-सम्बन्धी-अभाव। अभाव के साथ घट का यह सम्बन्ध संयोग या समवाय नहीं हो सकता, क्योंकि संयोग, समवाय अभाव में नहीं रहते। तादात्म्य भी नहीं हो सकता, क्योंकि घट और अभाव परस्पर विरोधी हैं और विरोधियों में तादात्म्य नहीं होता। कालिक भी नहीं हो सकता, क्योंकि अभाव–अत्यन्ताभाव नित्य है और "नित्येषु कालिकायोगः"–नित्य में कालिक-सम्बन्ध नहीं रहता। घट और अभाव के बीच कालिक-सम्बन्ध मानने पर दूसरा दोष यह होगा कि पटाभाव भी कालिक-सम्बन्ध से घट का सम्बन्धी होने से घटाभाव शब्द से व्यहृत होने लगेगा। उक्त कारणों से अभाव के साथ घट का कोई अन्य ही सम्बन्ध मानना होगा और जो सम्बन्ध उन दोनों के मध्य होगा उसी का नाम है प्रतियोगिता अथवा अनुयोगिता। घटाभाव के दो अंश हैं एक घट, दूसरा अभाव। इन दोनों के मध्य सम्बन्ध है; उसका प्रतियोगी है घट और अनुयोगी है अभाव। यदि वह सम्बन्ध प्रतियोगिता है, जिसका अन्य नाम विरोधिता हो सकता है तो उसका आश्रय होगा घट और निरूपक होगा अभाव; और यदि वह सम्बन्ध अनुयोगिता है, जिसका नामान्तर है अभावत्व तो उसका आश्रय अभाव होगा उसका अनुयोगी, और उसका निरूपक घट होगा उसका प्रतियोगी। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्रतियोगिता या अनुयोगिता घट-प्रतियोगिक-अभावानुयोगिक-सम्बन्ध है। प्रतियोगिता प्रतियोगी घट से अभिन्न होते हुए सम्बन्ध-कार्य का सम्पादन करने से और अनुयोगिता अपने आश्रय अभाव से अभिन्न होते हुए सम्बन्ध का कार्य-सम्पादन करने से स्वरूप-सम्बन्ध-विशेष है।

अवच्छेदकता–अवच्छेद्यता

अवच्छेदकता और अवच्छेद्यता भी स्वरूप-सम्बन्ध के ही अन्तर्गत आते हैं, जैसे, "द्रव्यं न गुणः" का अर्थ होता है "द्रव्यभिन्नो गुणः"—गुण द्रव्य से भिन्न है। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि "द्रव्यं न गुणः" में 'न' के अर्थ-भेद में द्रव्य का प्रतियोगिता-सम्बन्ध से अन्वय होने पर द्रव्यत्व का स्वावच्छिन्न-प्रतियोगिता-सम्बन्ध से अन्वय होता है। इसलिए "द्रव्यं न" का अर्थ हो जाता है द्रव्यत्वावच्छिन्न-प्रतियोगिता-निरूपक-भेद। इस भेद का अपने प्रतियोगितावच्छेदक द्रव्यत्व के साथ विरोध है, अतः

वह द्रव्यत्व के किसी आश्रय में नहीं रहता, किन्तु द्रव्यत्व से शून्य गुण आदि में ही रहता है। यही कारण है कि "द्रव्यं न" यह प्रतीति घट आदि में न होकर गुण आदि में ही होती है, किन्तु "द्रव्यं न" इसमें यदि 'न' के अर्थ-भेद में द्रव्यत्व का स्वावच्छिन्न-प्रतियोगिता-सम्बन्ध से अन्वय न माना जायगा, किन्तु द्रव्य का ही प्रतियोगिता-सम्बन्ध से अन्वय माना जायगा तब "द्रव्यं न" का अर्थ होगा द्रव्यप्रतियोगिक-भेद। इस स्थिति में घट, पट, दण्ड आदि का भेद भी द्रव्यप्रतियोगिक-भेद होने से "द्रव्यं न" का अर्थ होगा। फलतः घटादि-भेद-रूप द्रव्य-भेद के आश्रय पट में भी "द्रव्यं न" इस प्रतीति की आपत्ति होगी। अतः इस आपत्ति के परिहारार्थ यह आवश्यक है कि "द्रव्यं न" इसका अर्थ द्रव्य-प्रतियोगिक-भेद न होकर द्रव्यत्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताक-भेद हो और यह तभी हो सकता है, जब 'न' के अर्थ-भेद में द्रव्यत्व का स्वावच्छिन्न-प्रतियोगिता-सम्बन्ध से अन्वय हो। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि द्रव्यनिष्ठ-प्रतियोगिता और द्रव्यत्व में अवच्छेद्य-अवच्छेदक भाव है। द्रव्यनिष्ठ-प्रतियोगिता अवच्छेद्य है और द्रव्यत्व अवच्छेदक है। अतः द्रव्यनिष्ठ-प्रतियोगिता और द्रव्यत्व के मध्य अवच्छेद्यता किं वा अवच्छेदकता सम्बन्ध मानना आवश्यक है और ये दोनों ही सम्बन्ध अपने सम्बन्धियों से भिन्न न होते हुए उनके बीच सम्बन्ध का कार्य सम्पन्न करते हैं, अतः स्वरूप-सम्बन्ध के ही वर्ग में ये आते हैं।

निरूप्यता–निरूपकता

जिन दो वस्तुओं में एक के ज्ञान में दूसरे की अपेक्षा हो, उनमें निरूप्य-निरूपक-भाव होता है। निरूप्य का अर्थ है, बोध्य, ज्ञाप्य और निरूपक का अर्थ है बोधक, ज्ञापक। जैसे ज्ञान शब्द से ज्ञान का बोध होते ही जिज्ञासा होती है 'किसका ज्ञान'। उत्तर में ज्ञान के विषय का उल्लेख करना होता है घट का ज्ञान किं वा पट का ज्ञान। इससे स्पष्ट है कि विषय के बोध विना ज्ञान का बोध अपूर्ण रहता है। विषय ज्ञान का बोधक या निरूपक होता है; इसीलिए "विषयनिरूप्यं ज्ञानम्"—ज्ञान को विषय-निरूपक कहा जाता है। इस प्रकार ज्ञान में निरूप्यता और विषय में निरूपकता होती है। यह निरूप्यता और निरूपकता विषय और ज्ञान के मध्य सम्बन्ध हैं, जो अपने सम्बन्धियों से भिन्न न होते हुए सम्बन्ध-कार्यकारी होने से स्वरूप-सम्बन्ध की श्रेणी में आते हैं।

इसी प्रकार प्रतियोगी और अभाव में भी निरूप्य-निरूपक-भाव है, जैसे, अभाव शब्द से अभाव का बोध होते ही यह जिज्ञासा होती है कि किसका अभाव; उत्तर में प्रतियोगी घट आदि का उल्लेख किया जाता है—घट का अभाव, पट का अभाव आदि। इससे भी स्पष्ट है कि प्रतियोगी घट आदि का ज्ञान हुए विना अभाव का बोध अधूरा रहता है। प्रतियोगी से ही अभाव का निरूपण—पूर्ण बोध होता है, अतः प्रतियोगी में निरूपकता और अभाव में निरूप्यता है। इसी प्रकार घट आदि की प्रतियोगी-रूप में चर्चा होने पर तत्काल जिज्ञासा होती है किसका प्रतियोगी। उत्तर में अभाव का उल्लेख किया जाता है, अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी या ध्वंस अथवा प्रागभाव का प्रतियोगी किं वा भेद का प्रतियोगी। इस प्रक्रिया से स्पष्ट विदित होता है कि घट आदि प्रतियोगी भी प्रतियोगित्व-रूप से अभाव से निरूप्य होते हैं।

इसी प्रकार कारण की चर्चा होने पर किसका कारण, कार्य की चर्चा होने पर किसका कार्य, इस रूप में कार्य और कारण की जिज्ञासा होती है। कार्य का उल्लेख करने पर पहली जिज्ञासा और कारण का उल्लेख करने पर दूसरी जिज्ञासा की निवृत्ति होती है। इससे स्पष्ट है कि कारण कार्य से निरूप्य और कार्य कारण से निरूप्य होता है। दण्ड, चक्र आदि कारणत्व-रूप से घट आदि कार्य से निरूप्य होते हैं और घट आदि कार्यत्व-रूप से अपने कारण दण्ड आदि से निरूप्य होते हैं।

इसी प्रकार घट आदि की आश्रय-रूप में चर्चा होने पर किसका आश्रय और गुण, कर्म, जाति आदि की आश्रित-रूप में चर्चा होने पर किसमें आश्रित, इस रूप में आश्रित आधेय की तथा आश्रय आधार की जिज्ञासा होती है। उत्तर में गुण, कर्म आदि आश्रित आधेय का उल्लेख करने पर पहली जिज्ञासा और घट आदि आश्रय आधार का उल्लेख करने पर दूसरी जिज्ञासा की निवृत्ति होती है। इससे स्पष्ट है कि आश्रय-आश्रित आधार-आधेय में निरूप्य-निरूपक-भाव है।

उक्त रीति से ही गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र, पति-पत्नी, गृह-गृहस्वामी, क्रिया-कर्ता, क्रिया-कर्म आदि के भी निरूप्य-निरूपक-भाव की आवश्यकता अवगत की जा सकती है।

उक्त रीति से ही प्रकारता विशेष्यता संसर्गता में, विषयता विषयिता में, कार्यता कारणता में, प्रतियोगिता अनुयोगिता में, अवच्छेद्यता

अवच्छेदकता में, आधेयता आधारता में, व्याप्यता व्यापकता आदि में भी निरूप्य-निरूपक-भाव को हृदयङ्गम किया जा सकता है।

स्वस्वामिभाव

स्वस्वामिभाव का अर्थ है स्वत्व और स्वामित्व। यह धन और धनी के मध्य का सम्बन्ध है। स्वत्व धन में रहता है और स्वामित्व धनी में रहता है। "चैत्रस्य धनम्"—चैत्र का धन, इसमें चैत्र शब्द से लगी षष्ठी विभक्ति 'स्य' का अर्थ है स्वत्व किं वा स्वामित्व। षष्ठी के स्वत्व-अर्थ में चैत्र का निरूपितत्व-सम्बन्ध से और स्वत्व का धन में आश्रयता-सम्बन्ध से अन्वय होने से "चैत्रस्य धनम्" का अर्थ होता है चैत्र-निरूपित-स्वत्व का आश्रय धन; षष्ठी के स्वामित्व अर्थ में चैत्र का अन्वय होता है निष्ठत्व-सम्बन्ध से ओर स्वामित्व का धन में अन्वय होता है निरूपकता-सम्बन्ध से। अतः "चैत्रस्य धनम्" का दूसरा अर्थ होता है चैत्रनिष्ठ-स्वामित्व का निरूपक धन। यदि स्वत्व और स्वामित्व सम्बन्ध न हो तो "चैत्रस्य धनम्" में षष्ठी विभक्ति से उसका बोध नहीं होगा, क्योंकि "चैत्रस्य धनम्" में चैत्र शब्द से सम्बन्ध-अर्थ में ही षष्ठी सम्भव है।

स्वत्व और स्वामित्व के स्वरूप का विचार करने पर अपने सम्बन्धी से पृथक् उसका अस्तित्व नहीं सिद्ध होता, जैसे, स्वत्व का अर्थ है यथेष्ट-विनियोग-कर्मत्व-योग्यता; मनुष्य जिस वस्तु का अपनी इच्छा के अनुसार विनियोग कर सके, जो वस्तु मनुष्य की इच्छा के अनुसार विनियुक्त की जा सके, उसी को मनुष्य का स्व–अपना कहा जाता है। यह क्रय, प्रतिग्रह, विनिमय, वेतन, अधिकार के स्थानान्तरण आदि से उत्पन्न होता है तथा विक्रय, दान आदि से इसकी निवृत्ति होती है, जैसे, चैत्र मैत्र से गौ का क्रय करता है, मैत्र चैत्र के हाथ अपनी गौ का विक्रय करता है। विक्रय से गौ में मैत्र के स्वत्व की निवृत्ति और क्रय से उस गौ में चैत्र के स्वत्व की उत्पत्ति होती है। राजा ब्राह्मण को गौ का दान करता है, ब्राह्मण राजा से गौ का प्रतिग्रह करता है। दान से गौ में राजा के स्वत्व की निवृत्ति और प्रतिग्रह से ब्राह्मण के स्वत्व की उत्पत्ति होती है।

विचारणीय है कि स्वत्व-यथेष्ट-विनियोगकर्मत्व-योग्यता क्या है, जिसकी उत्पत्ति और निवृत्ति क्रय, विक्रय आदि द्वारा गौ में सम्पन्न

होती है। उसे द्रव्य मानने पर गौ आदि अन्तिम अवयवी में उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती; गुण, कर्म आदि में भी उसका समावेश सम्भव नहीं प्रतीत होता, क्योंकि जो गुण और कर्म प्रमाण-सिद्ध हैं क्रय-विक्रय आदि से उनकी उत्पत्ति-निवृत्ति नहीं होगी। अतः यही कहना होगा कि यतः क्रय आदि के बाद क्रीत वस्तु क्रय-कर्त्ता के यथेष्ट-विनियोग के योग्य बनती है, अतः क्रीत वस्तु में क्रयोत्तरकाल का तथा प्रतिगृहीत वस्तु में प्रतिग्रहोत्तर-काल का सम्बन्ध ही स्वत्व है। वस्तु और काल का कालिक-सम्बन्ध होता है; कालिक-सम्बन्ध को स्वरूप से भिन्न न होने के कारण स्वरूप-सम्बन्ध-विशेष कहा जाता है। विक्रय से विक्रय की जाने वाली वस्तु में विक्रय-कर्त्ता के पहले से विद्यमान क्रयोत्तर-सम्बन्ध-रूप-स्वत्व की निवृत्ति होती है और क्रय से क्रय की जानेवाली वस्तु में नये क्रय-कर्त्ता के क्रयोत्तर-काल-सम्बन्ध-रूप-स्वत्व की उत्पत्ति होती है।

स्वत्व के उक्त स्वरूप के सम्बन्ध में यह प्रश्न होता है कि किसी वस्तु में विद्यमान किसी व्यक्ति के क्रयोत्तर-काल-सम्बन्ध-रूप-स्वत्व की निवृत्ति विक्रय से नहीं हो सकती, क्योंकि विक्रेता द्वारा पूर्व में किये गए उस वस्तु के क्रय का उत्तरत्व आगामी सभी कालों में रहेगा, अतः विक्रय-काल और उसके बाद का सभी काल विक्रेता के क्रय का उत्तर-काल होगा और उसका सम्बन्ध विक्रीत वस्तु के विना ही रहेगा? इसका उत्तर यह है कि क्रय आदि से किसी वस्तु में क्रेता का स्वत्व तब तक रहता है जब तक किसी अन्य मनुष्य के हाथ क्रेता उसका विक्रय नहीं कर देता, अतः स्वत्व की परिभाषा इस प्रकार होगी कि अमुक वस्तु में अमुक मनुष्य का स्वत्व है, अमुक मनुष्य द्वारा अमुक वस्तु के क्रय के उत्तर और उसके द्वारा अन्य मनुष्य के हाथ उस वस्तु के विक्रय के अनुत्तर-काल का अमुक वस्तु के साथ सम्बन्ध।

इस बात को शास्त्रीय शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है—तन्निरूपित-स्वत्व का अर्थ है तत्कर्तृक-क्रयविशिष्ट-सम्बन्ध; सम्बन्ध में क्रय-वैशिष्ट्य स्वकर्मप्रतियोगित्व, स्वविशिष्ट-कालानुयोगिकत्व उभय-सम्बन्ध से, काल में स्व का वैशिष्ट्य स्वोत्तरत्व, स्वविशिष्टविक्रयानुत्तरत्व उभय-सम्बन्ध से, विक्रय में स्ववैशिष्ट्य स्वसमानकर्मकत्व, स्वसमान-कर्तृकत्व उभय-सम्बन्ध से।

विक्रय कर देने पर उस वस्तु का क्रयोत्तरकाल विक्रयादनुत्तर-काल नहीं होता, अतः विक्रयानुत्तरत्व की निवृत्ति होने से उससे विशिष्ट विक्रेता के क्रयोत्तर-काल की निवृत्ति होने से उक्त विशिष्टकाल-सम्बन्ध-रूप विक्रेता के स्वत्व की निवृत्ति में विक्रय-साध्यता निर्विवाद है।

स्वामित्व के स्वरूप का अवधारण स्वत्व के स्वरूप पर निर्भर होने से स्वत्व के स्वरूप-वर्णन से अनायास सम्पन्न हो जाता है, जैसे, यथेष्ट-विनियोग-कर्मत्वयोग्यता स्वत्व है और यथेष्ट-विनियोग-कर्तृत्व-योग्यता स्वामित्व है। जिस वस्तु का यथेष्ट विनियोग करने को जो अधिकृत होता है, वह उस वस्तु का स्वामी कहा जाता है। अतः किसी वस्तु का यथेष्ट विनियोग करने के लिए अधिकृत होना ही उस वस्तु का स्वामित्व है और किसी वस्तु का यथेष्ट विनियोग करने के लिए अधिकृत होने का अर्थ है उस वस्तु का यथेष्ट विनियोग करने पर अपराधी न होना। इस प्रकार अमुक वस्तु के स्वामित्व का अर्थ है अमुक वस्तु का यथेष्ट विनियोग करने पर भी अपराध-राहित्य। क्रय आदि द्वारा वस्तु में स्वत्व के सम्पादन से इसकी प्राप्ति होती है।

उक्त स्वत्व और स्वामित्व भी अपने सम्बन्धी से भिन्न न होते हुए सम्बन्ध-कार्यकारी होने से स्वरूप-सम्बन्ध की ही श्रेणी में आते हैं।

अविनाभाव–व्याप्ति

अविनाभाव का अर्थ है किसी के विना किसी का अभाव, जैसे, वह्नि के विना धूम का अभाव, द्रव्यत्व के विना पृथिवीत्वादि का अभाव। अन्य शब्द में इसे इस प्रकार कहा जा सकता है—अमुक के अभावाधिकरण में अमुक का अवृत्तित्व—अमुक का न होना, जैसे, वह्न्यभाव के अधिकरण जलाशय आदि में धूम का न होना, द्रव्यत्व के अभावाधिकरण गुण आदि में पृथिवीत्व आदि का न होना। इस प्रकार धूम के साथ वह्नि का तथा पृथिवीत्व आदि के साथ द्रव्यत्व का सम्बन्ध है अविनाभाव, वह्नि के विना धूमाभाव, द्रव्यत्व के विना पृथिवीत्वाभाव; अर्थात् धूम के साथ वह्नि का और पृथिवीत्व आदि के साथ द्रव्यत्व का सम्बन्ध स्वाभावाधिकरण-वृत्तित्वाभाव। यही व्याप्ति है। इसका और इसके सदृश अन्य व्याप्ति-लक्षणों का विचार पहले किया जा चुका है।

विरोध

विरोध भी एक प्रकार का सम्बन्ध है। इसके दो भेद हैं—देशकृत और कालकृत। देशकृत विरोध का अर्थ है असमानदेशत्व-असामानाधिकरण्य—एक देश, एक अधिकरण में न रहना, जैसे गोत्व-अश्वत्व में देशकृत विरोध है, यह दोनों गो, अश्वरूप एकदेश में नहीं रहते; गोत्व के अधिकरण गो में अश्वत्व नहीं रहता और अश्वत्व के अधिकरण अश्व में गोत्व नहीं रहता; अतः इन दोनों में असामानाधिकरण्य-रूप विरोध सम्बन्ध है; किन्तु इनमें कालकृत विरोध नहीं है, क्योंकि यह दोनों अधिकरणभेद से एक काल में रहते हैं।

कालकृत विरोध का अर्थ है असमानकालत्व-सहानवस्थान—साथ में न रहना, अर्थात् एक काल में न रहना, जैसे, घट और घटध्वंस, ये दोनों कपाल-रूप एक अधिकरण में तो रहते हैं पर कालभेद से, एक काल में दोनों नहीं रहते, इस प्रकार इन दोनों में एककालावृत्तित्व-रूप सहानवस्थान-लक्षण कालकृत विरोध सम्बन्ध है।

व्यभिचारित्व

व्यभिचारित्व भी एक सम्बन्ध है। यह किसी वस्तु का उस वस्तु के साथ सम्बन्ध है जो किसी वस्तु के विना रहती है, जैसे, तप्त अयोगोलक में धूम के विना रहने वाले वह्नि के साथ धूम का, एवं गुण आदि में पृथिवीत्व के विना रहने वाले द्रव्यत्व के साथ पृथिवीत्व का तदभावाधिकरण-वृत्तित्वरूप-सम्बन्ध। इसी का नाम है व्यभिचारित्व, व्यभिचार, अनैकान्तिकत्व। "वह्नि से धूम का अनुमान करने पर वह्नि-हेतु में आर्द्र-इन्धन संयोग उपाधि है, किन्तु धूम से वह्नि का अनुमान करने पर धूम में नहीं है", इस प्रतीति से वह्नि-हेतु में आर्द्र-इन्धन-संयोग-उपाधि की आश्रयता के नियामक सम्बन्ध के रूप में तदभावाधिकरण-वृत्तित्वरूप-व्यभिचारित्व-सम्बन्ध की सिद्धि होती है।

कार्यता

जो उत्पन्न होता है उसे कार्य कहा जाता है; उत्पन्न वही होता है, जिसका उत्पत्ति से पूर्व अभाव होता है। इस अभाव को प्रागभाव कहा जाता है। इसके अनुसार कार्यता का लक्षण है प्रागभाव-प्रतियोगित्व। उत्पत्ति के पूर्व कपाल में घट का, तन्तु में पट का प्रागभाव होता है;

जिसका अभाव होता है वह अभाव का प्रतियोगी कहा जाता है; घट, पट आदि अपने प्रागभाव का प्रतियोगी होने से कार्य हैं।

कार्यता का दूसरा लक्षण है "आद्यक्षण-सम्बन्ध-प्रतियोगित्व"। जिसका अपने आद्यक्षण के साथ सम्बन्ध होता है वह उस सम्बन्ध का प्रतियोगी होने से कार्य कहा जाता है। किसी वस्तु का आद्यक्षण वह होता है जिसमें उस कार्य के सम्बन्धी-क्षण का नाश नहीं होता, जैसे, कोई घट जिस क्षण में उत्पन्न होता है, उस क्षण में उस घट के सम्बन्धी किसी क्षण का नाश नहीं होता है, क्योंकि उत्पत्ति-क्षण से पूर्व के क्षण उसके सम्बन्धी-क्षण नहीं होते; सम्बन्धी-क्षण होते हैं उत्पत्ति के क्षण और बाद के वे क्षण जब तक वह घट रहता है। अतः सम्बन्धी-क्षणों का नाश उत्पत्ति-क्षण के अगले क्षण से होता है। इसलिए उत्पत्ति का क्षण ही वस्तु का आद्यक्षण होता है। उसके साथ उत्पन्न होने वाली वस्तु का कालिक-सम्बन्ध होता है। इस सम्बन्ध का प्रतियोगी होने से उसे कार्य कहा जाता है।

जो वस्तु उत्पन्न नहीं होती, नित्य होती है, उसके सम्बन्धी-क्षणों की परम्परा अनादि होती है। उसका ऐसा कोई क्षण नहीं होता जब उसके सम्बन्धी-क्षण का नाश न हो। उसके सभी क्षण उसके सम्बन्धी पूर्व-पूर्व-क्षणों के नाश का आश्रय होते हैं, अतः ऐसी वस्तु का कोई आद्यक्षण नहीं होता; अतः आद्यक्षण सम्बन्ध का प्रतियोगी न होने के कारण ऐसी वस्तु को कार्य नहीं कहा जा सकता।

कार्यता का तीसरा लक्षण है "स्वरूप-सम्बन्ध-विशेष"। यह "इदमस्य कार्यम्"—यह वस्तु अमुक वस्तु का कार्य है, इस प्रतीति से कार्य-कारण के सम्बन्ध-रूप में सिद्ध है। यह सम्बन्ध कार्य से भिन्न न होते हुए कार्य के साथ कारण के सम्बन्ध का कार्य-सम्पादन करने से स्वरूप-सम्बन्ध-विशेष शब्द से अभिहित होता है।

कार्यता का चौथा लक्षण है किसी वस्तु के अन्यथा-सिद्धत्व का निरूपक न होते हुए उसका व्याप्य होना, जैसे, घट कपाल के अन्यथा-सिद्धत्व का निरूपक न होते हुए कपाल का व्याप्य है, अतः घट कपाल का कार्य है। इसे और स्पष्ट रूप में यों समझा जा सकता है—जो जिस कार्य की उत्पत्ति में अनपेक्षित होने पर भी दैव-संयोग से उसके जन्म के समय उपस्थित रहता है, वह उस कार्य के प्रति अन्यथा-सिद्ध होता

है; कार्य उसके अन्यथा-सिद्धत्व का निरूपक होता है, जैसे, कुलाल द्वारा घट के निर्माण के समय उसकी पत्नी या अन्य कोई उसका साथी उपस्थित हो जाय तो वह घट की उत्पत्ति में अनपेक्षित होते हुए भी घट-जन्म के समय उपस्थित रहने से घट के प्रति अन्यथा-सिद्ध है; किन्तु कुलाल, कपाल आदि के विना घट की उत्पत्ति न होने से वे घट की उत्पत्ति में अनपेक्षित नहीं होते, अतः वे घट के प्रति अन्यथा-सिद्ध नहीं होते; घट उनके अन्यथा-सिद्धत्व का निरूपक नहीं होता तथा कुलाल, कपाल आदि के अभाव में घट की उत्पत्ति न होने से घट उनका व्याप्य होता है। इसलिए कुलाल आदि के अन्यथा-सिद्धत्व का सम्पादक न होते हुए कुलाल आदि का व्याप्य होने से घट को कुलाल आदि का कार्य कहा जाता है।

कारणता

जो जिसके प्रति अन्यथा-सिद्ध न हो और उसकी उत्पत्ति के अव्यवहित-पूर्व-क्षण में उसके उत्पत्ति-देश में स्वयं रहे या उसका व्यापार रहे, वह उसका कारण होता है, जैसे, कपाल, तन्तु आदि घट, पट आदि के प्रति अन्यथा-सिद्ध नहीं हैं और घट, पट की उत्पत्ति के अव्यवहित-पूर्व-क्षण में उनके उत्पत्ति-देश कपाल, तन्तु आदि में तादात्म्य-सम्बन्ध से नियम से स्वयं रहते हैं, अतः वे घट, पट आदि के कारण हैं।

यज्ञ, गोवध आदि कार्य स्वर्ग, नरक के प्रति अन्यथा-सिद्ध नहीं है और उनकी उत्पत्ति के पूर्व उनके उत्पत्ति-देश यज्ञकर्ता और हिंसक में उनका व्यापार पुण्य, पाप नियम से रहता है, अतः यज्ञ, हिंसा स्वर्ग, नरक के कारण हैं।

कारणता का दूसरा लक्षण है—"स्वरूप-सम्बन्ध-विशेष"। इसकी सिद्धि "इदमस्य कारणम्"—यह वस्तु अमुक वस्तु का कारण है, इस प्रतीति से कार्य के साथ कारण के सम्बन्ध-रूप में होती है।

तीसरा लक्षण है, कारणता 'एक अखण्ड धर्म' है, जो कार्य से निरूपित होती है और कार्य के उत्पादक में रहती है।

प्रतिबध्यता

जो जिसके अभाव से जन्य होता है, वह उसका प्रतिबध्य होता है; उसके रहने पर उसका जन्म नहीं होता। इस तथ्य के अनुसार प्रति-

बध्यता का लक्षण है "तदभाव-जन्यत्व" अथवा "तत्प्रयुक्त-अनुत्पत्तिकत्व"। काष्ठ-वह्नि का संयोग होने पर भी चन्द्रकान्तमणि के सन्निधान में काष्ठ का दाह नहीं होता, अतः दाह को चन्द्रकान्तमण्यभाव का कार्य माने जाने से चन्द्रकान्तमण्यभावजन्यत्व-रूप चन्द्रकान्तमणि का प्रतिबध्यत्व काष्ठ-दाह में है। काष्ठ-वह्नि-संयोग आदि सभी प्रसिद्ध कारणों के रहते भी चन्द्रकान्तमणि का सन्निधान होने से दाह की उत्पत्ति रुक जाती है। इस प्रकार दाह की अनुत्पत्ति चन्द्रकान्तमणि-प्रयुक्त है, इसलिए दाह में चन्द्रकान्तमणि-प्रयुक्त अनुत्पत्तिकत्व-रूप चन्द्रकान्तमणि-प्रतिबध्यत्व है।

प्रतिबध्यता का एक और लक्षण है "इदमस्य प्रतिबध्यम्", इस प्रकार की प्रतीति से सिद्ध स्वरूप-सम्बन्ध-विशेष।

प्रतिबन्धकता

जिसका अभाव जिस कार्य का कारण होता है, वह उस कार्य का प्रतिबन्धक होता है। इसके अनुसार प्रतिबन्धकता का लक्षण है "कारणीभूत-अभाव का प्रतियोगित्व"। ह्रद में वह्न्यभाव का निश्चय रहने पर "ह्रदो वह्निमान्" ऐसी अनुमिति नहीं होती है, अतः ह्रद में वह्न्यभाव के निश्चय का अभाव ह्रद में वह्नि की अनुमिति का कारण है; उस अभाव का प्रतियोगी उक्त निश्चय उक्त अनुमिति का प्रतिबन्धक है।

दूसरा लक्षण है "कार्यानुत्पत्तिप्रयोजकत्व"; अन्य सभी प्रसिद्ध कारणों के रहते हुए भी चन्द्रकान्तमणि की उपस्थिति में काष्ठ-दाह नहीं होता, अतः चन्द्रकान्तमणि के सन्निधान-क्षण के उत्तर-क्षणों के साथ दाह-प्रागभाव-रूप दाहानुत्पत्ति के सम्बन्ध का प्रयोजक होता है, अतः दाहानुत्पत्ति का प्रयोजक होने से चन्द्रकान्तमणि दाह का प्रतिबन्धक है।

प्रतिबन्धकता की विधाएँ

प्रतिबन्धकता की चार विधाएँ हैं—बाधविधया, सत्प्रतिपक्षविधया, स्वतन्त्रविधया और अवच्छेदकधर्मविधया।

अभाव भाव का बाध होता है और भाव अभाव का बाध होता है। "ह्रदो वह्निमान्" इस अनुमिति के प्रति "ह्रदो वह्न्यभाववान्" यह निश्चय वह्नि के बाध वह्न्यभाव का ग्राहक होने से प्रतिबन्धक है। "पर्वतो वह्न्यभाववान्" इस अनुमिति के प्रति "पर्वतो वह्निमान्" यह निश्चय वह्न्यभाव के बाध वह्नि का ग्राहक होने से प्रतिबन्धक है।

बाध के व्याप्य को सत्प्रतिपक्ष कहा जाता है, जैसे, जहाँ वह्न्यभाव बाध है, वहाँ वह्न्यभाव-व्याप्य-सत्प्रतिपक्ष है और जहाँ वह्नि बाध है वहाँ वह्नि-व्याप्य-सत्प्रतिपक्ष है। "ह्रदो वह्न्यभावव्याप्यवान्", "पर्वतो वह्निव्याप्यवान्"—ये दोनों निश्चय क्रम से "ह्रदो वह्निमान्" एवं "पर्वतो वह्न्यभाववान्" इस अनुमिति के प्रति सत्प्रतिपक्षविधया प्रतिबन्धक हैं।

आहार्य ज्ञान—विरोधी ज्ञान के रहते इच्छा-विशेष से उत्पन्न ज्ञान प्रतिबन्धक नहीं होता; जिस ज्ञान में अप्रामाण्य ज्ञान हो जाय, वह भी प्रतिबन्धक नहीं होता; जिस ज्ञान के विषय में अव्याप्यवृत्तित्व—अपने विरोधी के साथ रहने का ज्ञान हो जाय, वह भी प्रतिबन्धक नहीं होता; संशय भी प्रतिबन्धक नहीं होता। अतः तत्प्रकारक-बुद्धि के प्रति तदभावप्रकारक अनाहार्य, अप्रामाण्य-ज्ञानाभाव-विशिष्ट, तदभाव में अव्याप्यवृत्तित्व-ज्ञानाभाव-विशिष्ट, संशयान्यज्ञान को प्रतिबन्धक माना जाता है।

आहार्य ज्ञान, लौकिक-सन्निकर्षजन्य ज्ञान, दोषविशेषजन्य ज्ञान और जिस विषय में अव्याप्यवृत्तित्व का ज्ञान हो, उस विषय का ज्ञान प्रतिबध्य नहीं होता, अतः अनाहार्य, लौकिक-सन्निकर्षाजन्य, दोषविशेषाजन्य, तत् में अव्याप्यवृत्तित्व-ज्ञानाभावविशिष्ट-तत्प्रकारक-बुद्धि के प्रति उक्त प्रकार का तदभावप्रकारक-ज्ञान प्रतिबन्धक होता है।

चन्द्रकान्तमणि, अग्नि को बाँध देने का मन्त्र, दाह का बाध या सत्प्रतिपक्ष-रूप न होने पर भी स्वतन्त्र-रूप से दाह का प्रतिबन्धक होता है।

कामिनी-जिज्ञासा बाध सत्प्रतिपक्ष-रूप न होने पर भी कामिनीज्ञानातिरिक्त ज्ञानमात्र का स्वतन्त्र रूप से प्रतिबन्धक होती है। "जो जो जलवान् है वह्न्यभाववान् है" इस ज्ञान के रहने पर "पर्वतो जलवान्" यह ज्ञान "पर्वतो वह्निमान्" इस बुद्धि का अवच्छेदक धर्मविधया प्रतिबन्धक होता है।

उत्तेजकता

"प्रतिबन्धकतावच्छेक अभाव का प्रतियोगित्व" उत्तेजकता है। सूर्यकान्तमण्यभावविशिष्ट चन्द्रकान्तमणि दाह का प्रतिबन्धक है, सूर्यकान्त

का अभाव प्रतिबन्धकता का अवच्छेदक है। उसका प्रतियोगी होने से सूर्यकान्त चन्द्रकान्तनिष्ठ-प्रतिबन्धकता में उत्तेजक है।

शक्ति

शक्ति पद और पदार्थ के मध्य का सम्बन्ध हैं। अभिधा, वाचकता आदि शक्ति के नामान्तर हैं। न्याय-मत में ईश्वरेच्छा को शक्ति माना गया है। विनिगमकता—अनेक की प्रसक्ति में किसी एकमात्र को मान्य करने की युक्ति न होने से इसके मुख्य तीन भेदों को पद-पदार्थ के मध्य सम्बन्ध माना गया है, जैसे; (१) "इदं पदं इमम् अर्थं बोधयतु"—यह पद इस अर्थ का बोधक हो; (२) "अयमर्थः अस्मात् पदात् बोधव्यः"—यह अर्थ एतत्पदजन्य-बोध का विषय हो; (३) "एतदर्थविषयको बोधः एतत्पदजन्यो भवतु"—इस अर्थ का बोध इस पद से जन्य हो—ये तीन प्रकार की ईश्वरेच्छा पद-अर्थ के बीच का सम्बन्ध है। पहली इच्छा में पद विशेष्य है, अर्थविषयक-बोध-जनकत्व प्रकार है, उसे पद-विशेष्यक अर्थविषयक-बोधजनकत्व-प्रकारक ईश्वरेच्छा कहा जाता है। दूसरी इच्छा में अर्थ विशेष्य है, पद-जन्यबोध-विषयत्व प्रकार है, उसे अर्थ-विशेष्यक-पदजन्यबोधविषयत्व-प्रकारक ईश्वरेच्छा कहा जाता है। तीसरी में एतदर्थ-विषयकबोध विशेष्य है, एतत्पद-जन्यत्व प्रकार है, इसे बोध-विशेष्यक-पदजन्यत्व-प्रकारक ईश्वरेच्छा कहा जाता है। पद के साथ पहली इच्छा का सम्बन्ध है अर्थविषयक-बोधजनकत्वनिष्ठ-प्रकारता-निरूपित-विशेष्यता। इस सम्बन्ध से ईश्वरेच्छा का सम्बन्धी होने से पद को शक्तिवाचक या अभिधायक कहा जाता है। अर्थ के साथ उसका सम्बन्ध है—पदनिष्ठ-विशेष्यतानिरूपित-जनकत्वनिष्ठ-प्रकारता-निरूपित बोधनिष्ठ-प्रकारता-निरूपित विषयित्वसम्बन्धावच्छिन्न-प्रकारता; क्योंकि अर्थविषयक-बोधजनकत्व उक्त इच्छा में विशेष्यभूत-पद में विशेषण है, जनकत्व में बोध विशेषण है और बोध में विषयिता-सम्बन्ध से अर्थ विशेषण है। इस सम्बन्ध से ईश्वरेच्छा का सम्बन्धी होने से अर्थ को शक्य, वाच्य तथा अभिधेय कहा जाता है।

पद के साथ दूसरी इच्छा का सम्बन्ध है—विषयत्वनिष्ठ-प्रकारता-निरूपित बोध्यनिष्ठ-प्रकारता-निरूपित जन्यत्वनिष्ठ-प्रकारता-निरूपित प्रकारता, क्योंकि विशेष्यभूत अर्थ में पदजन्यबोधविषयत्व विशेषण है, विषयत्व में बोध विशेषण है, बोध में जन्यत्व विशेषण है और जन्यत्व में

पद विशेषण है। इस सम्बन्ध से ईश्वरेच्छा का सम्बन्ध होने से पद को वाचक कहा जाता है। दूसरी इच्छा में अर्थ विशेष्य है, अर्थ में विशेष्यता है। विशेष्यता-सम्बन्ध से ईश्वरेच्छा का सम्बन्धी होने से उसे वाच्य कहा जाता है।

तीसरी इच्छा में अर्थविषयक-बोध विशेष्य है और पदजन्यत्व प्रकार है। पदजन्यत्वनिष्ठ-प्रकारता-निरूपित बोधनिष्ठ-विशेष्यता-निरूपित विषयित्व-सम्बन्धावच्छिन्न अवच्छेदकता-सम्बन्ध से ईश्वरेच्छा का सम्बन्धी होने से अर्थ वाच्य होता है और अर्थविषयक-बोधनिष्ठ-विशेष्यता-निरूपित जन्यत्वनिष्ठ-प्रकारता-निरूपित प्रकारता-सम्बन्ध से ईश्वरेच्छा का सम्बन्धी होने से पद वाचक होता है।

उक्त प्रत्येक प्रकार की ईश्वरेच्छा को विनिगमनाविरह से पदानुयोगिक अर्थप्रतियोगिक और अर्थानुयोगिक पदप्रतियोगिक सम्बन्ध कहा जाता है। उक्त तीनों इच्छाओं में पहली दो इच्छाओं को शक्ति-रूप से बाहुल्येन व्यवहृत किया जाता है, तीसरी इच्छा को सूर्य-चन्द्र दोनों के नियम से युगपद् बोधक पुष्पवन्त-पद के तथा तत्पद के सन्दर्भ में शक्ति-रूप से व्यवहृत किया जाता है। "सूर्यचन्द्रबोधः पुष्पवन्तपदजन्यो भवतु", इस इच्छा को सूर्य-चन्द्र के साथ पुष्पवन्त-पद का, तथा "स्वजन्यत्व-स्वोच्चारणानुकूल-बुद्धिप्रकारावच्छिन्न-विषयताकत्वोभयसम्बन्धेन बोधः तत्पदवान् भवतु", इस इच्छा को बुद्धिस्थ के साथ तत्पद का शक्ति-सम्बन्ध माना जाता है।

यत्प्रकारक-बोध पूर्व में रहता है, तत्पद से तत्प्रकारक ही बोध का जन्म होता है, जैसे, "गृहे घटः अस्ति, तमानय" ऐसा कहने पर तत्पद से घटत्वप्रकारक-घट-बोध होता है, क्योकि पूर्ववाक्य के घट-पद से घटत्व-प्रकारक-बोध पहले से सम्पन्न है, तत्पद से होने वाले घट-बोध में तत्पदजन्यत्व और तत्पद के उच्चारणानुकूल-बुद्धि में प्रकारघटत्वावच्छिन्न विषयताकत्व दोनों हैं। अतः उक्त दो सम्बन्धों से तत्पदप्रकारक बोध-विशेष्यक ईश्वरेच्छा मानने में कोई बाधा नही है।

लक्षणा

शक्य-सम्बन्ध को लक्षणा कहा जाता है, जैसे, "गङ्गायं घोषः"— गङ्गा में आभीर ग्राम है, इस वाक्य में गङ्गा-पद की तीर में लक्षणा होने

से इसका अर्थ होता है गङ्गा-तीर में आभीर ग्राम है। बाल्यगत गङ्गा शब्द का शक्य अर्थ है "भगीरथरथखातावच्छिन्न-जलप्रवाह"। उसका सामीप्य-सम्बन्ध है तीर में, क्योंकि उन दो भू-भागों को ही तीर कहा जाता है, जिनके मध्य नदी आदि की जल-धारा उनके समीप से प्रवाहित होती है।

यह पौराणिक कथा है कि भगीरथ ने अपने पूर्वज राजा सगर के पुत्रों के, जो कपिल मुनि के शाप से दग्ध होकर प्रेत-योनि में थे, उद्धार के लिए गङ्गा को विष्णु-लोक से पृथ्वी पर लाने के लिए तपस्या की थी। जब गङ्गा विष्णु के चरण से निकल कर हिमालय पर स्थित शिव की जटा से होते हुए पृथ्वी पर उतरने लगीं तो भगीरथ ने रथ पर बैठ गङ्गा का मार्ग-निर्देश किया। रथ के चक्कों से खात—गड्ढे बन गये; उन्हीं के बीच गङ्गा प्रवाहित होने लगीं। इसी से पृथ्वी पर 'भगीरथ-रथ-खातावच्छिन्न-जलप्रवाह' को गङ्गा कहा जाता है और उसके समीपस्थ उभय भू-भाग को गङ्गा का तीर कहा जाता है। इस प्रकार तीर में विद्यमान गङ्गा-पद के शक्य-अर्थ उक्त-जल-प्रवाह का सामीप्य तीर में गङ्गा-पद की लक्षणा है; तीर-सम्बन्धी उक्त-जल-प्रवाह का वाचक होने से गङ्गा-पद को तीर का लक्षक या तीर में लाक्षणिक कहा जाता है और गङ्गा-पद के वाच्य उक्त-जल-प्रवाह से सम्बद्ध होने से तीर को गङ्गा-पद का लक्ष्य या लक्षणिक अर्थ कहा जाता है। उक्त वर्णन से यह स्पष्ट अवगत होता है कि गङ्गा-पद और तीर-रूप अर्थ के बीच एक सम्बन्ध है, जिसे लक्षणा कहा जाता है, जो तीर-सम्बन्धि-शक्तत्व-रूप में गङ्गा-पद में और गङ्गा-पद-शक्य-सम्बन्ध-रूप में तीर में रहता है।

विषयता

ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न और भावना नामक संस्कार आत्मा के ये पाँच गुण सविषयक होते हैं। जिसका ज्ञान होता है, जिसकी इच्छा होती है, जिससे द्वेष होता है, जिसके सम्बन्ध में प्रयत्न होता है और जिसकी भावना होती है, वह ज्ञान आदि का विषय होता है।

ज्ञान-विषयता

ज्ञान के दो भेद हैं—अनुभव और स्मरण। अनुभव के चार भेद हैं—प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शाब्दबोध। प्रत्यक्ष के दो भेद हैं—

जन्य और नित्य। नित्य प्रत्यक्ष एक ही है जो ईश्वर में समवेत और सर्वविषयक तथा यथार्थ होता है। जन्य प्रत्यक्ष के तीन भेद हैं—सविकल्पक, निर्विकल्पक और नरसिंहाकार। सविकल्पक का अर्थ है विशिष्ट-विषयक। इसके तीन विषय होते हैं—विशेष्य, विशेषण और दोनों का सम्बन्ध। निर्विकल्पक का अर्थ है विशिष्टाविषयक। इसमें कोई विशेष्य, विशेषण अथवा सम्बन्ध के रूप में नहीं भासित होता है। यह वस्तु को शुद्ध वस्तु के रूप में ही ग्रहण करता है, जैसे, प्रकाशस्थ घट के साथ चक्षु का सन्निकर्ष होने पर पहले घट पदार्थ के गर्भस्थ घट, घटत्व और समवाय का परस्पर में असम्बद्ध रूप में स्वरूप-ग्रहण-मात्र होता है; यही ग्रहण निर्विकल्प है; उसके दूसरे क्षण "घटः" इस रूप में प्रत्यक्ष का उदय होता है, उसमें घट में घटत्व समवाय-सम्बन्ध से भासित होता है; फलतः घट विशेष्य बन जाता है, घटत्व विशेषण या प्रकार बन जाता है। घट में इस प्रत्यक्ष की जो विषयता होती है उसे विशेष्यता कहा जाता है, घटत्व में जो विषयता होती है उसे विशेषणता या प्रकारता कहा जाता है और समवाय में जो विषयता होती है उसे संसर्गता कहा जाता है। इस प्रकार सविकल्पक प्रत्यक्ष की विषयता के तीन भेद होते हैं—विशेष्यता, विशेषणता या प्रकारता और संसर्गता। प्रत्यक्ष से भिन्न अन्य सभी ज्ञान सविकल्पक—विशिष्ट विषयक होते हैं, अतः प्रत्यक्ष-भिन्न सभी ज्ञानों की विषयता की भी ये तीन श्रेणियाँ होती हैं। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में यतः वस्तु का स्वरूप-ग्रहण-मात्र होता है, उसमें वस्तुओं के परस्पर सम्बन्ध का भान नहीं होता, अतः उसकी विषया उक्त तीन विषयताओं से विलक्षण होने के कारण तुरीय—चतुर्थ विषयता कही जाती है।

जो ज्ञान कुछ अंश में सविकल्पक और कुछ अंश में निर्विकल्पक होता है, उसे नरसिंहाकार ज्ञान कहा जाता है, जैसे, घट-ज्ञान का जन्म होने पर घट-ज्ञान और ज्ञानत्व को विषय करने वाला एक ज्ञान "घटं जानामि" इस ज्ञान के पूर्व उत्पन्न होता है। यह ज्ञान में घट के सम्बन्ध को विषय करने से उस अंश में सविकल्पक तथा ज्ञान और ज्ञानत्व के सम्बन्ध को विषय न करने से उस अंश में निर्विकल्पक होने से नरसिंहाकार है।

ज्ञान आदि उक्त पाँचों आत्म-गुण यतः सविषयक—विषय-सापेक्ष होते हैं, अतः उन्हें विषयी कहा जाता है। इस प्रकार जो ज्ञान जिस वस्तु का ग्रहण करता है, वह वस्तु उस ज्ञान का विषय होती है और वह ज्ञान उक्त वस्तु का ग्राहक होने से विषयी कहा जाता है; फलतः, जैसे, सविकल्पक ज्ञान की तीन विषयताएँ होती हैं उसी प्रकार उस ज्ञान में तीन विषयताएँ होती हैं, जैसे, "घटः" इस ज्ञान में घटनिष्ठ-विशेष्यता से निरूपित विशेष्यिता, घटत्वनिष्ठ-प्रकारता से निरूपित प्रकारिता और समवायनिष्ठ-संसर्गता से निरूपित संसर्गिता होती है और निर्विकल्पक में तुरीय विषयता से निरूपित तुरीय-विषयिता होती है।

सविकल्पक ज्ञान में उक्त तीन विषयताओं से विलक्षण एक चौथी विषयता भी मानी जाती है, जिसे अवच्छेदकता कहा जाता है, जैसे, "घटवद् भूतलम्" इस ज्ञान में भूतल भूतलत्व-रूप से विशेष्य है, अतः भूतलत्व भूतलनिष्ठ-विशेष्यता का अवच्छेदक है; घट घटत्व-रूप से विशेषण या प्रकार है, अतः घटत्व विशेषणता या प्रकारता का अवच्छेदक है और भूतल के साथ घट का संयोग संयोगत्व-रूप से संसर्ग है, अतः संयोगत्व संयोगनिष्ठ-संसर्गता का अवच्छेदक है। जैसे विशेष्यता आदि से निरूपित विषयिता विशेष्यिता आदि शब्दों से कही जाती है, उसी प्रकार अवच्छेदकता से निरूपित विषयिता अवच्छेदकिता शब्द से व्यवहृत होती है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि विषयता से निरूपित अवच्छेदकता के बारे में विद्वानों में दो मत हैं। कुछ विद्वान् तो अवच्छेदकता को अतिरिक्त विषयता मानते हैं और कुछ विद्वान् उसे विशेषणता या प्रकारता रूप ही मानते हैं। उनका कहना है कि विशेष्य, प्रकार और संसर्ग में विशेषण होकर भासित होने वाले धर्म ही विशेष्यता, प्रकारता और संसर्गता के अवच्छेदक होते हैं, अतः लाघवात् विशेष्यनिष्ठ-विशेषण में विद्यमान प्रकारता को ही विशेष्यतावच्छेदकता और प्रकार-निष्ठ-विशेषण में विद्यमान प्रकारता को ही प्रकारतावच्छेदकता और संसर्गनिष्ठ-विशेषण में विद्यमान विशेषणता को ही संसर्गावच्छेदकता मानना चाहिए।

इच्छा आदि विषयी-गुण यतः विशिष्ट-विषयक ही होते हैं, अतः उनके विषयों में भी उक्त विषयताएँ तथा उनमें उक्त विषयिताएँ रहती हैं।

इच्छा आदि को सविषयक मानने के सम्बन्ध में विद्वानों की दो दृष्टियाँ हैं। कुछ विद्वानों की दृष्टि में तो ज्ञान के समान इच्छा आदि

भी वास्तव में सविषयक हैं, किन्तु अन्य विद्वानों की दृष्टि में वास्तव में सविषयक केवल ज्ञान ही है। इच्छा आदि गुण यतः सविषयक ज्ञान से उत्पन्न होते हैं, अतः उनमें कारण-ज्ञानगत सविषयकत्व व्यवहृत होता है। यह व्यवहार उनकी दृष्टि में याचित-मण्डन-न्याय से सम्पन्न होता है। आशय यह है कि जैसे कोई साधारण मनुष्य जो स्वयं अपना मण्डन–अलङ्कार नहीं रख सकता, वह किसी वैवाहिक उत्सव आदि के प्रसङ्ग में अपने समर्थ सहयोगी से मण्डन की याचना कर जब उसे धारण कर लेता है तो अन्य लोग, जो इस रहस्य को नहीं जानते, उसे अपने ही मण्डन से मण्डित मानते हैं; इसी प्रकार इच्छा आदि गुण अपने कारण-भूत-ज्ञान के विषय को लेकर ही विषयी माने जाते हैं; वास्तव में उनका कोई अपना विषय नहीं होता।

इस सन्दर्भ में एक बात ध्यान देने योग्य है, वह यह कि सविकल्पक-ज्ञान में उक्त तीन या चार विषयताओं से भिन्न एक विशिष्ट विषयता भी मानना आवश्यक होता है, क्योंकि ज्ञानों का परस्पर वैलक्षण्य विषय के वैलक्षण्य से नहीं, किन्तु विषयता के वैलक्षण्य से मान्य होता है, अन्यथा घट, घटत्व समवाय के निर्विकल्पक और "घटः" इस सविल्पक ज्ञान में परस्पर वैलक्षण्य न हो सकेगा, क्योंकि विषय दोनों के समान है, तो जब एक स्थान में विषयता-वैलक्षण्य से ज्ञान में वैलक्षण्य मानना पड़ा तो लाघवात् सर्वत्र विषयता के वैलक्षण्य से ही ज्ञान का वैलक्षण्य मानना उचित होगा। ऐसी स्थिति में यदि विशिष्ट विषयता को स्वीकार न किया जायगा तो शुक्ति में रजतत्व के "इदं रजतम्" और रजत में रजतत्व के "इदं रजतम्" इस ज्ञान में परस्पर वैलक्षण्य न हो सकेगा, क्योंकि दोनों ज्ञानों की विषयता—रजतत्वनिष्ठ-प्रकारता-निरूपित इदन्त्वावच्छिन्न विशेष्यता-समान है और जब विशिष्ट विषयता पृथक मानी जायेगी तब उक्त ज्ञानों में विषयता-वैलक्षण्य-कृत वैलक्षण्य उपपन्न हो जायगा, क्योंकि रजत में रजतत्व-विषयक "इदं रजतम्" इस ज्ञान में रजतत्व-विशिष्ट इदन्त्वावच्छिन्न विषयता रहेगी और शुक्ति में रजतत्व-विषयक "इदं रजतम्" इस ज्ञान में विशिष्ट विषयता नहीं रहेगी, क्योंकि "इदं" जब शुक्ति होगी तो इदन्त्व रजतत्व-विशिष्ट नहीं होगा; अतः उसमें रजतत्व-विशिष्ट इदन्त्वावच्छिन्न विषयता नहीं रहेगी। इस प्रकार जब यथार्थ-ज्ञान के विशिष्ट-विषय में एक अतिरिक्त विशिष्ट विषयता

मानना आवश्यक हो जाता है तो उस ज्ञान में विशिष्ट-निरूपित अतिरिक्त विषयिता का भी होना ध्रुव है।

प्रत्यक्ष का एक और भेद है संशय और निश्चय। संशय में जो प्रकार होता है, उसमें कोटिता नामक विषयता होती है और विशेष्य में धर्मिता नामक विषयता होती है। जिस संशय में एक कोटि उत्कट और दूसरी अनुत्कट होती है उसे सम्भावना कहा जाता है। सम्भावना की कोटि में औत्कट्य नामक विषयता होती है।

प्रत्यक्ष ज्ञान के सन्दर्भ में यह भी समझ लेना आवश्यक है कि उसके दो अन्य और भेद भी हैं—आहार्य और अनाहार्य। विरोधी ज्ञान के रहते इच्छा से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह आहार्य होता है और उससे भिन्न अनाहार्य होता है। आहार्य के भी दो भेद होते हैं—नियताहार्य और अनियताहार्य। जिस ज्ञान में एक विरोधी धर्म धर्मितावच्छेदक और दूसरा विरोधी धर्म प्रकार होता है वह नियताहार्य होता है और उससे भिन्न आहार्य अनियताहार्य होता है।

सविकल्पक प्रत्यक्ष के दो अन्य भेद और हैं-लौकिक और अलौकिक। इन्द्रियों के लौकिक सन्निकर्ष के छः होने से लौकिक प्रत्यक्ष छः और अलौकिक सन्निकर्ष के तीन होने से अलौकिक प्रत्यक्ष तीन होते हैं। लौकिक प्रत्यक्ष की विषयता को लौकिक विषयता और अलौकिक प्रत्यक्ष की विषयता को अलौकिक विषयता कहा जाता है।

पक्षता

पक्षता भी एक विषयता है। यह अनुमिति से निरूपित होती है। इसे ही अनुमिति की उद्देश्यता कहा जाता है। यह विषयता साध्य-संशय के धर्मी में अथवा जिसके सिषाधयिषा—विरहविशिष्ट-सिद्धि का अभाव होता है उसमें रहती है, जैसे, "पर्वतो वह्निमान् न वा" इस संशय से होने वाली 'पर्वतो वह्निमान्' इस अनुमिति की पक्षता—उद्देश्यता पर्वत में होती है। यदि कोई उक्त अनुमिति उक्त संशय के अभाव में भी उस दशा में होती है जब पर्वत में वह्नि की सिद्धि नहीं है अथवा सिद्धि रहने पर पर्वत में वह्नि की सिषाधयिषा—अनुमिति की इच्छा है तो ऐसी दशा में उत्पन्न होने वाली अनुमिति की भी पक्षता—उद्देश्यता पर्वत में होती है। उद्देश्यता यतः एक विषयता है, अतः उससे भी निरूपित विषयिता होती है, जिसे उद्देश्यिता कहा जाता है।

साध्यता

यह भी अनुमिति की एक विषयिता है, जिसे अनुमिति-विधेयता कहा जाता है। इससे निरूपित विधेयिता अनुमिति में रहती है।

शाब्दबोध और उपमिति की भी उद्देश्यता और विधेयता नामक विषयताएँ होती हैं।

यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि विषयताएँ प्रायः सभी एक-एक व्यक्ति में भी विश्रान्त होती हैं। वे द्वित्व आदि के समान व्यासज्य-वृत्ति नहीं होतीं।

व्यासज्य-वृत्ति

जो धर्म एकमात्र में आश्रित नहीं होती उसे व्यासज्य-वृत्ति कहा जाता है—"विभिन्नेषु आश्रयेषु आसज्य–संसृज्य वृत्तिः व्यासज्यवृत्तिः"। न्याय की भाषा में इसका लक्षण इस प्रकार है—"एकत्वावच्छिन्नानुयोगिताक-पर्याप्तिप्रतियोगिभिन्नत्व"–जिसकी पर्याप्ति की अनुयोगिता एकत्व से अवच्छिन्न हो उससे भिन्न धर्म व्यासज्य-वृत्ति है, जैसे, एक-एक व्यक्ति में भी घटत्व की बुद्धि होने से घटत्व के पर्याप्ति-सम्बन्ध की अनुयोगिता एक-एक घट में भी रहने से एकत्व से अवच्छिन्न होती है, अतः घटत्व आदि धर्म एकत्वावच्छिन्नानुयोगिताक पर्याप्ति के प्रतियोगी हैं; द्वित्व, त्रित्व आदि ऐसे नहीं हैं, क्योंकि एकमात्र में उनका अस्तित्व ही नहीं हो सकता; अतः एकत्वावच्छिन्नानुयोगिताक पर्याप्ति के प्रतियोगी घटत्व आदि से भिन्न होने के कारण द्वित्व, त्रित्व आदि व्यासज्य-वृत्ति धर्म हैं।

यदि घटत्व आदि के पर्याप्ति-सम्बन्ध में कोई प्रमाण न होने से ऐसी पर्याप्ति असिद्ध हो, जिसकी अनुयोगिता का अवच्छेदक एक हो सके, तो व्यासज्य-वृत्ति के निम्न लक्षण किये जा सकते हैं—

(१) "एकत्वानवच्छिन्नानुयोगिताक-पर्याप्ति-प्रतियोगित्व"।

द्वित्व आदि की पर्याप्ति की अनुयोगिता एकत्व से अनवच्छिन्न होती है, क्योंकि वह द्वित्व की उभयनिष्ठ अनुयोगिता से न्यूनवृत्ति है, अतः एकत्व से अनवच्छिन्न अनुयोगिताक पर्याप्ति का प्रतियोगी होने से द्वित्व आदि व्यासज्य-वृत्ति हैं।

(२) अथवा घटत्व आदि का पर्याप्ति-सम्बन्ध यदि नहीं होता तो पर्याप्ति-प्रतियोगित्व-मात्र भी व्यासज्य-वृत्ति का लक्षण हो सकता है।

(३) व्यासज्य-वृत्ति का एक लक्षण और भी हो सकता है, जैसे, स्वाश्रयाधिकरणवृत्ति अभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदकत्व।

जो धर्म अपने किसी आश्रय के अधिकरण में वृत्ति अभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक हो, वह व्यासज्य-वृत्ति है। घटपटगत द्वित्व अपने आश्रय घट अथवा पटमात्र के अधिकरण में, अर्थात् केवल घटाश्रय अथवा केवल पटाश्रय देश में वृत्ति घटपटद्वयाभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक होने से व्यासज्य-वृत्ति है।

घटत्व आदि अपने आश्रय घट के अधिकरण में वृत्ति अभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक नहीं होता, क्योंकि एक घट के भी आश्रय-देश में घटाभाव नहीं रहता, अतः घटत्व आदि अव्यासज्य-वृत्ति हैं।

महानसीय वह्नि के अभाव की प्रतियोगितावच्छेदकता महानसीयत्व और वह्नित्व में व्यासज्य-वृत्ति है। वह अपने आश्रय केवल महानसीयत्व के अधिकरण महानसीय घट में तथा वह्नित्व के आश्रय पर्वतीय वह्नि में वृत्ति "महानसीय-वह्न्यभाव-प्रतियोगितावच्छेदं नास्ति" इस प्रतीति-सिद्ध अभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक है।

द्वित्व

द्वित्व को व्यासज्य-वृत्ति कहा गया है। वह दो प्रकार का है—संख्या-रूप तथा बुद्धि-विशेष-विषयता-रूप, किं वा विषयता-सम्बन्ध से बुद्धि-विशेष-रूप। संख्या-रूप द्वित्व दो द्रव्यों में उत्पन्न होता है; द्रव्य उसका समवायि-कारण होता है, द्रव्य-द्वय-गत एकत्व संख्याद्वय उसका असमवायि-कारण होता है। "अयमेकः अयमेकः" इस प्रकार के द्वित्व की उत्पत्ति के आश्रय द्रव्यों में एकत्व-प्रकारक अपेक्षा-बुद्धि उसका निमित्त-कारण है। समवाय-सम्बन्ध से वह अव्यासज्य-वृत्ति है, एक द्रव्य में भी रहता है, किन्तु पर्याप्ति-सम्बन्ध से व्यासज्य-वृत्ति है। इस सम्बन्ध से वह एकमात्र में नहीं रहता, अपितु दो द्रव्यों में ही रहता है। द्वित्व के जन्म के बाद द्वित्व और द्वित्वत्व का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होता है। उसके बाद द्वित्व के सविकल्पक प्रत्यक्ष के जन्म के साथ अपेक्षा-बुद्धि का नाश होता है और तदनन्तर द्वित्व का नाश होता है।

बुद्धि-विशेष-विषयता को अथवा विषयता-सम्बन्ध से बुद्धि-विशेष को द्वित्व इसलिए माना जाता है जिससे द्रव्य-भिन्न गुण आदि में भी द्वित्व

की यथार्थ बुद्धि हो सके। विषयिता-सम्बन्ध से तार्ण-वह्न्यभाव और वह्नितार्ण-भाव में भेद है। "तार्णो वह्निः" इस ज्ञान में विषयिता-सम्बन्ध से तार्ण-वह्नि रहता है, वह्नि-तार्ण नहीं रहता; एवं "वह्निः तार्णः" इस ज्ञान में विषयिता-सम्बन्ध से वह्नि-तार्ण रहता है, तार्ण-वह्नि नहीं रहता। दोनों अभावों में भेद को स्पष्ट करने के लिए यह कहा जाता है कि तार्ण-वह्न्यभाव की प्रतियोगितावच्छेदकता की पर्याप्ति की अनुयोगिता तार्णत्व-वह्नित्व-द्वय में है, वह्नित्व-तार्णत्व-द्वय में नहीं है। इससे प्रतीत होता है कि तार्णत्व-वह्नित्व-गत द्वित्व वह्नित्व-तार्णत्व-गत द्वित्व से भिन्न है। यह भिन्नता बुद्धि-विशेष-विषयता को या विषयता-सम्बन्ध से बुद्धि-विशेष को द्वित्व मानने पर स्पष्ट हो जाती है, क्योंकि वह्नित्वावच्छिन्न में तार्णत्व-प्रकारक "तार्णो वह्निः" यह बुद्धि प्रकारता-सम्बन्ध से तार्णत्व-वह्नित्व-गत द्वित्व है और तार्णत्वावच्छिन्न में वह्नित्व-प्रकारक "वह्निस्तार्णः" यह बुद्धि प्रकारता-सम्बन्ध से वह्नित्व-तार्णत्व-गत द्वित्व है। उक्त बुद्धियों के भिन्न होने से तदात्मक द्वित्व में भेद अनायास सिद्ध है।

साधनता—हेतुता

अनुमिति-जनकता का अवच्छेदक पक्षनिष्ठ-विशेष्यता-निरूपित साध्य-व्याप्त्यवच्छिन्न प्रकारता साधनता है। "साध्यव्याप्यहेतुमान् पक्षः" इस ज्ञान में विद्यमान अनुमिति-जनकता का अवच्छेदक उक्त प्रकारता साधनता है।

सविकल्पक ज्ञान के अन्य भी कुछ भेद हैं, जिन्हें विषयता के सम्बन्ध में जानना आवश्यक है, जैसे, एकत्र एकावगाही, एकत्र द्वयावगाही, उभयत्र एकावगाही, समूहालम्बन (एक धर्म-विशिष्ट में अनेकावगाही तथा अन्यान्यधर्मविशिष्ट में अनेकावगाही), विशिष्ट-वैशिष्ट्यावगाही, उपलक्षितवैशिष्ट्यावगाही, विशेष्य में विशेषण विशेषण में विशेषणान्तर वैशिष्ट्यावगाही।

जो ज्ञान किसी एक धर्मी में किसी एक धर्म को विषय करता है, उसे एकत्र एकावगाही कहा जाता है, जैसे, "भूतलं घटवत्" यह ज्ञान एक धर्मी भूतल में एक धर्म घट को विषय करने से एकत्र एकावगाही है। इसमें भूतल में घटनिष्ठ-प्रकारता-निरूपित-विशेष्यता है और घट में भूतलनिष्ठ-विशेष्यता-निरूपित-प्रकारता है। ये दोनों प्रकारतविशो, ष्यताएँ

केवल एक-एक हैं। ज्ञान में घटनिष्ठ-प्रकारता से निरूपित प्रकारिता है और भूतलनिष्ठ-विशेष्यता से निरूपित विशेष्यिता है, यतः यह एक विशिष्ट ज्ञान है और विशिष्ट ज्ञान विशेष्य-विशेषण के सम्बन्ध को भी विषय करता है, अतः इस ज्ञान में घट-भूतल का संयोग भी एक विषय है; उसमें संसर्गता नाम की विषयता है। इस संसर्गता का प्रकारता और विशेष्यता के साथ निरूप्य-निरूपक-भाव है। ज्ञान में संसर्गता से निरूपित संसर्गिता है। जिन विषयताओं में निरूप्य-निरूपक-भाव होता है, उनसे निरूपित विषयिताओं में अवच्छेद्य-अवच्छेदक-भाव होता है, इस नियम के अनुसार प्रकारता, संसर्गता और विशेष्यता में निरूप्य-निरूपक-भाव होने से प्रकारिता, संसर्गिता और विशेष्यिता में अवच्छेद्यावच्छेदक भाव है। विषयता द्वारा इस ज्ञान का परिचय यदि देना होगा तो संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न-संयोगनिष्ठ-संसर्गता-निरूपित, घटनिष्ठ-प्रकारता-निरूपित, भूतलनिष्ठ-विशेष्यताशाली ज्ञान कहा जायगा और यदि विषयिता के द्वारा परिचय देना होगा तो संयोग-निरूपित-संसर्गित्वावच्छिन्न, घट-निरूपित-प्रकारित्वावच्छिन्न भूतल-निरूपित विशेष्यिता का आश्रय ज्ञान कहा जायगा।

जो ज्ञान एक धर्मी में एक साथ स्वतन्त्र रूप से दो धर्मों को विषय करता है, उसे एकत्र द्वयावगाही ज्ञान कहा जाता है, जैसे, "भूतलं घटपटवत्" यह ज्ञान एक धर्मी भूतल में स्वतन्त्र रूप से घट, पट दो धर्मों को एक साथ विषय करने से एकत्र द्वयावगाही है। इसमें घटनिष्ठ-प्रकारता और पटनिष्ठ-प्रकारता दोनों से निरूपित एक ही विशेष्यता भूतल में है, किन्तु जो ज्ञान एक धर्मी में घट, पट को स्वतन्त्र रूप से विषय न कर उभय-रूप में या एक-विशिष्ट अपर-रूप में विषय करेगा, वह एकत्र द्वयावगाही न कहा जायगा, जैसे, "भूतलं घटपटोभयवान्" अथवा "भूतलं घटविशिष्टपटवान्" इन ज्ञानों में क्रम से घटपटोभयनिष्ठ एक प्रकारता से निरूपित तथा घटविशिष्ट-पटनिष्ठ एक प्रकारता से निरूपित एक ही एक विशेष्यता भूतल में होती है।

जो ज्ञान स्वतन्त्र रूप से दो धर्मी में एक धर्म को विषय करता है उसे उभयत्र एकावगाही कहा जाता है, जैसे, "घटः पटश्च द्रव्यम्" यह ज्ञान स्वतन्त्र घट और पट धर्मी में एक धर्म द्रव्यत्व को विषय करने से उभयत्र एकावगाही है; इसमें घट, पटनिष्ठ विभिन्न दो विशेष्यताओं से निरूपित एक ही प्रकारता द्रव्यत्व में है।

जो ज्ञान एक-धर्म-विशिष्ट धर्मी में अनेक धर्मों को अथवा विभिन्न धर्मों से विशिष्ट विभिन्न धर्मी में अनेक धर्मों को विषय करता है, उसे समूह को विषय करने के आधार पर समूहालम्बन कहा जाता है, जैसे, "भूतलं घटवत् पटवच्च", यह ज्ञान एक धर्म भूतलत्व से विशिष्ट भूतल धर्मी में घट, पट अनेक धर्मों को विषय करने से समूहालम्बन है; एवं "भूतलं घटवत् महानसं च वह्निमत्" यह ज्ञान भूतलत्व, महानसत्व इन विभिन्न धर्मों से विशिष्ट भूतल और महानस रूप विभिन्न धर्मी में घट, वह्नि रूप अनेक धर्मों को विषय करने से समूहालम्बन है। समूहालम्बन में प्रकारता के भेद से विशेष्यता में भेद होता है, अतः समूहालम्बन को इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है कि जिस ज्ञान में एक से अधिक मुख्य विशेष्यता हो, वह समूहालम्बन है। जो विशेष्यता प्रकारता से अवच्छिन्न नहीं होती, उसे मुख्य विशेष्यता कहा जाता है। उक्त अन्तिम दो ज्ञानों में मुख्य विशेष्यता एक से अधिक है, क्योंकि विशेष्यता प्रकारता भेद से भिन्न है तथा विशेष्य भूतल और महानस के कहीं प्रकार न होने से उनमें रहने वाली विशेष्यताएँ प्रकारता से अनवच्छिन्न हैं।

जो ज्ञान धर्मी में किसी धर्म से विशिष्ट के वैशिष्ट्य-सम्बन्ध को विषय करता है, उसे विशिष्ट-वैशिष्ट्यावगाही कहा जाता है, जैसे, "रक्तो दण्डः" इस ज्ञान से उत्पन्न "रक्तदण्डवान् पुरुषः" यह ज्ञान "रक्तो दण्डः" इस ज्ञान से गृहीत रक्तत्व से विशिष्ट दण्ड के संयोग को विषय करने से रक्तत्व-विशिष्ट-दण्डवैशिष्ट्यावगाही है। इस ज्ञान में पुरुष के साथ रक्त-दण्ड के संयोग का भान सामान्य-संयोग के रूप में नहीं होता, किन्तु रक्तदण्ड-प्रतियोगिक-संयोगत्व-रूप से होता है, अतः इस ज्ञान की संयोगनिष्ठ-संसर्गता रक्तदण्ड-प्रतियोगिकत्व से अवच्छिन्न होती है, और दण्डनिष्ठ-प्रकारता रक्तत्व से अवच्छिन्न होती है, अतः इस ज्ञान का परिचय रक्तदण्ड-प्रतियोगितावच्छिन्न संयोगनिष्ठ-संसर्गता-निरूपित रक्त-दण्डनिष्ठ-प्रकारता-निरूपित पुरुषनिष्ठ-विशेष्यताशाली अथवा संयोगनिष्ठ-संसर्गता-निरूपित, रक्तत्वावच्छिन्न-दण्डनिष्ठ-प्रकारता-निरूपित, पुरुषनिष्ठ-विशेष्यताशाली ज्ञान के रूप में दिया जाता है। यह ज्ञान "रक्तदण्डा-भाववान् पुरुषः" इस ज्ञान का प्रतिबन्धक और इस ज्ञान से प्रतिबध्य होता है।

जो ज्ञान विशेष्य में विशेषण और विशेषण में अन्य विशेषण को विषय करता है, वह द्वितीय विशेषण से उपलक्षित प्रथम विशेषण के वैशिष्ट्य का ग्राहक-ज्ञान कहा जाता है, जैसे, पुरुष, दण्ड और दण्डगत रक्तत्व–रक्त-रूप के साथ चक्षु का एक साथ सन्निकर्ष होने पर जब तीनों के परस्पर सम्बन्ध को विषय करने वाला "रक्तदण्डवान् पुरुषः" ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है तो वह पुरुष में रक्तत्व-विशिष्ट दण्ड के सम्बन्ध को विषय न कर पुरुष में दण्ड-सम्बन्ध को और दण्ड में रक्तत्व-सम्बन्ध को विषय करने से रक्तत्व से उपलक्षित दण्ड के वैशिष्ट्य का ग्राहक होता है। इसमें संयोगनिष्ठ-संसर्गता का अवच्छेदक केवल संयोगत्व होता है, रक्तत्वविशिष्ट-दण्डप्रतियोगिकत्व नहीं होता; दण्डनिष्ठ-प्रकारता का भी अवच्छेदक केवल दण्डत्व होता है, रक्तत्व नहीं होता, अतः रक्तदण्ड-निष्ठ-प्रकारता-निरूपित संयोगत्वमात्रावच्छिन्न संसर्गतानिरूपित पुरुषनिष्ठ-विशेष्यताशाली अथवा रक्तत्वनिष्ठ-प्रकारता-प्रकारता-निरूपित विशेष्यत्वावच्छिन्न, दण्डनिष्ठ-प्रकारता-निरूपित विशेष्यताशाली ज्ञान के रूप में इसका परिचय दिया जाता है। यह ज्ञान "रक्तदण्डाभाववान् पुरुषः" इस ज्ञान का न तो प्रतिबन्धक होता है और न इससे प्रतिबध्य ही होता है।

इच्छा

इच्छा के भी दो भेद हैं—नित्य और जन्य। नित्य इच्छा एक होती है और ईश्वर में समवेत होती है। जन्य इच्छा के दो भेद होते हैं—संवादिनी और विसंवादिनी। यथार्थ-ज्ञान से जन्य इच्छा संवादिनी और अयथार्थ-ज्ञान से जन्य इच्छा विसंवादिनी होती है। संवाद का अर्थ है सामञ्जस्य और विसंवाद का अर्थ है असामञ्जस्य। इच्छा का वस्तु के साथ सामञ्जस्य होने का अर्थ है—जो वस्तु जैसी हो उसी रूप में उस वस्तु की इच्छा का होना, जैसे, रजत को ही रजत के रूप में पाने की इच्छा; और जो वस्तु जैसी नहीं है, उस रूप में उस वस्तु को पाने की इच्छा होना वस्तु के साथ इच्छा का विसंवाद—असामञ्जस्य है, जैसे, शुक्ति को रजत समझ कर रजत-रूप में उसे पाने की इच्छा। इनमें पहली इच्छा में उक्त तीन विषयताओं से विलक्षण एक विशिष्ट विषयता होती है और दूसरी में विशिष्ट का सम्बन्ध न होने से विशिष्ट विषयता नहीं होती।

जन्य इच्छा के दूसरे भी दो भेद हैं—फलेच्छा और उपायेच्छा। फल दो हैं—सुख और दुःखनिवृत्ति; अतः सुख तथा दुःखनिवृत्ति की "सुखं मे स्याद् दुःखं भा भूत्" यह इच्छा फलेच्छा है। सुख तथा दुःखनिवृत्ति के साधन की इच्छा उपायेच्छा है। पहली इच्छा का जन्म फल के स्वरूप ज्ञान-मात्र से ही होता है और दूसरी इच्छा का जन्म फल-साधनता के ज्ञान से होता है।

द्वेष

द्वेष प्रातिकूल्य के ज्ञान से उत्पन्न होता है। प्रातिकूल्य—अपने लिए अवाञ्छनीयत्व का ज्ञान ईश्वर को नहीं होता, क्योंकि ईश्वर के सर्वथा परिपूर्ण, नित्यतृप्त, सर्वज्ञ और अशरीर होने से कोई वस्तु उसके लिए प्रतिकूल या अनुकूल नहीं होती; अतः प्रातिकूल्य ज्ञान से उत्पन्न होने के कारण द्वेष ईश्वर में नहीं होता, किन्तु मिथ्या ज्ञान में बँधे जीव में ही होता है।

दुःख स्वभावतः प्रतिकूल होने से द्वेष्य होता है और दुःख का साधन स्वभावतः प्रतिकूल दुःख का कारण होने से प्रतिकूल होता है, अतः दुःख और दुःख का कारण द्वेष के विषय हैं। इसकी विषयताएँ और विषयिताएँ भी सविकल्पक ज्ञान के समान होती हैं।

प्रयत्न

प्रयत्न के भी दो भेद हैं—नित्य और जन्य। नित्य-प्रयत्न एक और ईश्वर में समवेत होता है। जन्य-प्रयत्न के तीन भेद हैं—प्रवृत्ति, निवृत्ति और जीवन-योनि। इनमें जीवन-योनि का अर्थ है जीवनादृष्ट-हेतुक। यह प्रयत्न प्राणी में उस समय तक उत्पन्न होता है, जब तक उसका जीवनादृष्ट—उसे जीवित रखने वाला पुण्य-पाप रहता है। इसी प्रयत्न से शरीर में नाड़ी का स्पन्दन, रक्त का संचार और श्वास-प्रश्वास की क्रियाएँ होती हैं।

इससे भिन्न उक्त दोनों प्रयत्न क्रम से इष्ट-साधनता और अनिष्ट-साधनता के ज्ञान से उत्पन्न होते हैं। इष्ट-साधनता ज्ञान से उत्पन्न प्रयत्न–प्रवृत्ति के तीन विषय होते हैं—फल या उद्देश्य, विधेय और उपादान; जैसे, कोई भूखा आदमी भोजन करने में प्रवृत्त होता है तो उसकी प्रवृत्ति के तीन विषय होते हैं—भोजन करने का उद्देश्य है तृप्ति—

भूख की समाप्ति, विधेय है भोजन और उपादान है भोज्य-पदार्थ। उद्देश्य में रहने वाली विषयता को उद्देश्यता या फलता, विधेय में रहने वाली विषयता को विधेयता या साध्यता और उपादान-गत विषयता को उपादानता कहा जाता है। इस प्रकार उस प्रवृत्ति को तृप्तिफलक-भोजन-विधेयक भोज्य-पदार्थोपादानक प्रवृत्ति के रूप में वर्णित किया जाता है।

भावना

"भावयति पूर्वज्ञातं ज्ञापयति या सा भावना" इस व्युत्पत्ति के अनुसार पूर्वज्ञात के ज्ञापक आत्म-गुण का नाम है भावना। यह आत्मा का एक प्रकार का संस्कार है। इसका जन्म उपेक्षानात्मक अनुभव से होता है, जो अनुभवकर्त्ता–आत्मा में सुप्तवत् पड़ा रहता है। वह जब कभी अनुकूल साधक पा कर उद्बुद्ध होता है तो वह जिस अनुभव से उत्पन्न हुआ रहता है उसके विषय का स्मरण करा देता है। इसमें किसी प्रमाण का अपेक्षा नहीं होती। यह केवल भावना के उद्बुद्ध होने पर केवल आत्मा और मन के संयोगमात्र से उत्पन्न होता है। भावना की विषयताएँ और विषयिताएँ भी उसके उत्पादक अनुभव की विषयताओं और विषयिताओं के समान होती हैं। भावना का नाश कई कारणों से होता है, जैसे, उससे उत्पन्न होने वाला अन्तिम स्मरण, अत्यन्त लम्बे समय तक उद्बोधक की अप्राप्ति, दीर्घ व्याधि और मृत्यु। कुछ भावनाएँ ऐसी होती हैं जिनका नाश इन कारणों से नहीं होता है, जैसे, वे भावनाएँ, जिनसे उत्पाद्य स्मरण के विना नवजात बालक का दुग्धपान आदि में प्रवृत्ति के अभाव में जीवित रह पाना असम्भव होता है।

तादात्म्य

तादात्म्य भी एक सम्बन्ध है। "स आत्मा-स्वरूपं यस्य स तदात्मा, तस्य भावः तादात्म्यम्" इस व्युत्पत्ति के अनुसार तादात्म्य का अर्थ है तद्—किसी वस्तु का असाधारण धर्म। फलतः जिस वस्तु का जो असाधारण धर्म है, जो एकमात्र उसी में रहता है, वही उसका तादात्म्य है। इसलिए उस वस्तु का तादात्म्य-सम्बन्ध उसी वस्तु के साथ होता है, अन्य के साथ नहीं होता। तादात्म्य उक्त निर्वचन के अनुसार आश्रयभेद से भिन्न-भिन्न होने से अनन्त है, फिर भी उसे अनुगत-रूप से एक सम्बन्ध माना जाता है। सभी तादात्म्य का अनुगत-रूप है भेदविशिष्टान्यधर्मत्व। भेद का वैशिष्ट्य है स्वाश्रयवृत्तित्व और स्वप्रतियोगिवृत्तित्व, यह उभय।

इसके अनुसार जो धर्म किसी भेद के आश्रय और प्रतियोगी दोनों में रहेगा वह स्वाश्रयवृत्तित्व और स्वप्रतियोगिवृत्तित्व इस उभय-सम्बन्ध से विशिष्ट हो जायगा, जैसे, घटत्व, पटत्व आदि नीलघटादिभेद के आश्रय पीतघट आदि में रहने तथा प्रतियोगी नीलघट आदि में भी रहने से उक्त भेद से विशिष्ट हैं, किन्तु जो धर्म एकमात्र में रहता है वह किसी भेद के आश्रय और प्रतियोगी दोनों में न रहने से भेद-विशिष्ट न होकर भेद-विशिष्टान्य हो जाता है, जैसे, तद्घट का रूप केवल तद्घट में रहने से तद्घट-भेद के प्रतियोगी में तो रहता है, पर उसके आश्रय अन्य घट आदि में नहीं रहता। इसी प्रकार वह अन्य घट आदि के भेद के आश्रय तद्घट में तो रहता है, पर उसके प्रतियोगी अन्य घट आदि में नहीं रहता। अतः तद्घट-गत-रूप भेदविशिष्टान्य-धर्म होने से तद्घट का तादात्म्य है। ऐसे सभी धर्मरूप-तादात्म्य भेदविशिष्टान्य-धर्मत्व-रूप से एक अनुगत-सम्बन्ध कहे जाते हैं।

भूतत्व

पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश, ये पाँच द्रव्य भूत कहे जाते हैं। भूतत्व इनका साधर्म्य—समान धर्म है। इसका लक्षण है—"बहिरिन्द्रिय-ग्राह्य विशेष-गुण"। जो विशेष-गुण बाह्य इन्द्रिय—घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक् और श्रोत्र में से किसी इन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष होने योग्य होता है, उस विशेष-गुण को ही भूतत्व कहा जाता है। वह गुण जिसमें रहता है, उसे भूत कहा जाता है।

घ्राण से प्रत्यक्ष-योग्य विशेष-गुण गन्ध का आश्रय होने से पृथिवी भूत है; रसन इन्द्रिय से प्रत्यक्ष-योग्य विशेष-गुण रस का आश्रय होने से जल भूत है; चक्षु से प्रत्यक्ष-योग्य विशेष-गुण रूप का आश्रय होने से तेज भूत है; त्वक् इन्द्रिय से प्रत्यक्ष-योग्य विशेष-गुण स्पर्श का आश्रय होने से वायु भूत है; श्रोत्र से प्रत्यक्ष-योग्य विशेष-गुण शब्द का आश्रय होने से आकाश भूत है। इस प्रकार यद्यपि पृथिवी आदि द्रव्यों में विशेष-गुणात्मक भूतत्व भिन्न-भिन्न है, फिर भी उन सभी को बहिरिन्द्रिय-ग्राह्य विशेष-गुणत्व-रूप से अनुगत कर उसे एक धर्म कहा जाता है।

विशेष-गुण

न्याय-वैशेषिक-दर्शन में चौबीस गुण माने गये हैं—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि,

सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म और शब्द।

इन्हें दो वर्गों में विभाजित किया गया है—विशेष-गुण और सामान्य-गुण।

बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्नेह, सांसिद्धिक-द्रवत्व, अदृष्ट धर्म अधर्म, भावना और शब्द—इन्हें विशेष-गुण कहा गया है और शेष को सामान्य-गुण।

विशेष-गुण शब्द-व्यपदेश्यत्व-रूप से उक्त सभी विशेष-गुण लक्ष्य हैं और बुद्धि से लेकर शब्द-पर्यन्त अन्यतमत्व-लक्षण हैं।

अथवा बुद्ध्यादि सुखान्त-अन्यतमत्व रूप से उक्त सभी विशेष-गुण लक्ष्य हैं और उनके निम्न लक्षण हैं—

(१) तेज के संयोग से जन्य तथा शब्द इनमें से किसी एक में वृत्ति एवं नैमित्तिक द्रवत्व में अवृति जाति तथा जलत्व, आत्मत्व में किसी एक का व्याप्यतावच्छेदक जाति, इन दोनों प्रकार की जातियों में से किसी का जो आश्रय हो वह विशेष-गुण है।

पृथिवी में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का जन्म तेज के संयोग से होता है, अतः रूपत्व, रसत्व, गन्धत्व और स्पर्शत्व ये चार जातियाँ तेजःसंयोग-जन्य में वृत्ति जाति हैं। शब्दत्व और उनकी व्याप्य जातियाँ शब्द-वृत्ति हैं। ये सभी जातियाँ नैमित्तिक द्रवत्व में अवृत्ति हैं। स्नेह और सांसिद्धिक-द्रवत्व जलत्व के व्याप्य हैं, अतः स्नेहत्व और सांसिद्धिक-द्रवत्व जातियाँ जलत्व की व्याप्यतावच्छेदक हैं। बुद्धि आदि आत्मत्व के व्याप्य हैं, अतः बुद्धित्व आदि जातियाँ आत्मत्व की व्याप्यतावच्छेदक हैं। तेज के संयोग से जन्य तथा शब्द इनमें से किसी एक में वृत्ति नैमित्तिक द्रवत्वावृत्ति जाति का एक वर्ग एवं जलत्व, आत्मत्व में किसी एक का व्याप्यतावच्छेदक जातियों का एक वर्ग, इन दोनों वर्गों में किसी एक वर्ग की जाति का आश्रय गुण विशेष-गुण है।

प्रथम वर्ग की जाति में नैमित्तिक-द्रवत्वावृत्तित्व विशेषण से नैमित्तिक द्रवत्वत्व, गुणत्व आदि जाति को लेकर नैमित्तिक द्रवत्व में होने वाली अतिव्याप्ति का वारण किया गया है।

(२) तेज के संयोग से जन्य तथा शब्द-अन्यतर में वृत्ति नैमित्तिक-द्रवत्वावृत्ति जाति एवं स्वव्याप्यतावच्छेदक-जातित्व-सम्बन्ध से आत्मत्व-विशिष्ट जाति और स्वव्याप्यतावच्छेदक-जातित्व-सम्बन्ध से जलत्वविशिष्ट जाति, इन सभी जातियों में किसी एक जाति का आश्रय गुण विशेष-गुण है। प्रथम जाति के वर्ग में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द वृत्ति जातियाँ हैं। दूसरी जाति के वर्ग में बुद्धित्व आदि भावनात्वपर्यन्त नव जातियाँ हैं। स्नेहत्व और सांसिद्धिक-द्रवत्वत्व जाति हैं। इनमें से कोई न कोई जाति विशेष-गुण कहे जाने वाले प्रत्येक गुण में रहती है।

(३) मन में अन्योन्याभाव की प्रतियोगिता की अवच्छेदकता के अवच्छेदक गुरुत्वावृत्ति गुणविभाजक जाति, सांसिद्धिक-द्रवत्वत्व, भावनात्व, इन जातियों में किसी एक जाति का आश्रय गुण विशेष-गुण है। मन में "रूपादिमान् न", "बुद्ध्यादिमान् न", "शब्दवान् न" आदि अन्योन्याभाव रहता है। उसकी प्रतियोगिता 'रूपादिमान्', 'बुद्ध्यादि-मान्' और 'शब्दवान्' में है। उसकी अवच्छेदकता रूप आदि, बुद्धि आदि तथा शब्द में है। उसका अवच्छेदक रूपत्व आदि, बुद्धित्व आदि तथा शब्दत्व आदि जाति हैं। ये सभी जातियाँ गुण-विभाजक हैं, गुरुत्व में अवृत्ति भी हैं, अतः गुरुत्वत्व से भिन्न उक्त सभी जातियाँ उक्त जाति के वर्ग में हैं। सांसिद्धिक-द्रवत्वत्व और भावनात्व के गुणविभाजक न होने से उन्हें पृथक् कहा गया है। नैमित्तिक द्रवत्वत्व जाति को लेकर नैमित्तिक द्रवत्व में, अभिघातत्व को लेकर अभिघात-संयोग में अति-व्याप्ति के वारणार्थ जाति में गुण-विभाजकत्व विशेषण दिया गया है। गुरुत्वत्व जाति को लेकर गुरुत्व में अतिव्याप्ति के वारणार्थ जाति में गुरुत्वावृत्तित्व विशेषण दिया गया है।

(४) भावना से भिन्न जो वायुवृत्ति में वृत्ति, स्पर्श में अवृत्ति, धर्म का समवायी, उससे भिन्न तथा गुरुत्व एवं जलीय द्रवत्व से भिन्न गुण विशेष-गुण है।

संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व और वेग, वायु के ये गुण वायुवृत्ति, संख्या आदि में वृत्ति तथा स्पर्श में अवृत्ति संख्यात्व आदि धर्म के समवायी हैं। इनका भेद इनमें न रहने से यह लक्षण इनमें अतिव्याप्त नहीं होता। स्पर्शावृत्ति न कहने पर वायुवृत्ति में वृत्ति, धर्म के समवायी के मध्य स्पर्श भी आ जाता, अतः उक्त धर्म-

समवायी से भिन्न न होने से उसमें लक्षण की अव्याप्ति होती; किन्तु स्पर्शावृत्ति-समवायी कहने से वह उक्त धर्म-समवायी के वर्ग में न आने से उनसे भिन्न हो जाता है, अतः उसमें अव्याप्ति नहीं होती। वायु-वृत्ति-संस्कार में वृत्ति-धर्म-संस्कारत्व का समवायी होने से भावना भी उक्त धर्म-समवायी से भिन्न नहीं होती, अतः उक्त धर्म-समवायी में भावना-भिन्नत्व विशेषण देने से भावना उस वर्ग से पृथक् कर दी गयी। फलतः उसमें भी अव्याप्ति का प्रसङ्ग समाप्त हो गया। गुरुत्व और नैमित्तिक द्रवत्व भी उक्त धर्म-समवायी संख्या आदि से भिन्न हैं। अतः उनमें अतिव्याप्ति के वारणार्थ गुरुत्व और जलीय द्रवत्व से भिन्नत्व का भी लक्षण में समावेश किया गया है। उक्त सारे विशेषण जाति आदि में रह जाते हैं, अतः जाति आदि में अतिव्याप्ति के वारणार्थ विशेष्य-भाग गुण को लक्षण में निहित किया गया है।

विशेष-गुण का एक नया निर्वचन

जिस जाति का गुण पृथिवी आदि नव प्रकार के द्रव्यों में किसी एक ही प्रकार के द्रव्य में रहता है, उस जाति के गुणों को विशेष-गुण कहा जाता है, क्योंकि ऐसे गुण विभिन्न प्रकार के द्रव्यों में न रह कर एक ही प्रकार के द्रव्य में रहते हैं, जैसे, गन्धत्व-जाति का आश्रय गन्ध-गुण केवल पृथिवी में ही रहता है, अतः वह पृथिवी का विशेष-गुण है। नीलत्व, पीतत्व, रक्तत्व, हरितत्व, कपिशत्व और चित्रत्व जाति के आश्रय नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश और चित्र ये रूप-गुण भी पृथिवी-मात्र में रहने से पृथिवी के विशेष-गुण हैं। शुक्ल रूप दो प्रकार का है—भास्वर और अभास्वर। अभास्वर भी दो प्रकार का है—पाकज और अपाकज। भास्वर उस शुक्ल रूप को कहा जाता है, जो स्व और पर का अर्थात् अपना और अपने आश्रय का तथा इन दोनों से भिन्न का भी प्रकाशक होता है, जैसे, प्रदीप, सूर्य आदि का रूप अपने को, अपने आश्रय प्रदीप, सूर्य आदि को तथा सन्निहित अन्य वस्तु को प्रकाशित करने से स्व-पर-प्रकाशक है। इस रूप की जाति है भास्वरत्व। इसका आश्रय गुण भास्वर-रूप केवल एक ही प्रकार के द्रव्य तेज में रहने से यह तेज का विशेष-गुण है। अभास्वर उस शुक्ल रूप को कहा जाता है, जो अपने और अपने आश्रय-मात्र का प्रकाशक होता है, उनसे भिन्न का प्रकाशक नहीं होता, जैसे, पृथिवी और जल का शुक्ल रूप। इस रूप के

दो भेद हैं—पाकज अभास्वर और अपाकज अभास्वर। इनमें पाक का जन्यतावच्छेदक तथा शुक्लत्व के व्याप्य अभास्वरत्व-जाति का आश्रय गुण पाकज अभास्वर केवल पृथिवी में और पाकज रूप में न रहने वाली एवं शुक्लत्व-व्याप्य अभास्वरत्व-जाति का आश्रय गुण अपाकज अभास्वर शुक्ल-रूप केवल जल में रहता है। अतः पाकज अभास्वर शुक्ल रूप पृथिवी का और अपाकज अभास्वर शुक्ल रूप जल का विशेष-गुण है।

रस के छः भेद हैं—मधुर, आम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त। इनमें आम्लत्व आदि पाँच जातियों के आश्रय आम्ल आदि पाँच रस-गुण पृथिवी-मात्र में रहने से पृथिवी के विशेष-गुण हैं। मधुर रस के दो भेद हैं—पाकज और अपाकज। पाकज-मधुरत्व-जाति का आश्रय गुण पाकज मधुर केवल पृथिवी में रहने से पृथिवी का और अपकाज-मधुरत्व-जाति का आश्रय गुण अपाकज मधुर रस केवल जल में रहने से जल का विशेष-गुण है।

स्पर्श के चार भेद हैं—शीत, उष्ण, पाकज अनुष्णाशीत और अपाकज अनुष्णाशीत। इनमें शीतत्व-जाति का आश्रय गुण शीत-स्पर्श केवल जल में रहने से जल का विशेष-गुण है। उष्णत्व-जाति का आश्रय गुण उष्ण-स्पर्श केवल तेज में रहने से तेज का विशेष-गुण है। पाकज-अनुष्णाशीतत्व-जाति का आश्रय गुण पाकज-अनुष्णाशीत-स्पर्श पृथिवी-मात्र में रहने से पृथिवी का और अपाकज-अनुष्णाशीतत्व-जाति का आश्रय गुण अपाकज अनुष्णाशीत-स्पर्श वायु-मात्र में रहने से वायु का विशेष-गुण है।

स्नेहत्व-जाति का आश्रय गुण स्नेह केवल जल में रहने से जल का विशेष-गुण है। सांसिद्धिक-द्रवत्वत्व-जाति का आश्रय गुण सांसिद्धिक-द्रवत्व भी केवल जल में रहने से जल का विशेष-गुण है।

बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और भावना के सजातीय सभी गुण केवल आत्मा में रहने से आत्मा के विशेष-गुण हैं।

शब्द-जातीय गुण के केवल आकाश में रहने से शब्द आकाश का विशेष-गुण है।

उक्त आशय से ही 'कारिकावली' में विशेष-गुण का उल्लेख इस प्रकार किया गया है :—

"रूपं गन्धो रसः स्पर्शः स्नेहः सांसिद्धिको द्रवः ।
बुद्ध्यादिर्भावनान्तश्च शब्दो वैशेषिका गुणाः ॥"

उक्त अभिप्राय को दृष्टिगत कर न्याय-भाषा में विशेष-गुण का लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—"द्रव्यविभाजकोपाधिविशिष्ट-जातिमद् गुण विशेष-गुण है। वैशिष्ट्य-स्वाश्रयवृत्तितावच्छेदकत्व और स्वानाश्रयवृत्तितानवच्छेदकत्व इस उभय-सम्बन्ध से।" गन्ध आदि द्रव्य-विभाजक उपाधि से विशिष्ट जातिमान् गुण हैं, जैसे, द्रव्य-विभाजक उपाधि है पृथिवीत्व, उससे विशिष्ट जाति है गन्धत्व, क्योंकि पृथिवीत्व के उक्त दोनों सम्बन्ध उसमें विद्यमान हैं, जैसे, स्व-पृथिवीत्व के आश्रय पुष्प आदि की वृत्तिता गन्ध में है, गन्धत्व उसका अवच्छेदक है। इसी प्रकार स्व-पृथिवीत्व के अनाश्रय जल आदि की वृत्तिता गन्ध में नहीं है किन्तु स्नेह में है, अतः गन्धत्व उस वृत्तिता का अनवच्छेदक है। गन्ध के समान अन्य विशेष-गुण भी द्रव्य-विभाजक किसी न किसी उपाधि से उक्त उभय-सम्बन्ध से विशिष्ट जाति के आश्रय हैं, अतः सभी विशेष-गुणों में उक्त लक्षण का समन्वय निर्बाध-रूप से ज्ञेय है।

उक्त लक्षण में द्रव्य-विभाजक का प्रवेश न करने पर पृथिवी, जल, तेजगत अन्यतमत्व उपाधि से विशिष्ट द्रवत्वत्व जाति भी हो जाती है, क्योंकि वह उक्त अन्यतमत्व के आश्रय पृथिवी, जल तथा तेज की वृत्तिता का अवच्छेदक एवं उसके अनाश्रय वायु आदि की वृत्तिता का अन-वच्छेदक है; फलतः उसके आश्रय नैमित्तिक द्रवत्व में विशेष-गुण के उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। द्रव्य-विभाजक कहने पर उक्त अन्यतमत्व, को नहीं लिया जा सकता, क्योंकि वह द्रव्य-विभाजक नहीं है। द्रव्य को हटा कर विभाजक-मात्र कहने पर यद्यपि उक्त अन्यतमत्व का परिहार हो जाता है, किन्तु गुणत्व को लेकर संख्या आदि में अतिव्याप्ति का वारण नहीं हो सकता, जैसे, पदार्थ-विभाजक उपाधि है गुणत्व; उससे विशिष्ट है संख्यात्व आदि जाति; वह संख्या आदि में है। उक्त लक्षण में जाति-पद न देने से द्रव्य-विभाजक पृथिवीत्व उपाधि से विशिष्ट घट-भूतल-संयोगत्व को लेकर घट-भूतल-संयोग में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति होगी एवं गुण-पद का परित्याग कर देने पर पृथिवीत्व से विशिष्ट घटत्व आदि जाति के आश्रय घट आदि में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति होगी।

सामान्य-गुण

संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, नैमित्तिक द्रवत्व, गुरुत्व और वेग—ये गुण सामान्य-गुण कहे जाते हैं। सामान्य-गुण शब्द व्यपदेश्यत्व-रूप से ये सभी गुण लक्ष्य हैं और संख्या आदि अन्यतमत्व इनका लक्षण है; अथवा संख्या आदि अन्यतमत्व-रूप से ये लक्ष्य हैं और निम्न निर्दिष्ट इनका लक्षण है—

मनःसमवेत में समवेत, भावना में असमवेत जाति का एक वर्ग गुरुत्व, नैमित्तिक द्रवत्व, स्थिति-स्थापक अन्यतम में समवेत, सांसिद्धिक-द्रवत्व-भावना-अन्यतर में असमवेत जाति का एक वर्ग, इन वर्गों की किसी एक जाति का आश्रय गुण सामान्य-गुण है। जाति के प्रथम वर्ग में मनःसमवेत संख्या आदि में समवेत, संस्कारत्वभिन्न संख्यात्व आदि आठ जातियाँ हैं। दूसरे वर्ग की जातियों में वेगत्व नैमित्तिक द्रवत्वत्व, स्थिति-स्थापकत्व जातियाँ हैं। दूसरे वर्ग में द्रवत्वत्व तथा संस्कारत्व जाति के अन्तर्भाव के विरोधार्थ इस वर्ग की जाति में सांसिद्धिक-द्रवत्व-भावना-अन्यतर में असमवेतत्व विशेषण दिया गया है, अन्यथा इन जातियों को लेकर सांसिद्धिक द्रवत्व और भावना, इन विशेष गुणों में अतिव्याप्ति होती। प्रथम वर्ग की जाति में भावना में असमवेतत्व विशेषण दिया गया है, जिससे उस वर्ग में संस्कारत्व का समावेश न हो, अन्यथा मनःसमवेत वेग में समवेत होने से संस्कारत्व जाति को लेकर भावना में अतिव्याप्ति होती।

दूसरे वर्ग की जाति में अन्यतरासमवेतत्व विशेषण देने से द्रवत्वत्व और संस्कारत्व का ग्रहण न होने से उन्हें लेकर सांसिद्धिक द्रवत्व और भावना में अतिव्याप्ति नहीं होती।

मूर्तत्व

पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन—ये पाँच द्रव्य मूर्त कहे जाते हैं। मूर्तत्व इन सभी का साधर्म्य—समान धर्म है। मूर्तत्व का अर्थ है अवच्छिन्न या अपकृष्ट परिमाण। इन द्रव्यों का परिमाण आकाश आदि के परम महान् परिमाण से अपकृष्ट—न्यून होता है। अपकृष्ट का योगार्थ है अपकर्ष का आश्रय, किन्तु यह अर्थ यहाँ ग्राह्य नहीं हो सकता, क्योंकि अपकर्ष और उत्कर्ष की स्थिति सजातियों में ही होती है, विजातियों

में नहीं; अतः परमाणु और द्व्यणुक का अणुजातीय एक परिमाण है, अतः उन्हीं के बीच उनमें उत्कर्ष-अपकर्ष का विचार होगा। त्रसरेणु और उसमें अतिरिक्त द्रव्य का महत्त्व जातीय अन्य परिमाण है, अतः परमाणु और द्व्यणुक के परिमाण में त्रसरेणु आदि के परिमाण की दृष्टि से उत्कर्ष-अपकर्ष का विचार नहीं होगा; फलतः अपकृष्ट का अपकर्षाश्रय अर्थ लेने पर परमाणु के परिमाण का ग्रहण न होगा, क्योंकि वह अपनी जाति के परिमाण में उत्कृष्ट है, इसलिए अपकर्षाश्रय-परिमाण का आश्रय न होने से पृथिवी आदि के परमाणु मूर्त न हो सकेंगे। अतः वर्तमान सन्दर्भ में अपकृष्ट का अर्थ होगा परम महत्त्व से भिन्न; इसके अनुसार मूर्त का लक्षण है परम महत्त्व से भिन्न परिमाण। यह भी यद्यपि आश्रय-भेद से भिन्न है तथापि अपकृष्ट-परिमाणत्व-रूप से सभी ऐसे परिमाणों का अनुगम कर उन्हें मूर्तत्व नाम से एक धर्म कहा जाता है।

विभुत्व

आकाश, काल, दिशा और आत्मा—ये चार द्रव्य विभु द्रव्य कहे जाते हैं। विभुत्व इनका साधर्म्य—समान धर्म है। विभुत्व का अर्थ है सर्व-मूर्त-द्रव्य-संयोग—जिसका सभी मूर्त द्रव्यों के साथ संयोग हो वह विभु है। आकाश आदि यतः परम महान् हैं, उनकी परिधि के बाहर किसी द्रव्य के होने की सम्भावना नहीं है, अतः उनका संयोग सभी मूर्त द्रव्यों के साथ होता है। जो जो मूर्त द्रव्य नित्य हैं, जैसे, पृथिवी, जल, तेज, वायु के परमाणु और मन, इनके साथ तो आकाश आदि का संयोग महाप्रलय को छोड़ सदैव रहता है और जो मूर्त द्रव्य अनित्य हैं उनमें उनका नाश न होने तक आकाश आदि का संयोग रहता है। इस प्रकार समस्त मूर्त द्रव्यों से संयुक्त होने से आकाश आदि विभु हैं।

प्रश्न हो सकता है कि सभी जन्य द्रव्यों की एक साथ उत्पत्ति न होने से समस्त मूर्त द्रव्यों का संयोग तो कभी न रहेगा, अतः आकाश आदि कभी विभु न हो सकेंगे; तो इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि मूर्तत्व का अर्थ है एक काल में विद्यमान सभी मूर्त द्रव्यों के साथ संयोग। फिर भी प्रश्न हो सकता है कि महाप्रलय में सभी जन्यभाव का नाश हो जाने से उस समय आकाश आदि के विभुत्व की हानि होगी, क्योंकि उस समय विद्यमान मूर्त-द्रव्य-परमाणु और मन के साथ आकाश आदि का संयोग न होगाा? इसका उत्तर यह है कि सर्व-मूर्त-द्रव्य-संयोग

का अर्थ है सभी मूर्त द्रव्यों में प्रतियोगि-व्यधिकरण-संयोगाभाव का न होना। महाप्रलय में आकाश आदि में यद्यपि मूर्त-द्रव्य-संयोग का अभाव है, किन्तु वह प्रतियोगि-व्यधिकरण नहीं है, क्योंकि महाप्रलय के पूर्व उस अभाव का प्रतियोगी मूर्त-द्रव्य-संयोग आकाश आदि में विद्यमान था, किन्तु मूर्त द्रव्यों में ऐसा कोई द्रव्य नहीं है जिसका संयोग सभी मूर्त द्रव्यों में कभी रहा हो, अतः प्रत्येक मूर्त द्रव्य में उस मूर्त द्रव्य के संयोग का प्रतियोगि-व्यधिकरण अभाव है, जिसका उनके साथ कभी संयोग नहीं हुआ। अतएव मूर्त द्रव्य में विभुत्व की अतिव्याप्ति नहीं होगी। इस प्रकार विभु का अर्थ है प्रतियोगि-व्यधिकरण-संयोगाभावाभाववत्त्व-सम्बन्ध से मूर्तत्व-व्यापक-द्रव्य।

व्याप्य-वृत्ति

जो भाव अपने अभाव के साथ और जो अभाव अपने प्रतियोगी के साथ एक आश्रय में नहीं रहता, वह भाव और अभाव व्याप्य-वृत्ति होता है, जैसे, आत्मत्व-जाति अपने अभाव आत्मत्वाभाव के साथ नहीं रहती एवं आत्मत्वाभाव अपने प्रतियोगी आत्मत्व के साथ नहीं रहता; इसलिए आत्मत्व और आत्मत्वाभाव व्याप्य-वृत्ति हैं। इसका लक्षण है—"स्वप्रतियोगि-समानाधिकरण अभाव का अप्रतियोगित्व"। आत्मत्व आत्मत्वाभाव का प्रतियोगी है, किन्तु आत्मत्वाभाव अपने प्रतियोगी आत्मत्व का समानाधिकरण नहीं है, अतः स्वप्रतियोगी कपिसंयोग आदि के समानाधिकरण कपिसंयोगादि के अभाव का अप्रतियोगी होने से आत्मत्व व्याप्य-वृत्ति है। आत्मत्व की यह व्याप्यवृत्तिता समवाय-सम्बन्ध से प्रतिबन्धित है, क्योंकि यही आत्मत्व कालिक-सम्बन्ध से अव्याप्य-वृत्ति हो जाता है, जैसे, आत्मत्व कालिक-सम्बन्ध से जिस काल में है उसी काल में आत्मा से भिन्न घट आदि के द्वारा आत्मत्व का अभाव भी है, अतः काल में स्वप्रतियोगी के समानाधिकरण अभाव का प्रतियोगी होने से आत्मा में समवाय-सम्बन्ध से व्याप्य-वृत्ति भी आत्मत्वकाल में कालिक-सम्बन्ध से अव्याप्य-वृत्ति हो जाता है।

व्याप्य-वृत्ति का दूसरा लक्षण है—

"निरवच्छिन्नवृत्तिकत्व"। आत्मत्व आदि की अपने आश्रय में वृत्ति किसी देश या काल से अवच्छिन्न नहीं होती, क्योंकि अपने अभाव के

साथ उनका सामानाधिकरण्य स्थापनीय नहीं होता, अतः निरवच्छिन्न-वृत्तिक होने से वे व्याप्य-वृत्ति होते हैं।

अव्याप्य-वृत्ति

जो भाव और अभाव देश-भेद या काल-भेद से एक आश्रय में रहते हैं, वे अव्याप्य-वृत्ति होते हैं, जैसे, कपिसंयोग और कपिसंयोगाभाव एक एक वृक्ष में एक ही समय क्रम से शाखा-मूल-देश के भेद से रहने के कारण अव्याप्य-वृत्ति हैं। घट आदि जन्य द्रव्य, रूप आदि जन्य गुण और उनके अभाव उनके एक आश्रय उत्पत्ति-देश में काल-भेद से रहते हैं; उत्पत्ति के पूर्व तथा विनाश होने पर उसी स्थान में उनका अभाव रहता है, जहाँ वे उत्पत्ति-काल से विनाश के पूर्व तक रहते हैं, अतः वे अव्याप्य-वृत्ति हैं।

ध्वंस के आश्रय में ध्वंस का अभाव उसकी उत्पत्ति के पूर्व रहता है; प्रागभाव का अभाव प्रागभाव का नाश होने पर प्रागभाव के आश्रय में रहता है, अतः ध्वंस और प्रागभाव भी अव्याप्य-वृत्ति हैं।

वह्नि संयोग-सम्बन्ध से जिस पर्वत के मध्य देश में रहता है उसी पर्वत के शिखर-भाग में वह्नि का अभाव भी रहता है, अतः वह्नि संयोग-सम्बन्ध से अव्याप्य-वृत्ति है।

वाच्यत्व, ज्ञेयत्व आदि धर्म अपने आशय में सदैव रहते हैं; वे कभी स्वसमानाधिकरण अभाव के प्रतियोगी नहीं होते, अतः वे एकान्त रूप से व्याप्य-वृत्ति ही होते हैं, अव्याप्य-वृत्ति नहीं होते।

अव्याप्य-वृत्ति का लक्षण है—"स्वसमानाधिकरण अभाव का प्रतियोगित्व";

अथवा "अवच्छिन्नवृत्तिकत्व"।

उक्त सभी अव्याप्य-वृत्ति उक्त रीति से स्वसमानाधिकरण अभाव का प्रतियोगी होने से तथा अपने आश्रय में देश-विशेष अथवा काल-विशेष से अवच्छिन्नवृत्तिक होने से अव्याप्य-वृत्ति हैं।

अप्रामाण्य

अप्रामाण्य का अर्थ है प्रामाण्यविरोधी और प्रामाण्य का अर्थ है तद्वद्विशेष्यक-तत्प्रकारक-ज्ञानत्व। तद् के आश्रय में तद् का ज्ञान होना

प्रामाण्य है; इसके विरोधी जितने धर्म हैं वे सब अप्रामाण्य हैं, जैसे, प्रामाण्य का अभाव तदभाव के आश्रय में तत्प्रकारक ज्ञानत्वरूप भ्रमत्व, निर्विशेष्यकत्व, निष्प्रकारकत्व, निःसंसर्गकत्व और निर्विषयत्व, ज्ञानान्यत्व आदि ।

स्वतोव्यावृत्त

न्याय-वैशेषिक-दर्शन में 'विशेष' नामक एक स्वतन्त्र पदार्थ माना गया है । एकजातीय परमाणुओं में परस्पर भेद के अनुमापक लिङ्ग के रूप में उसकी सिद्धि होती है । वह स्वतोव्यावृत्त है, अर्थात् 'विशेष' के परस्पर भेद का अनुमापक 'विशेष' से भिन्न कोई लिङ्ग नहीं है ।

'विशेष' के सम्बन्ध में न्याय-वैशेषिक का यह आशय है कि संसार में जितने पदार्थ विजातीय हैं उनका परस्पर भेद जाति-भेद से सिद्ध हो जाता है और जो एकजातीय हैं वे यदि जन्य हैं तो उनका भेद कारण-भेद से सिद्ध हो जाता है और यदि वे अजन्य हैं तो उनका भेद उनके धर्म-भेद से सिद्ध हो जाता है । जन्य द्रव्यों का परस्पर भेद उनके अवयवों के भेद से हो जाता है; पृथिवी, जल आदि के निरवयव परमाणुओं का परस्पर भेद पृथिवीत्व, जलत्व आदि जाति के भेद से हो जाता है, किन्तु पृथिवी-परमाणुओं का, जल-परमाणुओं का, तेज के परमाणुओं का और वायु के परमाणुओं के परस्पर भेद का कोई साधक-ज्ञापक नहीं है । उनके गुण-भेद से उनमें परस्पर भेद का ज्ञापन न माना जाय, यह सम्भव नहीं है, क्योंकि एकजातीय सभी परमाणुओं के गुण सजातीय हैं । गुण-व्यक्ति के भेद से भी उनमें भेद का ज्ञापन नहीं माना जा सकता, क्योंकि जब तक परमाणुओं में परस्पर भेद ज्ञात न होगा तब तक यह ज्ञान सम्भव नहीं है कि यह परमाणु अन्य परमाणु के रूप आदि का आश्रय नहीं है, अतः उनसे भिन्न है; अतः गुण-भेद के ज्ञान में परमाणु-भेद-ज्ञान और परमाणु-भेद-ज्ञान में गुण-भेद-ज्ञान की अपेक्षा होने से अन्योन्याश्रय दोष के कारण गुण-भेद को परमाणु-भेद का ज्ञापक नहीं माना जा सकता । इसलिए एक ऐसे पदार्थ की कल्पना आवश्यक होती है, जो स्वभावतः भिन्न होते हुए भिन्न-भिन्न परमाणुओं में रहे, जिससे उसके भेद-ज्ञान में परमाणु-भेद-ज्ञान की अपेक्षा न होने से उसके स्वतः सिद्ध भेद से परमाणुओं का भेद-ज्ञान हो सके । इस प्रकार के 'विशेष' की सिद्धि निम्न अनुमान से होती है:—

एकजातीय परमाणुओं का परस्पर भेद—स्ववृत्तित्व, स्वसजातीयपरमाणुप्रतियोगिकत्व इस उभय सम्बन्ध से परमाणु-विशिष्ट-भेद लिङ्ग से ज्ञाप्य अनुमेय है, क्योंकि भेद है; जो भी भेद होता है वह सभी लिङ्ग से ज्ञाप्य होता है, जैसे, एक घट में अन्य घटों का भेद अन्य घटों के अवयवों से भिन्न अवयव-रूप लिङ्ग से ज्ञाप्य होता है। उक्त भेद का ज्ञापक कोई लिङ्ग प्रमाणान्तर से सिद्ध नहीं है। इस अनुमान से जो लिङ्ग सिद्ध होगा उसके परस्पर भेद को भी यदि किसी अन्य लिङ्ग से ज्ञाप्य माना जायगा तो उस लिङ्ग के भेद-ज्ञान के लिए भी अन्य लिङ्ग की अपेक्षा होने से अनवस्था होगी, अतः इस अनुमान द्वारा सिद्ध होने वाले लिङ्ग का स्वतः भिन्न होना आवश्यक है। इस प्रकार धर्मी-विशेष के साधक अनुमान से ही उसका धर्म स्वतोव्यावृत्तत्व सिद्ध होता है।

स्वतोव्यावृत्त का लक्षण इस प्रकार है—

जिसमें स्वेतर-स्वसजातीय का भेद स्वभिन्न लिङ्ग से होता है वह परतः व्यावृत्त है और ऐसे पदार्थ से जो भिन्न है, अर्थात् जिसके स्वेतर-सजातीय-भेद की सिद्धि स्वभिन्न-लिङ्ग से नहीं होती वह स्वतोव्यावृत्त है। एक विशेष में विशेषान्तर के भेद की सिद्धि विशेष से भिन्न किसी लिङ्ग से नहीं होती, अतः विशेष स्वतोव्यावृत्त है।

प्रश्न हो सकता है कि जैसे एकजातीय परमाणुओं के परस्पर भेद में भेदत्व-हेतु से लिङ्ग-ज्ञाप्यत्व का अनुमान होता है, उसी प्रकार विशेषों के परस्पर भेद में भी भेदत्व-हेतु से लिङ्ग-ज्ञाप्यत्व की सिद्धि अवश्य होगी; अन्यथा भेदत्व लिङ्ग-ज्ञाप्यत्व का व्यभिचारी होने से एकजातीय परमाणुओं के भी परस्पर भेद में लिङ्ग-ज्ञाप्यत्व का अनुमान न करा सकेगा; फलतः विशेष को मान्यता देने पर भी भेद-ज्ञापक-लिङ्गों की कल्पना होने से अनवस्था की आपत्ति अपरिहार्य होगी ?

इसका उत्तर यह है कि हाँ ठीक है, विशेषों के परस्पर भेद का ज्ञापक लिङ्ग भी भेदत्व-हेतु से अवश्य सिद्ध होगा, पर वह लिङ्ग विशेष से भिन्न नहीं होगा, किन्तु विशेष स्वयं लिङ्ग होगा और उसका प्रयोग इस प्रकार होगाः—

"एष विशेषः स्वेतरविशेषेभ्योऽन्यः, एतद्विशेषात् यो विशेषो न स्वेतरविशेषेभ्योऽन्यः स न एष विशेषः, यथा एतद्विशेषभिन्नो विशेषः"—

यह विशेष स्वेतर सभी विशेषों से भिन्न है, क्योंकि यह एक अमुक विशेष है; जो विशेष स्वेतर-विशेषों से भिन्न नहीं है वह अमुक विशेष नहीं है, जैसे, इस अमुक से भिन्न विशेष।

यद्यपि इस प्रकार का अनुमान अन्य पदार्थों में भी हो सकता है तथापि इससे अन्य पदार्थों की स्वतोव्यावृत्तता नहीं सिद्ध हो सकती, क्योंकि उनमें भेद का ज्ञापक स्वभिन्न लिङ्ग भी है।

प्रतियोगिव्यधिकरण

प्रतियोगिव्यधिकरण के दो अर्थ हैं—एक स्वप्रतियोगी के अधिकरण में अवृत्ति और दूसरा है स्वप्रतियोगी के अनधिकरण में वृत्ति। पहले अर्थ के अनुसार कपिसंयोगाभाव प्रतियोगिव्यधिकरण नहीं होता, क्योंकि वह स्वप्रतियोगी कपिसंयोग के शाखा द्वारा अधिकरण वृक्ष में मूल-देश द्वारा वृत्ति है, अवृत्ति नहीं है। दूसरे अर्थ के द्वारा वह भी प्रतियोगि-व्यधिकरण हो जाता है, क्योंकि वह भी स्वप्रतियोगी कपिसंयोग के अनधिकरण गुण आदि में वृत्ति है। इस प्रकार कपिसंयोगाभाव कपि-संयोग के आश्रय वृक्ष में प्रतियोगिसमानाधिकरण और कपिसंयोग के अनाश्रय गुण आदि में प्रतियोगिव्यधिकरण है।

भावत्व—अभावत्व

निःश्रेयस—मोक्ष—सर्वविध दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए जिन पदार्थों का तत्त्व-ज्ञान अपेक्षित है गौतम ने न्याय-शास्त्र में उनके सोलह भेद बताये हैं—प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह-स्थान।

कणाद ने ऐसे पदार्थों के छः भेद बताये हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय।

बाद के विद्वानों ने कणाद के छः पदार्थों के साथ अभाव को भी जोड़ कर उनकी सात श्रेणियाँ कर दी हैं और आगे चल कर विद्वानों ने द्रव्य आदि सात भेदों में ही समग्र पदार्थों के समावेश को न्याय-वैशेषिक उभय-दर्शन को मान्य बताया है।

जगदीश तर्कालङ्कार ने अपने ग्रन्थ 'तर्कामृत' में मूलतः इन पदार्थों को दो वर्गों में रखा है—भाव और अभाव। द्रव्य से समवाय तक के

पदार्थ भाव हैं और सातवाँ अभाव है। उसके मूलतः दो भेद हैं—संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव। अन्योन्याभाव का प्रसिद्ध नाम है भेद। उसके अवान्तर भेद नहीं हैं। संसर्गाभाव के तीन भेद हैं—अत्यन्ताभाव, प्रागभाव और ध्वंस। इस प्रकार चार प्रकार के अभाव सातवें वर्ग में आते हैं।

इस स्थिति के अनुसार भावत्व—अभावत्व का निर्वचन करना होता है।

भावत्व

भावत्व एक अखण्ड धर्म है। इसकी सिद्धि जन्यभाव-निष्ठ-प्रतियोगिता-सम्बन्ध से ध्वंस के प्रति तादात्म्य-सम्बन्ध से जन्यभाव कारण है। इस आधार पर उक्त प्रतियोगिता-सम्बन्ध से अवच्छिन्न ध्वंस-निष्ठ-कार्यता से निरूपित तादात्म्य-सम्बन्धावच्छिन्न-कारणता के अवच्छेदक-रूप से सिद्ध जन्य-भावत्व के घटक-रूप में होती है।

आशय यह है कि ध्वंस दो पदार्थों का होता है—प्रागभाव का और जन्यभाव का। प्रागभाव का ध्वंस उसके प्रतियोगी कार्य की उत्पादक सामग्री से या सामग्री-घटक चरम कारण से होता है और जन्यभाव का नाश उनकी प्रकृति के अनुसार विभिन्न कारणों से होता है, जैसे, जन्य द्रव्य का नाश उनके असमवायि-कारण अवयव-संयोग के नाश से होता है। जन्य गुण का नाश कहीं पाक से, कहीं आश्रय-नाश से, कहीं निमित्त-नाश से, कहीं विरोधी गुण से होता है, जैसे, पृथिवी के रूप आदि विशेष-गुणों का नाश कभी पाक से और कभी आश्रय-नाश से, संयोग का नाश विभाग से, विभाग का उत्तर-संयोग से, द्वित्व आदि संख्या और द्विपृथक्त्व आदि का नाश अपेक्षाबुद्धिरूप निमित्त कारण के नाश से, अपेक्षाबुद्धि का नाश द्वित्वत्व आदि के निर्विकल्पक से, शब्द, बुद्धि आदि गुणों का नाश उत्तरवर्ती गुण से, संस्कार का नाश चरम स्मृति से, पुण्य, पाप का नाश उनके फल सुख, दुःख, तत्त्वज्ञान आदि से होता है; कर्म का नाश उत्तर-संयोग से होता है।

[illegible]भाव का ध्वंस प्रतियोगिता-सम्बन्ध से नित्य और अभाव में न उत्पन्न हो, एतदर्थ जन्यभावनिष्ठ-प्रतियोगिता-सम्बन्ध से ध्वंस के प्रति तादात्म्य-सम्बन्ध से जन्यभाव को कारण माना जाता है। नित्य और अभाव में

जन्यभाव का तादात्म्य न होने से प्रतियोगिता-सम्बन्ध से उनमें भावध्वंस के जन्म की आपत्ति नहीं होती। इस प्रकार उक्त रीति से जन्यभाव में विद्यमान ध्वंस-कारणता का अवच्छेदक जन्यभावत्व होता है। जन्यभावत्व के गर्भ में प्रविष्ट यह भावत्व द्रव्य, गुण आदि में रहने वाला एक अखण्ड धर्म है। इस धर्म को द्रव्य, गुण और कर्म में रहने वाली जाति मानने में कोई बाधक न होने से इसे सत्ता नाम से द्रव्य-गुण-कर्मनिष्ठ जाति माना जाता है। इसे सामान्य आदि में जाति-रूप नहीं माना जा सकता, क्योंकि सामान्य आदि में इसे जाति मानने में असम्बन्ध—समवाय-सम्बन्ध के अनुयोगित्व सम्बन्ध का अभाव बाधक है। कहने का अभिप्राय यह है कि सामान्य आदि में समवाय-सम्बन्ध से किसी अन्य पदार्थ के न रहने से उनमें समवाय का अनुयोगित्व नहीं है। यदि उसमें सत्ता जाति मानी जायगी तो इसी कारण उसमें समवाय के अनुयोगित्व की कल्पना करनी होगी। अतः भावत्व सत्ता के नाम से द्रव्य, गुण, कर्म, वृत्ति जाति है। यही स्वसमवायि-समवाय-सम्बन्ध से सामान्य आदि में भावत्व और सत्ता का व्यवहार उपपन्न करती है; सत्ता के स्वसमवायि-समवाय-सम्बन्ध की अनुयोगिता का नियामक है। उक्त समवाय की प्रतियोगिता और यह सामान्य आदि में सिद्ध है, अतः सामान्य आदि में सत्ता का स्वसमवायि-समवाय-सम्बन्ध की कल्पना करने पर किसी बात को कोई अपूर्व मान्यता नहीं देनी पड़ती।

भावत्व के इस स्वरूप के आधार पर भेदत्व को अखण्ड उपाधि मानते हुए भाव-भिन्नत्व के रूप में अभावत्व की निरुक्ति की जा सकती है।

वैसे अभावत्व के सम्बन्ध में रघुनाथ का मत व्यक्त किया जा चुका है, जिसके अनुसार अभावत्व भाव और अभाव दोनों का धर्म है और स्वरूप-सम्बन्ध-विशेष है।

अपेक्षा-बुद्धि

जो बुद्धि अनेक धर्मी में अनेक एकत्व को एक-एक कर प्रकारविधया विषय करती है, उसे अपेक्षा-बुद्धि कहा जाता है। अपेक्षा-बुद्धि का अर्थ है द्वित्व आदि की उत्पत्ति के लिए अपेक्षणीय बुद्धि। यह द्वित्व आदि संख्या और द्विपृथक्त्व आदि पृथक्त्व का कारण होती है। यह समवाय-सम्बन्ध से द्वित्वादि के प्रति विशेष्यता-सम्बन्ध से कारण होती है। कारणता

स्वप्रकारकत्व स्वभिन्न एकत्व प्रकारकत्व इस उभय सम्बन्ध से एकत्व-विशिष्ट-बुद्धित्व-रूप से होती है, फलतः जिन धर्मियों में अनेक एकत्व की बुद्धि होती है, उनमें ही द्वित्व आदि की उत्पत्ति होती है। इसका नाश इसके जन्म के तीसरे क्षण न होकर चौथे क्षण में होता है, जो द्वित्वत्व आदि के निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से सम्पन्न होता है।

उद्भूतत्व

रूप, रस, गन्ध और स्पर्श दो प्रकार के होते हैं—उद्भूत और अनुद्भूत। चक्षु, रसन, घ्राण और त्वक् के रूप आदि गुण अनुद्भूत होते हैं, अतः चक्षु आदि महत्परिमाण के आश्रय द्रव्य में आश्रित होने पर भी प्रत्यक्ष नहीं होते। पृथिवी आदि के परमाणु, द्व्यणुक तथा उनसे स्थूल द्रव्यों में विद्यमान रूप आदि उद्भूत होते हैं। परमाणु और द्व्यणुक के रूप आदि आश्रय में महत्त्व का अभाव होने से अप्रत्यक्ष हैं, उनसे स्थूल त्रसरेणु आदि के रूप उद्भूत तथा महदाश्रित होने से प्रत्यक्ष हैं। त्रसरेणु का स्पर्श उद्भूत नहीं होता, अतः उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। पाषाण आदि का गन्ध भी उद्भूत न होने से अप्रत्यक्ष होता है। उद्भूत रूप आदि से युक्त परमाणुओं से आरब्ध होने वाले स्थूल द्रव्य में उद्भूत रूप आदि का जन्म अदृष्टरूप प्रतिबन्धक के कारण नहीं होता, किन्तु उसी के बल अनुद्भूत रूप आदि की उत्पत्ति होती है।

रूप आदि की प्रत्यक्षता का नियामक उद्भूतत्व क्या है, यह विचार उठने पर पहली दृष्टि यह होती है कि वह रूप आदि में रहने वाली जाति है, किन्तु तत्काल यह दृष्टि धूमिल हो जाती है, क्योंकि रूप, रस आदि में एक उद्भूतत्व जाति की कल्पना सांकर्य से बाधित है, जैसे, उद्भूतत्व है उद्भूत गन्ध में, वहाँ रूपत्व नहीं है; रूपत्व है चक्षु-गत अनुद्भूत रूप में, वहाँ उद्भूतत्व नहीं है और घट आदि के रूप में रूपत्व तथा उद्भूतत्व दोनों हैं। अतः इस सांकर्य के कारण उसे जाति नहीं माना जा सकता, क्योंकि सांकर्य जातित्व का बाधक है।

रूपत्व आदि से व्याप्य भिन्न कई उद्भूतत्व जाति मानने में यद्यपि सांकर्य बाधक नहीं होगा, किन्तु रूप, रस आदि के भेदों में उद्भूतत्व जाति की कल्पना सांकर्य-वश न हो सकेगी, जैसे, सभी उद्भूत रूपों में एक उद्भूतत्व जाति की कल्पना करने पर नीलत्व आदि के साथ सांकर्य होगा, क्योंकि उद्भूत पीत रूप में उद्भूतत्व नीलत्वाभाव के साथ है

और अनुद्भूत नील में नीलत्व उद्भूतत्वाभाव के साथ है और उद्भूत नील में दोनों का सामानाधिकरण्य है; इस दोष से यदि नीलत्व आदि से भी व्याप्य उद्भूतत्व जाति की कल्पना की जायगी तो नील, पीत सभी उद्भूत रूपों में एक उद्भूतत्व न होने से उद्भूत रूप को प्रत्यक्ष का कारण मानना सम्भव न होगा, अतः उद्भूतत्व को जाति नहीं माना जा सकता। तो फिर प्रश्न होता है कि वह है क्या, जिससे विशिष्ट रूप आदि को प्रत्यक्ष का कारण माना जा सके? इसका उत्तर यह है कि नीलत्व आदि से व्याप्य कई अनुद्भूतत्व जातियाँ हैं। इसी प्रकार रस में भी मधुरत्व आदि की व्याप्य कई अनुद्भूतत्व जातियाँ हैं और सभी अनुद्भूतत्व जातियों के अभाव का समूह ही उद्भूतत्व है। इस प्रकार यह कहा जायगा कि चाक्षुष प्रत्यक्ष में नीलत्व आदि से व्याप्य अनुद्भूतत्व के अभाव-कूट से विशिष्ट रूप कारण है। रसादिनिष्ठ-विषयता-सम्बन्ध से रासन प्रत्यक्ष के प्रति मधुरत्वादि के व्याप्य अनुद्भूतत्व के अभाव-कूट से विशिष्ट रस तादात्म्य-सम्बन्ध से कारण है। फलतः यह अवधेय है कि उद्भूतत्व जाति नहीं है, अपितु अनुद्भूतत्व जातियों का अभाव-कूट है।

स्मृति-प्रमोष

स्मृति-प्रमोष का अर्थ है स्मृति होने के समय उसके कारणभूत संस्कार के किसी विषय का प्रमोष हो जाना। प्रमोष का अर्थ है उद्-बोधक का समवधान न होना। इस प्रमोष के कारण ही अनेक बार पूर्वानुभव के समस्त विषयों का स्मरण न होकर कुछ ही विषयों का स्मरण होता है और कभी "स मनुष्यः", "स घटः", "तद् रजतम्" इस रूप में न होकर केवल "मनुष्यः", "घटः", "रजतम्" इस रूप में तत्ता से शून्य स्मरण का उदय होता है तथा इस तत्ता-शून्य रजतादि-स्मरण-रूप-ज्ञान-लक्षण-सन्निकर्ष से सूर्य के प्रकाश में चमकती सीपी की पहचान न हो पाने पर उसमें "इदं रजतम्" इस प्रकार अन्यथाख्याति का जन्म होता है।

इन्द्रिय

शास्त्रों में इन्द्रिय के दो भेदों की चर्चा प्राप्त होती है—ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय। घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक् तथा श्रोत्र—ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय हैं; वाक्, पाणि, पाद, पायु तथा उपस्थ—ये पाँच कर्मेन्द्रिय हैं। मन दोनों प्रकार की इन्द्रियों का सहयोगी होने से उभयेन्द्रिय, अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय

और कर्मेन्द्रिय दोनों है। किन्तु न्याय-वैशेषिक-दर्शन में कर्मेन्द्रिय की चर्चा नहीं प्राप्त होती, केवल ज्ञानेन्द्रिय की ही चर्चा प्राप्त होती है, जिन्हें बाह्य तथा आन्तर इन्द्रिय के भेद से दो प्रकार का माना गया है। घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक् तथा श्रोत्र—ये पाँच बाह्य इन्द्रिय या बहिरिन्द्रिय हैं और मन आन्तर इन्द्रिय है।

"इन्दति आश्रयते परेषाम् ऐश्वर्यं यः स इन्द्र आत्मा, इन्द्रस्य इदम् इन्द्रियम्"—इस व्युत्पत्ति के अनुसार इन्द्रिय शब्द का योगार्थ है इन्द्र—आत्मा के उपकरण। चेतन होने के नाते आत्मा अन्य सभी पदार्थों का ईश्वर—उनकी प्रकृति के अनुसार उनका विनियोग करने में समर्थ होने के कारण इन्द्र है। चक्षु आदि विषयों के ज्ञानार्जन में उसका उपकरण होने के कारण इन्द्रिय हैं। इन्द्रिय का लक्षण निम्न है :—

जो शब्द से भिन्न उद्भूत विशेष-गुण का आश्रय न हो तथा ज्ञान के कारण मनःसंयोग का आश्रय हो, वह इन्द्रिय है।

श्रोत्र से भिन्न किसी भी इन्द्रिय के विशेष-गुण का प्रत्यक्ष नहीं होता, केवल श्रोत्र के कर्णशष्कुली से अवच्छिन्न आकाश-रूप होने से उसके विशेष-गुण शब्द का श्रावण प्रत्यक्ष होता है, अतः चक्षु आदि इन्द्रियाँ तो सामान्यतः सभी उद्भूत विशेष-गुणों का अनाश्रय होती हैं और श्रोत्र भी शब्द से भिन्न सभी उद्भूत विशेष-गुणों का अनाश्रय होता है।

एक काल में कई इन्द्रियों से उनके विषय का प्रत्यक्ष नहीं होता। इस स्थिति की उपपत्ति के लिए तत्तद् इन्द्रिय से जन्य प्रत्यक्ष में तत्तद् इन्द्रिय के साथ अणु मन के संयोग को कारण माना जाता है, अतः चक्षु आदि ज्ञान के कारण मनःसंयोग के आश्रय भी हैं। इसलिए सभी इन्द्रियाँ उक्त लक्षण से गृहीत होती हैं।

अनुगम

अनुगम का अर्थ है विभिन्न व्यक्तियों का एक धर्म द्वारा संग्रह, जैसे, अनन्त घट का एक धर्म घटत्व से तथा अनन्त दण्ड का एक धर्म दण्डत्व से अनुगम—संग्रह कर घट और दण्ड में कार्य-कारण-भाव माना जाता है एवं अनन्त धूम का एक धर्म धूमत्व से तथा अनन्त वह्नि का एक धर्म वह्नित्व से अनुगम कर धूम और वह्नि में व्याप्य-व्यापक-भाव माना जाता है।

"यो यत्र प्रवर्तते स तद् इष्टसाधनतया जानाति"—जो जिस कार्य में प्रवृत्त होता है वह उसे इष्ट का साधन समझता है, यह नियम इस रूप में सर्व-कर्म-साधारण नहीं हो पाता, क्योंकि 'यत्', 'तत्' पद से जिसे ग्रहण किया जायगा, उसी में सिमट कर वह रह जायगा, अतः 'यत्', 'तत्' पद को हटा कर सभी प्रवृत्ति का प्रवृत्तित्व रूप से और सभी इष्टसाधनता-ज्ञान का इष्टसाधनता-ज्ञानत्व-रूप से अनुगम विशेष्यता-सम्बन्ध से प्रवृत्ति के प्रति विशेष्यता-सम्बन्ध से इष्टसाधनता-ज्ञान को कारण मान कर इस नियम को सर्व-कर्म-साधारण बनाया जाता है।

किसी बड़े लक्षण के सम्बन्ध में अनुगम की विधि विशेष रूप से ध्यान देने योग्य होती है, जैसे, सिद्धान्त-व्याप्ति का यह लक्षण किया जाता है कि जो जिसके अधिकरण में वृत्ति अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता से शून्य हो, उसमें उसका सामानाधिकरण्य व्याप्ति है। इसका भी अनुगम आवश्यक है, अन्यथा जिस उस शब्द से जिसका ग्रहण किया जायगा, केवल उसी में यह सीमित होकर सर्व-व्याप्य-साधारण न हो सकेगी।

इसके अनुगम के दो प्रकार हैं—एक संसर्गविधया और दूसरा प्रकारविधया। संसर्गविधया अनुगम निम्न रीति से होगा :—

वस्तु-विशिष्ट वस्तुत्व व्याप्ति है, वैशिष्ट्य तादात्म्य तथा स्वाधिकरण-वृत्ति अभाव के अप्रतियोगी का सामानाधिकरण्य इस उभय सम्बन्ध से। धूम में धूम-वस्तु-विशिष्ट-वस्तुत्व है, क्योंकि धूम में धूम का तादात्म्य है तथा धूम के अधिकरण महानस आदि में वृत्ति घटादि के अत्यन्ताभाव के अप्रतियोगी वह्नि का सामानाधिकरण्य है; अतः उक्त उभय सम्बन्ध से धूम में वस्तु-विशिष्ट-वस्तुत्व-रूप व्याप्ति है।

प्रकारविधया अनुगम निम्न रीति से होगा—

वस्तु-समानाधिकरण-वस्तुनिष्ठाभाव-निरूपित-प्रतियोगिनिष्ठ-प्रतियोगिता-निरूपित अभावनिष्ठ-अवच्छेदकता-निरूपित वृत्तित्वनिष्ठ-अवच्छेदकता व्याप्ति है।

प्रथम वस्तु शब्द से व्याप्य—हेतु और द्वितीय वस्तु शब्द से व्यापक—साध्य विवक्षित है। तदनुसार धूम-वस्तु का समानाधिकरण वस्तु है वह्नि; उसमें धूमाधिकरण-वृत्ति-अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता का अभाव है; उस अभाव की प्रतियोगि-निष्ठ-प्रतियोगिता की अवच्छेदकता है अत्यन्ताभाव में;

अत्यन्ताभावनिष्ठ-अवच्छेदकता से निरूपित अवच्छेदकता है वृत्तित्व में; वृत्तित्वनिष्ठ-अवच्छेदकता से निरूपित अवच्छेदकता है अधिकरण में और अधिकरणनिष्ठ-अवच्छेदकता से निरूपित अवच्छेदकता है वस्तु धूम में; अतः उक्त अवच्छेदकता-रूप वह्नि की व्याप्ति धूम में है।

आशय यह है कि व्याप्ति का अर्थ है व्यापन—व्याप्त करना। यह एक सकर्मक क्रिया है। किसी से किसी का व्यापन होता है, अतः व्याप्ति का निर्वचन व्यापन-कर्त्ता—व्यापक और व्यापन-कर्म—व्याप्य इन दोनों को लेकर ही हो सकता है। अतः उक्त निर्वचन में दो वस्तु शब्द से व्याप्य, व्यापक की विवक्षा की जाती है।

लक्षणों का संसर्ग और प्रकारविधया अनुगम की प्रणाली नव्य-न्याय की देन है। प्राचीन-न्याय के प्राचीन मान्य ग्रन्थों में यह प्रणाली उपलब्ध नहीं होती, जब कि इसकी आवश्यकता अपरिहार्य है।

अभिभव

बलवान् सजातीय के ग्रहण-प्रत्यक्ष से दुर्बल सजातीय के ग्रहण-प्रत्यक्ष का अवरोध होना अभिभव है। नक्षत्र-मण्डल का बलवान् सजातीय है सूर्य, उसके ग्रहण से दिन में दुर्बल सजातीय नक्षत्र-मण्डल के ग्रहण-प्रत्यक्ष का अवरोध हो जाता है, अतः कहा जाता है कि सूर्य से नक्षत्र-मण्डल का अभिभव है।

सुवर्ण न्यायमतानुसार तैजस द्रव्य है; इसलिए स्वभावतः उसका रूप भास्वर शुक्ल है, किन्तु सुवर्णस्थ पार्थिव द्रव्य के पीत रूप का ग्रहण होने से सुवर्ण का अपना रूप नहीं गृहीत होता; अतएव कहा जाता है कि सुवर्ण का रूप सुवर्ण-गत पार्थिव-भाग के पीत रूप से अभिभूत है।

चन्द्रमा तैजस द्रव्य है, अतः उसका स्पर्श स्वभावतः उष्ण है, किन्तु उसका प्रत्यक्ष चन्द्रमा में विद्यमान हिम-भाग के शीत-स्पर्श के ग्रहण से प्रतिरुद्ध है। अतः कहा जाता है कि चन्द्रमा का निजी स्पर्श उसमें विद्यमान हिम के शीत-स्पर्श से अभिभूत है।

न्याय की भाषा में अभिभव को निम्न रूप में परिभाषित किया जा सकता है:—

"बलवत्-सजातीय-विषयक-ग्रहण-प्रतिबद्ध-ग्रहण-विषयत्व"। नक्षत्र-मण्डल अपनी अपेक्षा बलवान् सजातीय तेज सूर्य के ग्रहण-प्रत्यक्ष से

प्रतिबद्ध ग्रहण-प्रत्यक्ष का विषय है। यही सूर्य से नक्षत्र-मण्डल का अभिभव है।

प्रश्न हो सकता है कि जब सूर्य के प्रखर प्रकाश के समय नक्षत्र का ग्रहण नहीं होता तब उसमें ग्रहण-विषयत्व नहीं रह सकता, क्योंकि विषयता ज्ञान-समानकालिक होती है, अतः उक्त लक्षण अभिभव-काल में ही लक्ष्य में अव्याप्त है। इस प्रश्न का उत्तर निम्न रूप में दिया जा सकता है :—

जिसके ग्रहण का अभाव उसके बलवान् सजातीय के ग्रहण के नाते हो, वह अपने बलवान् सजातीय से अभिभूत कहा जाता है। इसके अभिभव की यह परिभाषा हो सकती है :—

"बलवत्सजातीय-ग्रहण-प्रयुक्ताभावीयग्रहणनिष्ठ-प्रतियोगिता-निरूपित-विषयित्व-सम्बन्धावच्छिन्नावच्छेदकता अभिभवः"।

नक्षत्र-विषयक ग्रहणाभाव बलवत्सजातीय-सूर्य-ग्रहण-प्रयुक्त है, उसकी प्रतियोगिता नक्षत्र-विषयक ग्रहण में है और उसकी विषयित्वसम्बन्धावच्छिन्नावच्छेदकता नक्षत्र में है, क्योंकि प्रतियोगी ग्रहण में विषयिता-सम्बन्ध से नक्षत्र विशेषण है।

पुनः प्रश्न हो सकता है कि सूर्य-ग्रहण से प्रयुक्त नक्षत्र-ग्रहणाभाव नक्षत्र-ग्रहण का प्रागभाव रूप है, उसके परिपाल्यत्व-रूप सूर्य-ग्रहण प्रयुक्तत्व है; इतना तो ठीक है, पर प्रागभाव की प्रतियोगिता के धर्मावच्छिन्नत्व में कोई प्रमाण न होने से उक्त रीति से अभिभव का निर्वचन कैसे सम्भव हो सकता है ?

इसका उत्तर यह है कि अभिभव के उक्त लक्षण में प्रविष्ट ग्रहणाभाव ग्रहण-प्रागभाव-रूप नहीं है, किन्तु ग्रहणात्यन्ताभाव-रूप है और उसके बलवत्सजातीय-ग्रहण-प्रयुक्तत्व स्वरूप-सम्बन्ध-विशेष है, अतः अभिभव का उक्त लक्षण सम्भव है।

अन्यतरत्व—अन्यतमत्व

जहाँ दो में से किसी एक की विवक्षा होती है वहाँ दोनों के नाम के आगे अन्यतर शब्द जोड़ कर विवक्षित एक की प्रतीति करायी जाती है, जैसे, घट और पट में घट या पट की विवक्षा होने पर उसे घटपटान्यतर शब्द से विदित कराया जाता है। इस शब्द से घट और पट का ही

अलग-अलग बोध होता है, दोनों का एक साथ अथवा दोनों से अलग किसी तीसरे का बोध नहीं होता; अतः अन्यतरत्व को निम्न रूप से परिभाषित किया जाता है, यथा--

अन्यतरत्व का अर्थ है भेदद्वयवद्भिन्नत्व— भेद-द्वय के आश्रय से भिन्न होना। किन्तु इतना मात्र कहना असम्भव दोष का आपादक है, क्योंकि कोई न कोई भेद-द्वय सर्वत्र रहता है; अतः भेद-द्वय के आश्रय से भिन्न वस्तु अप्रसिद्ध है, अतएव जिन दो के अन्यतर का बोध कराना हो उनके साथ ही अन्यतरत्व का निर्वचन करना होगा, जैसे, घटपटान्यतरत्व का अर्थ है "घटभेद-पटभेद-द्वयवद्-भिन्नत्व"। घटभेद, पटभेद इस उभय का आश्रय घट-पट से भिन्न सारा जगत् होगा। उन सबसे भिन्न घट और पट होगा। अतः घटभेद-पटभेद-द्वयवत् से भिन्न घट या पट ही होगा। भेद व्यासज्य-वृत्ति न होकर प्रत्येक में रहता है, अतः घट-भेद-पट-भेद-द्वयवत् के भेद का आश्रय रूप में घट-पट उभय न लिया जाकर दोनों में एक-एक लिया जायगा।

घटभेद-पटभेद-द्वयवत् मठ के भेद को लेकर घटपटान्यतर शब्द से दण्ड आदि का बोध न प्रसक्त हो, एतदर्थ उक्त भेदद्वयावच्छिन्न-प्रतियोगिताक-भेद को अन्यतरत्व कहना होगा, यतः घट-भेद-पटभेद-द्वयवान् मठ, दण्ड आदि सारे पदार्थ हो जाते है, अतः "घटभेद-पटभेदद्वयवान्न" यह भेद-द्वयावच्छिन्न-प्रतियोगिताक-भेद अन्यत्र प्राप्य न होकर घट-पट में ही प्राप्य है, अतः घटपटान्यतर शब्द से घट-पट का ही बोध हो सकता है, अन्य का नहीं। घट-भेद से एवं पट-भेद से घट-पटोभय-भेद को लेने पर घट-भेद-पट-भेद-द्वयवान् के अन्तर्गत घट-पट भी आ जायगा, अतः घट-भेद-पट-भेद-द्वयवान् का भेद अप्रसिद्ध हो सकता है, इसलिए घट-भेद पट-भेद का अर्थ करना होगा घटसामान्य-भेद तथा पटसामान्य-भेद। यह भेद-द्वय घट-पट में नहीं रहेगा, क्योंकि घटसामान्य-भेद का अर्थ है "घटो न" इस प्रतीति से सिद्ध विलक्षण प्रतियोगिता-सम्बन्ध से घट-विशिष्ट-भेद, और पट-भेद का भी अर्थ है "पटो न" इस प्रतीति से सिद्ध विलक्षण प्रतियोगिता-सम्बन्ध से पट-विशिष्ट-भेद। ये दोनों भेद घट-पट से भिन्न में ही रहते हैं, अतः इन दोनों के आश्रय का भेद घट और पट में अक्षुण्ण है।

उक्त रीति से ही अन्यतमत्व का भी निर्वचन करना होगा। अन्यतम शब्द का प्रयोग तब होता है जब दो से अधिक वस्तुओं में किसी एक का बोध कराना होता है, जैसे, घट, पट, दण्ड इन तीनों में यदि किसी एक का बोध कराना होगा तो घट-पट-दण्डान्यतम शब्द का प्रयोग होगा। इसलिए अन्यतमत्व का अर्थ है भेद-कूदवद्-भिन्नत्व। सामान्यतः भेद-कूटवान् अप्रसिद्ध है, क्योंकि भेद-कूट में उस वस्तु का भी भेद आयेगा जहाँ भेद-कूट को रखना है, फिर स्व में स्व का भेद न होने से भेद-कूटवान् कोई हो ही नहीं सकता; अतः जिन दो से अधिक वस्तुओं में किसी एक का बोध कराना हो उनके नाम के आगे अन्यतम जोड़ना होगा, जैसे, घट-पट-दण्डान्यतम। अतः घट-पट-दण्डान्यतमत्व का अर्थ होगा घट-भेद, पट-भेद, दण्ड-भेद, इन तीन भेदों के कूटवान् से भिन्न होना। इन तीन भेदों का कूट इन तीनों से भिन्न में रहेगा, अतः इन तीनों भेदों के कूटवान् का भेद प्रत्येक घट, पट, दण्ड में आयेगा। अतः घट-पट-दण्डान्यतम शब्द से इन्हीं तीनों का अलग-अलग बोध होगा, अन्य का नहीं।

कतिपय विद्वानों ने उक्त निर्वचनों की दुष्करता को दृष्टि में रख कर अन्यतरत्व और अन्यतमत्व को अखण्डोपाधि तथा नियम से प्रतियोगी से सम्बद्ध होकर ही विवक्षित-ग्राही बताया है।

यावत्त्व

यह एक वर्ग के सभी व्यक्तियों की पकड़ करता है, जैसे, यदि कहा जाय यावद् घट, तो इससे अतीत, अनागत, वर्त्तमान सभी घट गृहीत होंगे, कोई शेष न बचेगा। यह जैसे घट आदि द्रव्य में रहता है, उसी प्रकार रूप आदि अन्य पदार्थों में भी रहता है, क्योंकि यावद् घट आदि के समान यावद् रूप आदि का भी व्यवहार होता है।

यावत्त्व को संख्या नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसे संख्या होने पर द्रव्य में भी यावत्त्व की उत्पत्ति न हो सकेगी, क्योंकि अतीत, अनागत के विद्यमान न होने से तीनों काल के घट आदि में यावत्त्व का जन्म असम्भव है, क्योंकि जिस कार्य की उत्पत्ति जितने आश्रयों में होने को होती है कार्य-जन्म के पूर्व उन सभी का उपस्थित होना आवश्यक होता है। इस प्रकार संख्यात्मक यावत्त्व का होना जब घट आदि द्रव्यों में ही

नहीं सम्भव है तो अद्रव्य रूप आदि में उसकी सम्भावना ही कैसे हो सकती है।

अतः यावत्त्व को बुद्धि-विशेष-विषयता-रूप या विषयता-सम्बन्ध से बुद्धि-विशेष-रूप मानना होगा, जैसे, घट-निष्ठ-यावत्त्व का अर्थ होगा विशेष्यता-सम्बन्ध से घटत्व-प्रकारक-प्रमा। घटत्व की प्रमा सभी घटों में होती है, घट से भिन्न में नहीं होती; अतः घटत्व-प्रकारक-प्रमा को घट-निष्ठ-यावत्त्व कहा जा सकता है और यावत्त्व के व्यासज्य-वृत्ति होने के नाते विशेष्यता-सम्बन्ध से प्रत्येक घट में विश्रान्त भी उक्त प्रमा को पर्याप्ति-सम्बन्ध से व्यासज्य-वृत्ति मानना होगा।

कुछ विद्वानों ने तो एकत्व, द्वित्व, यावत्त्व आदि को समवेत-संख्या और असमवेत-संख्या के भेद से दो प्रकार का माना है और असमवेत-संख्या के जन्म के लिए जन्म के पूर्व आश्रय के होने को उसी प्रकार अनावश्यक बताया है, जैसे, विषयता-सम्बन्ध से ज्ञान के जन्म के पूर्व विषयों का होना आवश्यक नहीं है।

विशेषण

विशेषण का लक्षण है—"विद्यमानत्वे सति व्यावर्त्तकत्वम्"। व्यावर्त्तक का अर्थ है इतर-भेद का अनुमापक। इस लक्षण के अनुसार विशेषण वह होता है जो विद्यमान रहने पर अपने आश्रय में इतर-भेद का अनुमान कराये, जैसे अपक्व घट में नील रूप। यह रूप जिस समय घट में विद्यमान रहता है उसी समय अपने आश्रयभूत घट को अनील घटों से व्यावृत्त करता है, किन्तु पाक से नील रूप का नाश होकर रक्त रूप की उत्पत्ति हो जाने से जब घट रक्त हो जाता है तब विद्यमान न होने से नील रूप उस घट का व्यावर्त्तक नहीं होता और इसीलिए उस समय वह घट का विशेषण नहीं कहा जाता।

उपलक्षण

उपलक्षण का लक्षण है—"अविद्यमानत्वे सति व्यावर्त्तकत्वम्"। इस लक्षण के अनुसार उपलक्षण वह होता है, जो विद्यमान न रहने पर भी उस वस्तु को, जिसके साथ उसका कभी सम्बन्ध रहा हो, अन्यों से व्यावृत्त करे, जैसे, कुरुक्षेत्र में कुरु; पूर्वकाल में कुरु नाम का एक राजा हो चुका है, जिसका उस समय इस क्षेत्र के साथ सम्बन्ध था; वह इस

समय विद्यमान नहीं है, फिर भी इस क्षेत्र को अन्य क्षेत्रों से व्यावृत्त करता है; अतः कुरुक्षेत्र में कुरु उपलक्षण है, विशेषण नहीं है।

ग्रन्थों में एक प्रकार के और उपलक्षण का उल्लेख मिलता है; उसका अर्थ होता है अपनी और अपने जैसी अन्य वस्तु का सूचक; जैसे, यदि कहा जाय कि पट का रूप तन्तु के रूप से उत्पन्न होता है तो रूप यहाँ स्पर्श आदि का उपलक्षण हो जाता है और उससे यह विदित होता है कि जैसे पट-रूप तन्तु-रूप से उत्पन्न होता है, उसी प्रकार पट का स्पर्श आदि तन्तु के स्पर्श आदि से उत्पन्न होता है।

विशेषण और उपलक्षण में अन्य वैलक्षण्य

विशेषण और उपलक्षण में उनके लक्षणों से जो वैलक्षण्य ज्ञात होता है उससे अतिरिक्त भी उनमें वैलक्षण्य होता है, जैसे, विशेषण अभावीय-प्रतियोगिता का अवच्छेदक होता है, ज्ञानीय-प्रकारता का अवच्छेदक होता है, विशिष्ट-वैशिष्ट्यावगाही ज्ञान में विशेषण के संसर्ग का घटक होता है; किन्तु उपलक्षण यह सब नहीं होता। इस विषय को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है—

पाक से नील रूप को खोकर रक्त रूप का आस्पद बना घट जिस समय जिस स्थान में रहता है उस समय उस स्थान में "इदानीम् अत्र नीलघटो नास्ति"—इस समय यहाँ नील घट नहीं है, यह प्रतीति होती है। स्पष्ट है कि इस प्रतीति में नील रूप को यदि घट में उपलक्षण माना जायगा तो यह प्रतीति न हो सकेगी, क्योंकि प्रतीति के नीलोपलक्षित घट के विद्यमान होने से नीलोपलक्षित घट का अभाव न हो सकेगा और जब उक्त प्रतीति में नीलरूप को घट का विशेषण माना जायगा तब घट की रक्तता-दशा में नील रूप के न होने से उससे विशिष्ट घट का अभाव होने में कोई बाधा न होने से उक्त प्रतीति निरापद हो सकेगी।

विशेषण ज्ञानीय-प्रकारता का अवच्छेदक होता है, उपलक्षण नहीं, क्योंकि ऐसा न मानने पर नील-विशिष्ट-घट को विषय करने वाली तथा नीलोपलक्षित घट को विषय करने वाली "नीलो घटः" इन प्रतीतियों में वैलक्षण्य न हो सकेगा, क्योंकि दोनों ही प्रतीतियों में घट में नील रूप का भान होता है, किन्तु विशेषण में ज्ञानीय-प्रकारता की अवच्छेदकता और उपलक्षण में उसका अभाव मानने से इस दोष का परिहार हो

सकेगा, क्योंकि नील-विशिष्ट-घट को विषय करने वाली प्रतीति में घट-निष्ठ-प्रकारता नील-रूप से अवच्छिन्न होगी और नीलोपलक्षित घट को विषय करने वाली प्रतीति में घट-निष्ठ-प्रकारता नील-रूप से अवच्छिन्न न होगी।

इसी प्रकार यह भी मानना आवश्यक है कि भूतल में नील-विशिष्ट-घट के वैशिष्ट्य को विषय करने वाली "नीलघटवद्भूतलम्" इस प्रतीति में नील घट के संयोग-सम्बन्ध का भान नील-घट-प्रतियोगिक-संयोगत्व-रूप से होता है, अतः विशेषण नील नील-विशिष्ट-घट के संसर्ग का घटक हो जाता है। संयोग-निष्ठ-संसर्गता नील-घट-प्रतियोगिक-संयोगत्व से अवच्छिन्न होती है, किन्तु भूतल में नीलोपलक्षित घट के वैशिष्ट्य को विषय करने वाली "भूतलं नीलघटवत्" इस प्रतीति में संयोग का केवल संयोगत्व रूप से भान होता है; संसर्ग की कुक्षि में नील का प्रवेश नहीं होता। संसर्गता केवल संयोगत्व से अवच्छिन्न होती है, नील-घट-प्रतियोगिक-संयोगत्व से अवच्छिन्न नहीं होती।

सामग्री

किसी कार्य की उत्पत्ति केवल एक कारण से नहीं होती, किन्तु कारण-सामग्री से होती है। सामग्री का अर्थ है कारण-समुदाय; किन्तु सामग्री की यह परिभाषा अपूर्ण है, क्योंकि कारण-समुदाय को सामग्री कहने पर कार्य के किसी एकजातीय कारण का समुदाय भी सामग्री हो जायगा, जैसे, घट के दण्ड, चक्र आदि अनेक कारण हैं, उनमें केवल दण्डों का समूह भी घट के दण्ड-रूप कारण का समुदाय होने से सामग्री हो जायगा। इस दोष का परिहार विभिन्न कारणों के समुदाय को भी सामग्री कह कर नहीं किया जा सकता, क्योंकि दण्ड भी परस्पर भिन्न हैं, अतः दण्ड का समूह भी विभिन्न कारणों का समुदाय है। विजातीय कारणों के समुदाय को सामग्री कहने पर भी सामग्री की परिभाषा निर्दोष नहीं होगी, क्योंकि घट के कारणों में केवल दण्ड, चक्र और चीवर का समुदाय भी विजातीय कारणों का समुदाय होने से घट की सामग्री बन जायगा। कार्य के सभी कारणों के समुदाय को भी सामग्री कहना सम्भव नहीं है, क्योंकि ऐसा कहने पर एक दण्ड, एक चक्र, एक चीवर, एक कुलाल, कपाल-द्वय और कपाल-द्वय-संयोग का समुदाय सामग्री न हो सकेगा, क्योंकि यह समुदाय एक-एक घट-कारण का भी समुदाय नहीं है, फिर

इसे सब कारणों का समुदाय कैसे कहा जा सकेगा; प्रत्युत ऐसा कहने पर घट के प्रत्येक कारण-समुदाय का जो बृहत् समुदाय बनेगा, वह घट के सब कारणों का समुदाय होने से सामग्री बन जायगा। अतः कारण-समुदाय-रूप-सामग्री को न्याय की भाषा में निम्न रूप से परिभाषित करना होगा :—

धर्म-विशिष्ट-समुदाय सामग्री है। धर्म का वैशिष्ट्य स्व-विशिष्ट-रूप-वृत्तित्व-सम्बन्ध से, स्व का वैशिष्ट्य स्वावच्छिन्न-कार्यता-निरूपित-कारणतावच्छेदकत्व-व्यापकत्व और स्वावच्छिन्न-कार्यता-निरूपित-कारणतावच्छेदकत्व-व्याप्यत्व इस उभय-सम्बन्ध से, रूपवृत्तित्व-स्वघटकतावच्छेदकत्व-व्यापकत्व और स्वघटकतावच्छेदकत्व-व्याप्यत्व इस उभय-सम्बन्ध से।

घट के दण्ड आदि एक-एक कारण का उक्त समुदाय घटत्व-धर्म से विशिष्ट है, क्योंकि वह स्वावच्छिन्न-कार्यता आदि उक्त उभय-सम्बन्ध से स्वविशिष्ट-रूप दण्डत्व, चक्रत्व आदि में विद्यमान समुदायत्व में वृत्ति है, क्योंकि उसमें उक्त समुदाय स्वघटकता आदि उभय-सम्बन्ध से विद्यमान है। अतः एक-एक दण्ड, चक्र आदि का उक्त समुदाय सामग्री है। स्वावच्छिन्न-कार्यता आदि दो सम्बन्धों में प्रथम सम्बन्ध का त्याग कर देने पर दण्ड, चक्र, चीवर केवल इन तीन कारणों का समुदाय भी सामग्री बन जायगा, क्योंकि वह घटत्व से विशिष्ट दण्डत्व, चक्रत्व और चीवरत्व निष्ठ त्रित्व रूप में वृत्ति हो जायगा। यदि दूसरे सम्बन्ध का त्याग कर दिया जायगा तो दण्ड, चक्र आदि समस्त कारण तथा घट के किसी अकारण द्रव्य तन्तु आदि का समुदाय भी सामग्री बन जायगा, क्योंकि वह घटत्व-विशिष्टरूप दण्डत्व, चक्रत्व आदि तथा तन्तुत्व में विद्यमान समुदायत्व में वृत्ति हो जायगा।

स्व-घटकता आदि दो सम्बन्धों में यदि प्रथम सम्बन्ध का त्याग कर दिया जायगा तो दण्ड, चक्र आदि घट के सभी कारण तथा तन्तु का समुदाय भी सामग्री बन जायगा, क्योंकि दण्डत्व, चक्रत्व आदि में विद्यमान समुदायत्व में तन्तु-घटित उक्त समुदाय स्वघटकतावच्छेदकत्व-व्याप्यत्व-सम्बन्ध से वृत्ति हो जायगा। यदि दूसरे सम्बन्ध का त्याग कर दिया जायगा, तो दण्ड, चक्र और चीवर का समुदाय भी सामग्री बन

जायगा, क्योंकि वह स्वघटकतावच्छेदकत्व-व्यापकता-सम्बन्ध से दण्डत्व, चक्रत्व आदि में विद्यमान समुदायत्व में वृत्ति हो जायगा।

यह प्रश्न हो सकता है कि सामग्री की उक्त परिभाषा मानने पर दण्ड-द्वय, चक्र-द्वय आदि का समुदाय भी सामग्री बन जायगा, क्योंकि वह भी घटत्व-विशिष्ट-रूप दण्डत्व, चक्रत्व आदि में विद्यमान समुदायत्व में वृत्ति हो जायगा; तो इसका उत्तर यह है कि रूप-वृत्तिता के नियामक सम्बन्धों में स्वघटकतावच्छेदकताविशिष्टान्यत्व का भी प्रवेश कर देना चाहिए। वैशिष्ट्य स्वाश्रयाश्रयद्वय-वृत्तित्व-सम्बन्ध से ऐसा कह देने पर दण्ड-द्वय आदि का समुदाय सामग्री न बन सकेगा, क्योंकि उक्त समुदाय का यह नया सम्बन्ध दण्डत्व, चक्रत्व आदि में विद्यमान समुदायत्व में नहीं है, क्योंकि यह समुदायत्व उक्त समुदाय की दण्डत्वनिष्ठ-घटकतावच्छेदकता के आश्रय दण्डत्व के आश्रय-द्वय—दण्ड-द्वय में वृत्ति होने से स्वाश्रयाश्रय-द्वय-वृत्तित्व-सम्बन्ध से दण्डत्वनिष्ठ-घटकतावच्छेदकता से विशिष्टान्य नहीं है।

फिर प्रश्न होता है कि ऐसा कहने पर एक-एक दण्ड, चक्र आदि तथा कपाल-द्वय का समुदाय भी सामग्री न बन सकेगा, क्योंकि दण्डत्व, चक्रत्व, कपालत्व आदि में विद्यमान समुदायत्व उक्त समुदाय की कपालत्वनिष्ठ-घटकतावच्छेदकता से विशिष्ट हो जायगा, क्योंकि कपालत्व-निष्ठ-घटकतावच्छेदकता के आश्रय कपालत्व के आश्रय–कपाल-द्वय में वृत्ति होने से स्वाश्रयाश्रय-द्वय-वृत्तित्व-सम्बन्ध से उक्त समुदाय की घटकतावच्छेदकता से विशिष्टान्य न होने से घट-कारण-समुदाय स्व-घटकता आदि सम्बन्ध-द्वय तथा इस तीसरे नये सम्बन्ध से दण्डत्व, चक्रत्व, कपालत्व आदि में विद्यमान समुदायत्व में वृत्ति न होगा। तीसरे सम्बन्ध में स्व-घटकतावच्छेदकता में समवायि-कारणतावच्छेदकतावृत्तित्व के निवेश से इस दोष को दूर करने की चेष्टा करने पर दण्ड-द्वय आदि के समुदाय का वारण न होगा, क्योंकि दण्डत्व के भी स्वगत-रूप का समवायि-कारणता-वच्छेदक होने से इसमें विद्यमान घटकतावच्छेदकता भी समवायि-कारणतावच्छेदकावृत्ति न होगी।

यदि यह कहा जाय कि स्वप्रयोज्योत्पत्तिक-कार्य-समवायि-कारणता-वच्छेदकावृत्तित्व के निवेश से इस दोष का वारण हो जायगा, क्योंकि दण्ड, चक्र आदि का समुदाय-रूप सामग्री घट की उत्पत्ति का प्रयोजक

होती है, अतः उसका स्व-प्रयोज्योत्पत्तिक-कार्य घट है; उसकी समवायि-कारणता का अवच्छेदक दण्डत्व आदि नहीं, किन्तु कपालत्व है, अतः विशेषण के लगा देने से दण्डत्व आदि में विद्यमान स्वघटकतावच्छेदकता तो पकड़ी जायगी, पर कपालत्व-निष्ठ-स्वघटकतावच्छेदकता नहीं पकड़ी जायगी; तो यह कहने पर भी परिभाषा दोषमुक्त न होगी, क्योंकि कपालिका-रूप—असमवायि-कारण, कपाल—समवायि-कारण तथा कपाल-रूप-प्रागभाव—निमित्त कारण से घटित कपाल-रूप की सामग्री एक कपाल से घटित होती है, किन्तु कपाल-द्वय-घटित कपाल-रूप के कारण-समुदाय में सामग्रीत्व की आपत्ति होगी, क्योंकि कपालत्व कपाल-रूप की समवायि-कारणता का अवच्छेदक है; इसलिए स्व-प्रयोज्योत्पत्तिक-कार्य-समवायि-कारणान्यकारणतावच्छेदक में अवृत्ति स्व-घटकतावच्छेदकता कपालत्वनिष्ठ-घटकतावच्छेदकता नहीं होगी, किन्तु कपालरूप प्रागभावत्वनिष्ठ-घटकता-वच्छेदकता होगी स्वाश्रयाश्रय-द्वय-वृत्तित्व-सम्बन्ध से, उससे विशिष्टान्य हो जायगा कपाल-द्वय-घटित कपाल-रूप के कारण-समुदाय में वृत्ति समुदायत्व। अतः उक्त समुदाय में सामग्रीत्व की आपत्ति अपरिहार्य है।

इस दोष के परिहारार्थ यह आवश्यक है कि तीसरे सम्बन्ध में स्व-घटकतावच्छेदकता में स्व-प्रयोज्योत्पत्तिक-कार्य-समवायि-कारणता-विशिष्ट-धर्मावृत्तित्व का निवेश कर दिया जाय। वैशिष्ट्य स्वावच्छेदकत्व तथा स्व-निरूपित-कार्यत्वाश्रय-निरूपित-सहकारितावच्छेदकत्व एतदुभय सम्बन्ध से।

इसका फल यह होगा कि कपाल-द्वय से घटित दण्ड, चक्र आदि का समुदाय सामग्री होगा, क्योंकि घट की उत्पत्ति में एक कपाल दूसरे कपाल का सहकारी है, अतः कपालत्व स्व-प्रयोज्योत्पत्तिक-कार्य घट की समवायि-कारणता से उक्त दोनों सम्बन्धों से विशिष्ट हो जायगा, इसलिए उसमें विद्यमान स्व-घटकतावच्छेदकता से भिन्न दण्डत्व आदि में विद्यमान घटकतावच्छेदकता पकड़ी जायगी; उससे विशिष्टान्यत्व कपाल-द्वय दण्ड, चक्र आदि के समुदाय में वृत्ति समुदायत्व में रहने से उक्त समुदाय स्व-विशिष्ट-रूप-वृत्तित्व-सम्बन्ध से धर्म-विशिष्ट समुदाय होने से सामग्री हो सकेगा, किन्तु कपाल-द्वय से घटित कपाल-रूप के कारणों का समुदाय कपाल-रूपत्व-धर्म से विशिष्ट नहीं होगा, क्योंकि उक्त समुदाय में वृत्ति समुदायत्व में समुदाय की वृत्तिता का नियामक तीसरा सम्बन्ध नहीं

रहेगा। इसका कारण यह है कि कपाल-रूप एक-एक कपाल में अलग-अलग उत्पन्न होता है, एक कपाल के रूप की उत्पत्ति में दूसरा उसका सहकारी नहीं होता; अतः उक्त समुदाय से उत्पन्न होने वाले कपाल-रूप की समवायि-कारणता से विशिष्ट धर्म कपालत्व नहीं होगा, क्योंकि उसमें समवायि-कारणता का स्वावच्छेदकत्व-सम्बन्ध तो है, पर दूसरा सम्बन्ध स्वनिरूपित-कार्यत्वाश्रय-कपाल-रूप की सहकारिता का अवच्छेदकत्व नहीं है। अतः स्व-प्रयोज्योत्पत्तिक-कपाल-रूपात्मक-कार्य की समवायि-कारणता से विशिष्ट धर्म में अवृत्ति स्वघटकतावच्छेदकता कपालत्वनिष्ठ-घटकतावच्छेदकता हो जायगी; उसके आश्रय कपालत्व के आश्रय कपाल-द्वय में वृत्ति होने से कपाल-द्वय-घटित उक्त समुदाय-वृत्ति-समुदायत्व में तीसरा सम्बन्ध न जाने से उक्त समुदाय स्वविशिष्टरूप-वृत्तित्व-सम्बन्ध से धर्म-विशिष्ट समुदाय न होगा।

प्रश्न हो सकता है कि उक्त स्थिति में एक कपाल से घटित कपाल-रूप का कारण-समुदाय भी सामग्री न हो सकेगा, क्योंकि समुदाय में स्व-विशिष्टरूप-वृत्तिता के नियामक सम्बन्धों में तीसरा सम्बन्ध अप्रसिद्ध हो जायगा, क्योंकि कपाल-रूप की समवायि-कारणता के अवच्छेदक कपालत्व में कपाल-रूप की सहकारिता का अवच्छेदकत्व न होने से उक्त दो सम्बन्धों से स्व-प्रयोज्योत्पत्तिक-कार्य-कपाल-रूप की समवायि-कारणता से विशिष्ट धर्म नहीं है? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि तीसरे सम्बन्ध को स्वविशिष्ट-वृत्तित्व सम्बन्ध से स्वोत्पत्ति-प्रयोजक-कार्य-समवायि-कारणत्वाभाववत्त्व के रूप में परिवर्तित करने से इस आपत्ति का परिहार हो जायगा, क्योंकि यह सम्बन्ध कपाल-रूप की समवायि-कारणता का व्यधिकरण सम्बन्ध है, अतः इस सम्बन्ध से उसका अभाव सामग्री-रूप में अभिमत कपालत्वनिष्ठ-घटकतावच्छेदकता में रह जायगा।

फिर प्रश्न होता है कि एक कपाल से घटित कपाल-रूप के कारण-समुदाय के मध्य में कपालिका का रूप-द्वय भी प्रविष्ट है, अतः इस समुदाय में विद्यमान रूप में समुदाय की वृत्तिता का नियामक तीसरा सम्बन्ध नहीं रहेगा, क्योंकि रूपत्वनिष्ठ-स्वघटकतावच्छेदकता स्व-प्रयोज्योत्पत्तिक-कार्य-समवायि-कारणता-विशिष्ट-धर्म में अवृत्ति होने से पकड़ी जायगी और उक्त समुदाय-वृत्ति समुदायत्व उसके आश्रयाश्रय-रूप-द्वय में

वृत्ति होने से उक्त स्व-घटकतावच्छेदकता-विशिष्टान्य नहीं होगा, इसलिए उक्त समुदाय स्व-विशिष्टरूप-वृत्तित्व-सम्बन्ध से धर्म-विशिष्ट-समुदाय न होगा ? इसका उत्तर यह है कि तीसरे सम्बन्ध स्वघटकतावच्छेदकता में स्व-प्रयोज्योत्पत्तिक-कार्य-निरूपितासमवायि-कारणतावच्छेदकावृत्तित्व का भी निवेश कर देने से यह दोष नहीं होगा।

लक्षण

"लक्ष्यते अनेन इति लक्षणम्"—लक्षण शब्द की इस व्युत्पत्ति के अनुसार लक्षण उसे कहा जाता है जिससे कोई पदार्थ या पदार्थ-समूह लक्षित होता है। अपने से भिन्न जो कुछ है, उस सबसे भिन्न रूप में अवगत किया जाता है अथवा जिसके कारण किसी विशेष शब्द से व्यवहृत किया जाता है, जैसे, पृथिवी का लक्षण है गन्ध; इसके द्वारा पृथिवी को पृथिवी से इतर समस्त पदार्थों से भिन्न समझा जाता है। गन्ध द्वारा पृथिवी में पृथिवीतरभेद का बोध अनुमान के माध्यम से होता है। अनुमान का प्रयोग इस प्रकार होता है—

"पृथिवी पृथिवीतरेभ्यो भिन्ना, गन्धात्; यत् पृथिवीतरेभ्यो न भिद्यते तद् गन्धवद् न भवति, यथा पृथिवीतराणि जलादीनि"—पृथिवी पृथिवी से इतर सभी पदार्थों से भिन्न है, क्योंकि उसमें गन्ध है; जो पृथिवीतर सभी पदार्थों से भिन्न नहीं होता वह गन्ध का आश्रय नहीं होता, जैसे, पृथिवीतर जल आदि पृथिवीतर सभी पदार्थों से भिन्न न होने के कारण गन्ध का आश्रय नहीं है। इस अनुमान में पृथिवी पक्ष है, पृथिवीतर-भेद साध्य है और गन्ध हेतु है—पृथिवीतर-भेद का अनुमापक है। इसके अनुसार लक्षण को इस रूप में लक्षित किया जा सकता है कि जो जिसमें उससे इतर सभी पदार्थों के भेद का अनुमापक होता है वह उसका लक्षण होता है। गन्ध पृथिवी में पृथिवीतर समस्त पदार्थों के भेद का अनुमापक होने से पृथिवी का लक्षण है। ऐसे लक्षण को इतरभेदानुमापक कहा जाता है। इसका कार्य होता है लक्ष्य में अलक्ष्य के भेद की अनुमिति कराना।

पृथिवी का दूसरा लक्षण है पृथिवीत्व। पृथिवी में समवाय-सम्बन्ध से गन्ध की उत्पत्ति होती है अन्यत्र नहीं होती। इससे सिद्ध होता है कि समवाय-सम्बन्ध से गन्ध के प्रति पृथिवी तादात्म्य-सम्बन्ध से कारण है। पृथिवी में समवाय-सम्बन्धावच्छिन्न-गन्ध-निष्ठ-कार्यता-निरूपित-तादात्म्य-

सम्बन्धावच्छिन्न-कारणता है। इसे गन्ध की समवायि-कारणता कहा जाता है। यह कारणता सम्पूर्ण पृथिवी में रहे, अन्यत्र न पसरे, इस हेतु इसके अवच्छेदक–नियन्त्रक-रूप में पृथिवीत्व की सिद्धि होती है। पृथिवीत्व सम्पूर्ण पृथिवी में रहता हैं, पृथिवी से भिन्न अन्यत्र कहीं भी नहीं रहता। इसे जाति मानने में कोई बाधक न होने से इसको सम्पूर्ण पृथिवी में रहने वाली जाति माना जाता है। यह नित्य है, एक है, समवाय-सम्बन्ध से समग्र पृथिवी में रहता है। यही पृथिवी-पद के व्यवहार का नियामक है। यतः यह समस्त पृथिवी में रहता है और अन्यत्र नहीं रहता; अतः इसका अनुसरण करने वाला पृथिवी-पद-व्यवहार भी समस्त पृथिवी में होता है, अन्यत्र जल आदि में नहीं होता। इसके अनुसार लक्षण को इस रूप में भी लक्षित किया जा सकता है कि जिससे लक्ष्य में पद-विशेष के व्यवहार की सिद्धि हो, वह लक्षण है। लक्षण से व्यवहार की सिद्धि भी अनुमान की प्रक्रिया से होती है, जैसे— "पृथिवी पृथिवीपदेन व्यवहर्तव्या, पृथिवीत्वात्; यत् न पृथिवीपदेन व्यवहर्तव्यं तत् न पृथिवीत्ववत्, यथा जलादिकम्"—पृथिवी पृथिवी-पद से व्यवहार-योग्य है, क्योंकि उसमें पृथिवीत्व है; जो पृथिवी-पद से व्यवहार्य नहीं है, उसमें पृथिवीत्व नहीं है, जैसे जल आदि।

इस सन्दर्भ में यह ज्ञातव्य है कि पदार्थ-सामान्य के लक्षण ज्ञेयत्व आदि को छोड़ कर व्यवहार-साधक सभी लक्षण इतरभेदानुमापक हो सकते हैं, किन्तु इतरभेदानुमापक सभी लक्षण व्यवहार-साधक नहीं हो सकते, क्योंकि व्यवहार का साधक वही होता है जो लक्ष्यबोधक पद का प्रवृत्ति-निमित्त होता है और पद की प्रवृत्ति-निमित्तता का अवधारण लाघव के आधार पर होता है। इतरभेदानुमापक का अवधारण इतर-भेद की व्याप्ति के आधार पर होता है, लाघव के आधार पर नहीं होता, क्योंकि व्याप्ति साध्य के अव्यभिचारी लघु, गुरु दोनों में रहती है।

लक्षण के उक्त लक्षण उसके प्रयोजन पर आधारित हैं, जैसा कि कहा गया है—"**व्यावृत्तिर्व्यवहारो वा लक्षणस्य प्रयोजनम्**"। व्यावृत्ति का अर्थ है भेद; प्रस्तुत प्रसङ्ग में अलक्ष्य-भेद। वह लक्षण द्वारा लक्ष्य में अनुमान के माध्यम से सिद्ध होने के कारण लक्षण का प्रयोजन कहा जाता है। व्यवहार का अर्थ है विवक्षा से पद का प्रयोग; यह लक्षण का दूसरा प्रयोजन है। इसकी भी सिद्धि लक्षण द्वारा अनुमान के माध्यम से होती है।

उक्त लक्षणों से भिन्न भी लक्षण का एक लक्षण है जो उसकी निर्दोषता पर आधारित है, वह है अव्याप्ति प्रभृति दोषों से रहित धर्म। जिस धर्म में अव्याप्ति आदि लक्षण-दोष न हों, वह धर्म अपने आश्रय का लक्षण होता है, जैसे, गौ का लक्षण है सास्ना; सास्ना का अर्थ है गले के नीचे लटकती चमड़े की थैली, जिसे गलकम्बल कहा जाता है। यह केवल गौ में होती है। यह गौ के शरीर का एक अवयव है। अवयवी अवयव में समवेत होता है, अतः गौ के साथ सास्ना का सम्बन्ध है स्वसमवेत-द्रव्यत्व। इस सम्बन्ध से सास्ना गौ का लक्षण है, क्योंकि इसमें अव्याप्ति आदि लक्षण-दोष नहीं हैं।

लक्षण-दोष

अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असम्भव, आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रक, अप्रसिद्धि—ये सब लक्षण के दोष हैं। इनमें से यदि एक भी दोष लक्षण में आ जाय तो उसका लक्षणत्व समाप्त हो जाता है। उससे लक्षण के प्रयोजन की सिद्धि नहीं हो सकती। अतः वही धर्म अपने आश्रय का लक्षण होता है जो इन सभी दोषों से मुक्त हो।

अव्याप्ति

लक्ष्य के किसी भाग में न रहने को अव्याप्ति कहा जाता है। आशय यह है कि पूरे लक्ष्य में लक्षण की व्याप्ति होनी चाहिए, क्योंकि ऐसा होने पर ही वह अपने सम्पूर्ण लक्ष्य में अलक्ष्य-भेद की अनुमिति करा सकेगा; अतः जो धर्म लक्ष्य के किसी भाग में नहीं रहता, उसमें अव्याप्ति—सभी लक्ष्यों में व्याप्ति का अभाव होता है। इसे शास्त्रीय भाषा में "लक्ष्यतावच्छेदक के समानाधिकरण अभाव का प्रतियोगित्व" कहा जाता है। इसका अर्थ है लक्ष्यतावच्छेदक के अधिकरण में विद्यमान अभाव का प्रतियोगित्व, जैसे, गौ का यदि लक्षण "श्वेतरूपवद् गोपदार्थत्वम्"—श्वेत रूप जिस गो-पदार्थ—गो कहे जाने वाले अर्थ में रहे वह गौ है; तो इस लक्षण में अव्याप्ति है, क्योंकि गौ का लक्षण करने पर गोत्व या गोपदार्थत्व लक्ष्यतावच्छेदक होता है, उसके अधिकरण रक्त, पीत आदि गौ में श्वेत रूप का अभाव होने से श्वेतरूपवद् गोपदार्थत्व का अभाव है, उस अभाव का प्रतियोगित्व श्वेतरूपवद् गोपदार्थत्व में है।

अतिव्याप्ति

अतिव्याप्ति का अर्थ है लक्ष्य को अतिक्रमण करके व्याप्त होना, अलक्ष्य में रहना। शास्त्रीय भाषा में "लक्ष्यतावच्छेदक के अभाव का

सामानाधिकरण्य"—लक्ष्यतावच्छेदक के अभावाधिकरण में रहना, जैसे, गौ का लक्षण यदि किया जाय "शृङ्गित्व"—जिसे सींग हो वह गौ है, तो इसमें अतिव्याप्ति दोष होगा, क्योंकि लक्ष्यतावच्छेदक गोत्व के अभाव का अधिकरण है महिष आदि; सींग उसे भी हैं, अतः लक्ष्यतावच्छेदक गोत्व के अभावाधिकरण महिष आदि में रहने से गौ का शृङ्गित्व लक्षण अतिव्याप्ति दोष से ग्रस्त है।

असम्भव

किसी भी लक्ष्य में लक्षण का न होना असम्भव है। शास्त्रीय भाषा में इसे "लक्ष्यतावच्छेदक के व्यापक अभाव का प्रतियोगित्व" कहा जाता है, जैसे, एकशफत्व को यदि गौ का लक्षण किया जाय तो इसमें असम्भव दोष होगा, क्योंकि गौ की खुर दो भागों में फटी होती है। एकशफत्व—अविभक्त-खुरत्व किसी भी गौ में नहीं होता; अतः लक्ष्यतावच्छेदक गोत्व के सभी अधिकरणों में एकशफत्व का अभाव होने से एकशफत्व लक्ष्यतावच्छेदक गोत्व के व्यापक अभाव का प्रतियोगी होने से असम्भव दोष से ग्रस्त होता है।

आत्माश्रय

आत्माश्रय का अर्थ है अपने पर आश्रित होना, अर्थात् अपने ज्ञान के लिए अपने ही ज्ञान की अपेक्षा करना। शास्त्रीय भाषा में इसका रूप—"स्व-ग्रह-सापेक्ष-ग्रह-विषयत्व"—अपने ज्ञान की अपेक्षा करने वाले ज्ञान का विषय होना, जैसे, गौ का लक्षण यदि किया जाय 'गोत्व' और 'गोत्व' का लक्षण किया जाय 'अगो-भिन्नत्व'—गो-भिन्न से भिन्न होना, तो गौ का गोत्व-लक्षण आत्माश्रय दोष से ग्रस्त होगा, क्योंकि अगो-भिन्नत्व-रूप गोत्व-लक्षण में अगोत्व-गो-भेद के प्रतियोगितावच्छेदक-रूप में अगो-भिन्नत्व-रूप-गोत्व प्रविष्ट है, अतः अगो-भिन्नत्व के ज्ञान में अगो-भिन्नत्व के ही ज्ञान की अपेक्षा हो जाने से वह अपने ही ज्ञान की अपेक्षा करने वाले ज्ञान का विषय हो जाता है।

अथवा गौ के गोत्व का यह लक्षण किया जाय कि गौ से भिन्न में न रहने वाली तथा सम्पूर्ण गौ मे रहने वाली जाति, तो गोत्व का यह लक्षण भी आत्माश्रय दोष से ग्रस्त होगा, क्योंकि इस लक्षण में गौ के विशेषण-रूप में गोत्व स्वयं प्रविष्ट है; अतः गोत्व के ज्ञान में गोत्व के ही ज्ञान की अपेक्षा हो जातो है।

अन्योन्याश्रय

अन्योन्याश्रय का अर्थ है परस्पर में एक का दूसरे पर आश्रित होना, अर्थात् दो ज्ञातव्यों को अपने ज्ञान के लिए परस्पर-ज्ञान का सापेक्ष होना। शास्त्रीय भाषा में इसका स्वरूप है—"स्वग्रहसापेक्ष-ग्रहसापेक्ष-ग्रहविषयत्व"—अपने ज्ञान की अपेक्षा करने वाले ज्ञान के लिए अपेक्षित ज्ञान का विषय होना। जब किसी लक्षण का ज्ञान अपनी अपेक्षा करने वाले ज्ञान को अपेक्षणीय हो जाता है तब वह अन्योन्याश्रय दोष से ग्रस्त होता है, जैसे, गौ का लक्षण यदि किया जाय 'सास्ना' और 'सास्ना' का लक्षण किया जाय 'गोगलाधोलम्बकायचर्मपुटक'—गौ के गले के नीचे लटकती चमड़े की थैली, तो गौ का सास्ना-लक्षण अन्योन्याश्रय दोष से ग्रस्त होगा, क्योंकि यहाँ दो ज्ञातव्य हैं—एक लक्ष्य गौ और दूसरा लक्षण 'सास्ना'। इनमें सास्ना-ज्ञान की अपेक्षा है गो-ज्ञान को, क्योंकि वह गौ का लक्षण है और गो-ज्ञान की अपेक्षा है सास्ना-ज्ञान को, क्योंकि सास्ना के लक्षण में गो का प्रवेश है; अतः सास्ना अपने ज्ञान की अपेक्षा करने वाले गो-ज्ञान को अपेक्षित अपने ज्ञान का विषय होने से अन्योन्याश्रय दोष से ग्रस्त है।

चक्रक

जब किसी लक्षण को तीसरी कक्षा में अपने ज्ञान की अपेक्षा हो जाती है तो उसमें चक्रक दोष होता है। शास्त्रीय भाषा में इसका स्वरूप है—"स्वग्रहसापेक्षग्रह-सापेक्षग्रह-सापेक्षग्रहविषयत्व"—इसका अर्थ है अपने ज्ञान की अपेक्षा करने वाले ज्ञान की अपेक्षा करने वाले ज्ञान को अपेक्षणीय ज्ञान का विषय होना। चक्रक की इस परिभाषा के अनुसार जब किसी वस्तु के ज्ञान के सम्पादन में अपेक्षणीय ज्ञान को जिस ज्ञान की अपेक्षा होती है, उस ज्ञान के जन्म में उसी वस्तु का ज्ञान अपेक्षित हो जाने पर चक्रक दोष होता है, जैसे, यदि गौ का लक्षण किया जाय 'गोत्व' और 'गोत्व' का लक्षण किया जाय सास्नाहीन पदार्थों में न रहने वाली तथा सास्ना-युक्त सभी पदार्थों में रहने वाली जाति, एवं सास्ना का लक्षण किया जाय गौ के गले के नीचे लटकने वाली चमड़े की थैली; तो गौ के लक्षण का इस प्रकार निर्बचन करने पर चक्रक दोष होगा, क्योंकि गौ के ज्ञान के लिए गोत्व का ज्ञान और गोत्व के ज्ञान के

लिए सास्ना का ज्ञान एवं सास्ना के ज्ञान के लिए पुनः गौ का ही ज्ञान अपेक्षित हो जाता है।

अप्रसिद्धि

लक्षण का यदि कोइ ऐसा स्वरूप प्रस्तुत हो जिसका कोई अंश असत् हो तो अप्रसिद्धि दोष होता है, जैसे, गौ का लक्षण यदि किया जाय "असरोमरसनत्व"—रोम-युक्त रसना—जिह्वा का न होना, तो इस लक्षण में अप्रसिद्धि दोष होगा, क्योंकि इस लक्षण में प्रविष्ट रोम-युक्त-रसना असत् है।

अनवस्था

उपर्युक्त दोषों से अतिरिक्त एक और भी लक्षण-दोष सम्भावित है, वह है अनवस्था—लक्षण-कल्पना की कोई सीमा न होना, जैसे, पट का यदि लक्षण किया जाय तन्तु में समवाय-सम्बन्ध से रहने वाला द्रव्य और तन्तु का लक्षण किया जाय अंशु में समवाय-सम्बन्ध से रहने वाला द्रव्य; इस प्रकार अवयव द्वारा अवयवी का लक्षण करने पर पट की अवयव-परम्परा में अन्त में परमाणु आयेगा; उसके निवरयव होने से अवयव द्वारा उसका लक्षण सम्भव न होने से उसका लक्षण अन्य प्रकार से करना होगा, जैसे, उसका लक्षण होगा—जो द्रव्य स्वयं समवाय-सम्बन्ध से न रहे और अन्य द्रव्य का समवाय-सम्बन्ध से आश्रय हो। इस लक्षण के ज्ञान में आश्रित द्रव्य की गवेषणा और उसके लक्षण की निरुक्ति करनी होगी। फलतः लक्षण-कल्पना की कोई सीमा प्राप्त न होने से उक्त रीति से लक्षण के निर्वचन का प्रयास अनवस्था दोष से दुर्घट होगा।

विनिगमना-विनिगमक

किसी वस्तु के सम्बन्ध में एकाधिक पक्ष उपस्थित होने पर उपस्थित अनेक पक्षों में किसी एक पक्ष को समर्थन देने वाली युक्ति का नाम है विनिगमना या विनिगमक। यह उपस्थित पक्षों में से जिस पक्ष में प्राप्य होती है वह पक्ष मान्य हो जाता है और अन्य पक्ष त्याज्य हो जाते हैं और जहाँ विनिगमना नहीं प्राप्त होती वहां उपस्थित सभी पक्षों का अङ्गीकार आवश्यक हो जाता है।

विनिगमना के उदाहरण के रूप में अन्धकार को लिया जा सकता है। अन्धकार के विषय में दो पक्ष उपस्थित होते हैं—एक यह कि

अन्धकार एक स्वतन्त्र द्रव्य है, दूसरा यह कि अन्धकार प्रकाशाभाव-रूप है। इन दोनों पक्षों में द्वितीय पक्ष इस आधार पर मान्य होता है कि अन्धकार को प्रकाशाभाव-रूप मानने में लाघव है और स्वतन्त्र द्रव्य मानने में उसे अनन्त मानना होगा; उसके प्रागभाव, जन्म, विनाश आदि की कल्पना करनी होगी। अतः उसका यह पक्ष गौरव-ग्रस्त है।

विनिगमना-विरह के उदाहरण के रूप में पद-शक्ति को लिया जा सकता है। पद-शक्ति के विषय में न्याय-शास्त्र का मत है कि अर्थ में पद की शक्ति ईश्वरेच्छा-रूप है। ईश्वरेच्छा के दो स्वरूप सम्भव हैं—एक है पद-विशेष्यक अर्थ-विषयक-बोध-जनकत्व-प्रकारक इच्छा, जिसे "इदं पदं इमम् अर्थं बोधयतु", इस वाक्य से प्रकट किया जाता है; दूसरा है अर्थ-विशेष्यक-पद-जन्य-बोध-विषयत्व-प्रकारक इच्छा, जिसे "अयमर्थः एतत्पदजन्यबोधविषयो भवतु", इस वाक्य से प्रकट किया जाता है।

अब यहां ऐसी कोई विनिगमना-युक्ति अथवा विनिगमक प्रमाण नहीं है, जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि ईश्वर की उक्त इच्छाओं में अमुक इच्छा ही मान्य है; अतः विनिगमना न होने से उक्त दोनों ही प्रकार की ईश्वरेच्छा को पद-शक्ति माना जाता है।

व्याप्तिपञ्चकमाथुरी

श्रीगणेशाय नमः

ननु अनुमितिहेतुव्याप्तिज्ञाने का व्याप्तिः ?

अनुमानप्रामाण्यं निरूप्य व्याप्तिस्वरूपनिरूपणमारभते 'ननु' इत्यादिना। 'अनुमितिहेतु' इत्यस्य 'अनुमाननिष्ठप्रामाण्यानुमितिहेतु' इत्यर्थः। 'व्याप्तिज्ञाने' इत्यत्र च विषयत्वं सप्तम्यर्थः, तथा च अनुमाननिष्ठप्रामाण्यानुमितिहेतुव्याप्तिज्ञानविषयीभूता व्याप्तिः का ? इत्यर्थः, । अनुमाननिष्ठप्रामाण्यानुमितिहेत्वित्यनेन व्याप्तेरनुमानप्रामाण्योपपादकत्वकथनादनुमानप्रामाण्यनिरूपणानन्तरं व्याप्तिनिरूपणे उपोद्घात एव सङ्गतिः सूचिता। उपपादकत्वञ्च अत्र ज्ञापकत्वम्।

मूल ग्रन्थ के रचयिता गङ्गेशोपाध्याय ने अनुमान के प्रामाण्य का प्रतिपादन करने के बाद 'ननु अनुमितिहेतुव्याप्तिज्ञाने का व्याप्तिः' इस वाक्य से व्याप्तिस्वरूप के प्रतिपादन का उपक्रम किया है। उक्त वाक्य में 'अनुमितिहेतु' शब्द का अर्थ है 'अनुमान में प्रामाण्य की अनुमिति का कारण' 'व्याप्तिज्ञाने' शब्द में ज्ञान शब्द के उत्तर विद्यमान सप्तमी विभक्ति का अर्थ है विषयत्व। इस प्रकार उक्त वाक्य का अर्थ है 'अनुमान में प्रामाण्य की अनुमिति के कारण व्याप्तिज्ञान का विषयभूत व्याप्ति क्या है ?'

'अनुमान में प्रामाण्य की अनुमिति का कारण' इस कथन से व्याप्ति में अनुमान-प्रामाण्य का उपपादकत्व बताकर यह सूचित किया गया है कि अनुमानप्रामाण्य के प्रतिपादन के अनन्तर व्याप्ति का प्रतिपादन करने में उपोद्घात ही सङ्गति[1] है और व्याप्ति में अनुमानप्रामाण्य का उपपादकत्व ज्ञापकत्व-रूप है।

---

१. सङ्गति—एक पदार्थ के निरूपण के अनन्तर जब दूसरे पदार्थ का निरूपण किया जाता है तब निरूपण किये जाने वाले पदार्थ में निरूपण किए गये पदार्थ की सङ्गति अपेक्षित होती है। क्योंकि जिस पदार्थ का निरूपण किया जाने वाला है उस पदार्थ में यदि पूर्व में निरूपित पदार्थ की सङ्गति

प्रस्तुत ग्रन्थ "व्याप्तिपञ्चक" तत्त्वचिन्तामणि के अनुमान खण्ड के व्याप्तिवाद का एक भाग है। इसके पूर्व ग्रन्थकार ने बड़े विस्तार के साथ इस विषय का प्रतिपादन किया है कि अनुमान एक अतिरिक्त प्रमाण है।

न होगी तो उस पदार्थ का निरूपण असङ्गत-असम्बद्ध अर्थ का अभिधान होगा। अतः उसके श्रवण में श्रोता की प्रवृत्ति न हो सकेगी। इस प्रकार सङ्गति के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है 'जिस पदार्थ का निरूपण होने पर किसी ऐसे अर्थ का ज्ञान हो जिससे दूसरे पदार्थ की जिज्ञासा उत्पन्न होने से दूसरे पदार्थ का निरूपण आवश्यक हो' वह अर्थ, निरूपण किए जाने वाले दूसरे पदार्थ में पूर्व निरूपित अर्थ की संगति होती है, इसी को संगति के लक्षणरूप में इस प्रकार कहा गया है 'अनन्तराभिधानप्रयोजकजिज्ञासाजनकज्ञानविषयः अर्थः सङ्गतिः', अथवा 'यन्निरूपणानन्तरं यन्निरूपणप्रयोजकजिज्ञासाजनकज्ञानविषयोऽर्थः' सङ्गतिः, अथवा 'उक्तजिज्ञासाजनकनिरूप्यतावच्छेदकधर्मप्रकारकस्मरणप्रयोजकनिरूप्यनिष्ठः सम्बन्धः सङ्गतिः'। आशय यह है कि अनन्तर अभिधान अर्थात् एक वस्तु के कथन के बाद होने वाले कथन का प्रयोजक जो जिज्ञासा, उस जिज्ञासा के उत्पादक ज्ञान का विषयभूत अर्थ संगति है, अथवा जिस वस्तु के निरूपण के अनन्तर जिस दूसरी वस्तु के निरूपण की प्रयोजिका जिज्ञासा जिस अर्थ के ज्ञान से उत्पन्न होती है, वह अर्थ दूसरे पदार्थ में पूर्व पदार्थ की संगति होती है, अथवा उक्त जिज्ञासा—एक वस्तु के प्रतिपादन के अनन्तर अन्य वस्तु के प्रतिपादन की प्रयोजिका जिज्ञासा का जनक जो निरूप्यतावच्छेदकधर्मप्रकारेण निरूप्य पदार्थ का स्मरण, उस स्मरण का प्रयोजक जो निरूप्यनिष्ठ सम्बन्ध, वह निरूपणीय पदार्थ में पूर्व निरूपित पदार्थ की संगति होती है।

सङ्गति के भेद :—सङ्गति के छः भेद होते हैं—

सप्रसङ्ग उपोद्घातो हेतुताऽवसरस्तथा।
निर्वाहकैक्यकार्यैक्ये षोढा संगतिरिष्यते॥

प्रसङ्ग, उपोद्घात, हेतुता-कार्यत्व-कारणत्व अन्यतर, अवसर, निर्वाहकैक्य-एकनिर्वाहकनिर्वाह्यत्व, और कार्यैक्य-एककार्यकारित्व, यह छः प्रकार की संगति मानी जाती है।

प्रसङ्ग :—प्रसङ्ग का अर्थ है 'स्मृतस्य उपेक्षाऽनर्हत्वम्'। 'स्मृतिविषयतावच्छेदकत्वे सति द्वेषविषयतानवच्छेदकधर्मवत्त्वम्' अर्थात् किसी वस्तु का प्रतिपादन

प्रमाण का अर्थ होता है 'प्रमा का करण', और 'प्रमा का अर्थ है 'यथार्थ ज्ञान', तथा करण का अर्थ है 'व्यापार द्वारा असाधारण कारण'। अनुमान एक ऐसी प्रमा का व्यापार द्वारा असाधारण कारण होता है जिसे भाव में ल्युट् प्रत्यय से निष्पन्न अनुमान शब्द से तथा भाव

होने पर यदि किसी दूसरी वस्तु का स्मरण हो जाता है और वह उपेक्षणीय नहीं होता है तो 'स्मरण का विषय होने पर उपक्षणीय न होना' ही दूसरी वस्तु में पूर्व वस्तु की प्रसङ्ग सङ्गति कही जाती है। अथवा किसी वस्तु का निरूपण होने पर यद्धर्मविशिष्ट का स्मरण हो और तद्धर्मविशिष्ट के प्रति द्वेष न हो तो ऐसा धर्म भी निरूपण किए जाने वाले पदार्थ में पूर्व निरूपित पदार्थ की संगति होती है।

प्रसङ्ग का एक यह भी लक्षण किया जा सकता है कि उपोद्घात आदि पाँच संगतियों से भिन्न संगति प्रसङ्ग संगति है। प्रसङ्ग संगति का उदाहरण यह है—

जैसे चैत्र का निरूपण होने के बाद चैत्र के मित्र का अथवा चैत्र के ग्राम का स्मरण हो जाने पर यदि उसके मित्र या ग्राम का निरूपण होता है तो वह प्रसङ्गाधीन निरूपण होता है; एवं सद् हेतु का निरूपण करने पर असद् हेतु का स्मरण हो जाने पर जो असद् हेतु का निरूपण होता है वह भी प्रसङ्गाधीन निरूपण होता है। इन स्थलों में निरूपणीय पदार्थ जिस रूप में स्मरण का विषय होता है वह रूप ही प्रसङ्ग सङ्गति कहा जाता है। जैसे चैत्र का निरूपण होने पर चैत्र-मित्र का यदि चैत्र-मित्रत्वेन स्मरण होता है तो चैत्र-मित्रत्व ही प्रसङ्ग-सङ्गति होगा। एवं सद्-हेतु-निरूपण के बाद यदि दोषयुक्तहेतुत्वेन असद्-हेतु का स्मरण होता है तो दोष ही प्रसङ्ग संगति होगा।

उपोद्घात :—"चिन्तां प्रकृतसिद्ध्यर्थामुपोद्घातं विदुर्बुधाः" इस उक्ति के अनुसार 'प्रकृत की सिद्धि जिससे हो उसकी जिज्ञासा' उपोद्घात सङ्गति की निर्वाहिका होती है। फलतः 'प्रकृतोपपादकं किम्' इस जिज्ञासा के जनकीभूत ज्ञान का विषयभूत प्रकृतोपपादकत्व उपोद्घात संगति होता है।

प्रकृत की उपपादकता दो प्रकार से होती है—कहीं प्रकृत का घटक होने से और कहीं प्रकृत का साधक होने से, जैसे—व्याप्ति 'व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञान जन्यज्ञानत्व' इस अनुमितिलक्षण का उपपादक है, क्योंकि घटक का ज्ञान घटित पदार्थ के ज्ञान का कारण होता है।

तथा सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति अनुमितिलक्षण का घटक न होने पर भी लक्षण के घटक व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञाननिष्ठ अनुमितिजनकता का साधक

में क्तिन् प्रत्यय से निष्पन्न अनुमिति शब्द से व्यवहृत किया जाता है। इस प्रकार अनुमान अनुमितिनामक प्रमा का परामर्शरूप व्यापार के द्वारा असाधारण कारण होता है। व्यापार का अर्थ होता है 'तत् से जन्य होते हुए तत् से जन्य का जनक। परामर्श व्याप्तिज्ञान से जन्य और

होने से अनुमितिलक्षण का उपपादक होती है, क्योंकि सामान्यलक्षणा के बिना पर्वतीय धूम में पर्वतीय वह्नि की व्याप्ति का ज्ञान संभव न होने से 'वह्नि-व्याप्यधूमवान् पर्वतः' यह परामर्श नहीं हो सकता, अतः तादृशपरामर्शनिष्ठजनकता-निरूपितजन्यताशालिज्ञानत्वरूप अनुमितिलक्षण का ज्ञान नहीं हो सकता।

हेतुता :—हेतुतापद अजहत्स्वार्थलक्षणा से तादात्म्य और स्वनिरूपित-कार्यतात्वान्यतर सम्बन्ध से हेतुताविशिष्टपरक हैं। अतः हेतुतारूप संगति की परिधि में कार्यत्व और कारणत्व दोनों का अन्तर्भाव होता है।

द्रव्य के बाद गुण का निरूपण करने में कार्यत्व संगति होती हैं और अनुमिति के निरूपण के बाद अनुमान का निरूपण करने पर कारणत्व संगति होती है।

अवसर :—अवसर का लक्षण है "विरोधिजिज्ञासानिवृत्तौ अवश्य-वक्तव्यत्वम्" प्रतिबन्धक जिज्ञासा की निवृत्ति होने पर अवश्य वक्तव्य होने को अवसर संगति कहा जाता है। जैसे अनुमाननिरूपण के बाद उपमाननिरूपण में अवसर संगति है, क्योंकि अनुमान की अपेक्षा उपमान के प्रामाण्य में बहुतर वादियों की विप्रतिपत्ति होने से उपमान यामाण्य के प्रतिष्ठापन में बहुतर विप्रतिपत्तियों के निरास की आवश्यकता होती है। अनुमानप्रामाण्य में उपमानप्रामाण्य की अपेक्षा कम बिप्रतिपत्तियाँ हैं, अत एव अनुमानप्रामाण्य के प्रतिष्ठापन के लिए थोड़ी ही विप्रतिपत्तियों का निरास अपेक्षित होता है, अतः अनुमान उपमान की अपेक्षा सुगम और उपमान अनुमान की अपेक्षा दुर्गम है, मनुष्य की स्वभावतः सुगम वस्तु को जानने के लिए प्रथम प्रवृत्ति होती है, अतः प्रत्यक्ष प्रमाण के निरूपण के बाद अनुमान की जिज्ञासा पहले होती है, वह जिज्ञासा उपमान के निरूपण में प्रतिबन्धक हो जाती है और जब अनुमान निरूपण होने पर अनुमान की जिज्ञासा समाप्त हो जाती है तब उपमान प्रमाण अवश्य वक्तव्य हो जाता है। इस प्रकार विरोधी जिज्ञासा के निवृत्त होने पर अवश्य वक्तव्य होने से अनुमान का निरूपण होने के बाद उपमान का निरूपण 'अवसर' प्राप्त निरूपण होता है।

व्याप्तिज्ञान से जन्य अनुमिति का जनक होने से अनुमिति के जनन में व्याप्तिज्ञान का व्यापार होता है। क्योंकि पक्ष में व्याप्तिविशिष्ट हेतु के सम्बन्धज्ञान को परामर्श कहा जाता है। जिसे 'साध्यव्याप्यहेतुमान् पक्षः' अथवा 'पक्षः-साध्यव्याप्यहेतुमान्' इस शब्द से अभिहित किया जाता है।

इस परामर्शात्मक ज्ञान में पक्ष में हेतु के सम्बन्ध का और हेतु में व्याप्ति के सम्बन्ध का भान होता है। यह ज्ञान 'पक्षविशेष्यक व्याप्ति-विशिष्टहेतुवैशिष्ट्यावगाही' होता है। इस ज्ञान में हेतु विशेषण और हेतु में भासित होने वाली व्याप्ति विशेषणतावच्छेदक होती है। विशिष्ट-वैशिष्ट्यावगाही अनुभव में विशेषणतावच्छेदक-प्रकारक विशेषणविशेष्यक निश्चय कारण होता है। उक्त परामर्श में विशेषणतावच्छेदकीभूत व्याप्ति का हेतुरूप विशेषण में होने वाला' 'साध्यव्याप्यो हेतुः अथवा 'हेतुःसाध्यव्याप्यः' इस प्रकार का निश्चय कारण है। यह निश्चय ही व्याप्तिज्ञान है। 'साध्यव्याप्यहेतुमान् पक्षः' यह परामर्श इस व्याप्तिज्ञान से जन्य होने से एवं इस व्याप्तिज्ञान से जन्य 'पक्षः साध्यवान्' इस अनुमिति का जनक होने से 'पक्षः साध्यवान्' इस अनुमिति के उत्पादन में 'साध्यव्याप्यो हेतुः' इस व्याप्तिज्ञान का व्यापार है। आशय यह है कि पक्ष में हेतु का ज्ञान होने पर हेतु में पूर्वानुभूत साध्यव्याप्तिका 'साध्यव्याप्यो हेतुः' इस प्रकार स्मरणात्मक व्याप्तिज्ञान होता है और इससे 'पक्षः साध्यव्याप्यहेतुमान्' इस प्रकार परामर्श उत्पन्न होता है और इस वरामर्श से 'पक्षः साध्यवान्' इस प्रकार अनुमिति उत्पन्न होती है।

निर्वाहकैक्य :—जिन दो पदार्थों का एक निर्वाहक होता है उन दोनों पदार्थों में एक के निरूपण के बाद दूसरे का निरूपण निर्वाहकैक्य संगति से होता है। जैसे गुण और कर्म दोनों द्रव्यात्मक एक कारण से जन्य होने के नाते एक निर्वाहक से निर्वाह्य हैं अतः गुणनिरूपण के बाद कर्म का निरूपण निर्वाहकैक्य संगति से होता है।

कार्यैक्य :—जो दो पदार्थ किसी एक कार्य के प्रयोजक होते हैं उनमें कार्यैक्य संगति होती है—व्याप्ति और पक्षता अनुमितिरूप एक कार्य के प्रयोजक होते हैं; अतः दोनों में कार्यैक्य होने से व्याप्तिनिरूपण होने के अनन्तर पक्षता का निरूपण कार्यैक्य-संगति-प्रयुक्त माना जाता है।

असाधारण कारण का अर्थ है 'साधारण कारण से भिन्न' और साधारण कारण का अर्थ है 'समस्त कार्य का कारण'। साधारण कारण की इस परिभाषा के अनुसार न्यायमत में कार्य के आठ साधारण कारण होते हैं– ईश्वर, ईश्वरज्ञान, ईश्वरेच्छा, ईश्वरप्रयत्न, कार्य का प्रागभाव, काल, दिक्, और अदृष्ट। इन आठों का कार्यतावच्छेदक कार्यत्वरूप धर्म होता है किन्तु इन कारणों से भिन्न कारणों का कार्यतावच्छेदक कार्यत्व न होकर कार्यत्व का व्याप्य कोई धर्म होता है। जैसे—दण्ड, कपाल आदि का कार्यतावच्छेदक घटत्व, एवं तन्तु, वेमा आदि का कार्यतावच्छेदक पटत्व आदि। व्याप्तिज्ञान का कार्यतावच्छेदक अनुमितित्व होता है। अतः कार्यत्वव्याप्यधर्मावच्छिन्न का कारण असाधारण कारण होता है, इस नियम के अनुसार व्याप्तिज्ञान अनुमिति का असाधारण कारण है। प्रमात्मक अनुमिति में विद्यमान अनुमितित्वरूप-कार्यत्वव्याप्यधर्मावच्छिन्न का परामर्शरूप व्यापार द्वारा कारण होने से व्याप्तिज्ञान को अनुमान प्रमाण कहा जाता है। उसे स्वतन्त्र प्रमाण इसलिये मानना आवश्यक होता है कि इससे ऐसी प्रमा का जन्म होता है जो प्रत्यक्ष, शब्द अथवा उपमान प्रमाण से नहीं उत्पन्न हो सकती है। जैसे जिसने चत्वर, गोष्ठ, महानस आदि में अनेक बार धूम के साथ वह्नि का साहचर्य देखकर 'यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्नि —जहाँ जहाँ धुआँ है वहाँ वहाँ आग रहती है' इस प्रकार 'धूमः वह्निव्याप्यः-धूम वह्नि का व्याप्य है' ऐसा निश्चय प्राप्त कर लिया है वह व्यक्ति जब कभी दूर से पर्वत के मध्यभाग से उठती हुई अविच्छिन्न धूम की माला देखता है तब उसे 'धूमो वह्निव्याप्यः' इस प्रकार धूम में वह्नि की व्याप्ति का स्मरण होकर 'पर्वतः वह्निव्याप्यधूमवान्' इस परामर्श से 'पर्वतः वह्निमान्' इस प्रकार की बुद्धि का उदय होता है। पर्वत में वह्नि की यह बुद्धि प्रत्यक्षप्रमाण-द्वारा सम्भव नहीं हो सकती क्योंकि इन्द्रियों को ही प्रत्यक्ष प्रमाण कहा जाता है और इन्द्रियाँ सन्निकृष्ट अर्थ का ही ग्राहक होती हैं। उक्त स्थल में वह्नि के साथ चक्षु का सन्निकर्ष नहीं है। उक्त बुद्धि शब्द प्रमाण से भी सम्भव नहीं है क्योंकि उस समय उस व्यक्ति को 'पर्वतो वह्निमान्' ऐसे किसी शब्द का ज्ञान नहीं है। उक्त बुद्धि उपमान प्रमाण से भी संभव नहीं है क्योंकि सादृश्य अथवा वैसादृश्य के ज्ञान को ही उपमान प्रमाण कहा जाता है। तथा उसका विषय केवल शब्दार्थ का सम्बन्ध मात्र ही होता है, जैसा

कि उदयनाचार्य ने न्यायकुसुमाञ्जलि में कहा है–

"सम्बन्धस्य परिच्छेदः संज्ञायाः संज्ञिना सह" ।

उक्त मूलग्रन्थ से जिस व्याप्ति के स्वरूप का निरूपण प्रारम्भ किया गया है उसे तटस्थ लक्षण द्वारा इस प्रकार बताया जा सकता है— 'परामर्श में विद्यमान अनुमितिजनकता की अनतिरिक्तवृत्ति जो हेतु-निरूपित-विशेष्यित्व से अवच्छिन्न प्रकारिता, उस प्रकारिता का निरूपक जो पदार्थ, वह व्याप्ति है । जैसे 'पर्वतो वह्निव्याप्यधूमवान्' इस परामर्श में 'पर्वतो वह्निमान्' इस अनुमिति की जनकता है, उस जनकता का अनतिरिक्तवृत्ति अर्थात् वह जनकता जिस ज्ञान में नहीं है उसमें न रहने वाली हेतुविशेष्यित्वावच्छिन्नप्रकारिता है धूमविशेष्यित्वाछिन्न वह्निव्याप्ति-निरूपितप्रकारिता, उस प्रकारिता का निरूपक पदार्थ है वह्निव्याप्ति ।

आशय यह है कि 'साध्यव्याप्यहेतुमान् पक्षः' इस परामर्श में साध्यनिरूपित व्याप्ति हेतु में प्रकार है और हेतु पक्ष में प्रकार है । इस प्रकार हेतु में दो विषयतायें हैं—(१) साध्यव्याप्तिनिष्ठ-प्रकारता-निरूपित विशेष्यता एवं (२) पक्षनिष्ठविशेष्यता से निरूपित प्रकारता । एकज्ञानीय समानाधिकरण विषयताओं में अवच्छेद्यावच्छेदकभाव अथवा तादात्म्य होता है । एवं जिन विषयताओं में निरूप्यनिरूपकभाव होता है अथवा अवच्छेद्यावच्छेदकभाव किंवा तादात्म्य होता है उनसे निरूपित विषयिताओं में अवच्छेद्यावच्छेदकभाव होता है। विषयता स्वरूपसम्बन्ध से विषय का और निरूपकत्व सम्बन्ध से ज्ञान का धर्म होती है एवं विषयिता स्वरूपसम्बन्ध से ज्ञान का और निरूपकत्व सम्बन्ध से विषय का धर्म होती है । इन बातों को दृष्टि में रखकर उक्त परामर्श का परिचय इस प्रकार दिया जा सकता है 'साध्यव्याप्तिनिरूपितप्रकारित्वावच्छिन्न-हेतुनिरूपितप्रकारित्वावच्छिन्न-पक्षनिरूपितविशेष्यितावान् निश्चय' । इस प्रकार का जो भी निश्चय होता है उसमें 'पक्षः साध्यवान्' इस अनु-मिति की जनकता अवश्य होती है, अतः इस ज्ञान में जो हेतुनिरूपित-विशेष्यित्वावच्छिन्न साध्यव्याप्तिनिरूपितप्रकारिता होगी वह अनुमिति-जनकता का अनतिरिक्तवृत्ति अर्थात् अनुमितिजनकताशून्य में अवृत्ति होगी, एवं उस प्रकारिता का निरूपक होगी साध्यनिरूपित व्याप्ति । इस प्रकार व्याप्ति के तटस्थ लक्षण से व्याप्ति पदार्थ का बोध होने पर उसके

स्वरूप की जिज्ञासा होती है। उसी स्वरूप का निरूपण उक्त मूलग्रन्थ से आरम्भ किया गया है। आरम्भ का अर्थ है आद्यकृति, तदनुसार उक्त ग्रन्थ को कृति व्याप्तिस्वरूप के निरूपण की आद्यकृति है। इस कथन से स्पष्ट है कि मूलग्रन्थकार ने प्रस्तुत ग्रन्थ के पूर्व व्याप्तिस्वरूप के विषय में कुछ नहीं कहा है। उसके विषय में उक्तग्रन्थ मूलकार का प्रथम कथन है।

'अनुमितिहेतु' शब्द का अर्थ है 'अनुमान में प्रामाण्य की अनुमिति का कारण'। अनुमान में प्रामाण्य की अनुमिति का आकार है 'अनुमान' प्रमाणम्'। यह अनुमिति प्रमितिकरणतावच्छेदकधर्मरूप हेतु से होती है। अतः इस हेतु में प्रामाण्य की व्याप्ति का ज्ञान उसका हेतु है। उसका आकार होता है 'प्रमितिकरणतावच्छेदकधर्मः प्रामाण्यव्याप्यः'। इस ज्ञान के विषयभूत व्याप्ति का ही स्वरूप उक्त मूल ग्रन्थ द्वारा जिज्ञासित हुआ है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रस्तुत ग्रन्थ के पूर्व मूलकार ने अनुमान में प्रामाण्य की सिद्धि की है और वह सिद्धि अनुमान द्वारा ही संभव है। क्योंकि जो विद्वान् अनुमान को प्रमाण नहीं मानते उनकी दृष्टि से अप्रामाण्य और जो अनुमान को प्रमाण मानते हैं उनकी दृष्टि से प्रामाण्य, इन दोनों के संभव होने से अनुमान में प्रामाण्य और अप्रामाण्य का सन्देह होता है। इस सन्देह की अवस्था में अनुमान में प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य का प्रत्यक्ष निश्चय नहीं हो सकता, क्योंकि संशय प्रत्यक्ष का विरोधी होता है। अतः जो विद्वान् अनुमान को प्रमाण नहीं मानते उन्हें भी अनुमान में अप्रामाण्य का साधन करने के लिए अनुमान की ही शरण लेनी पड़ती है। मूलकार अनुमान को प्रमाण मानते हैं अतः अनुमान में प्रामाण्यको सिद्ध करने के लिए उन्हें इस प्रकार के अनुमान का प्रयोग करना होता है 'अनुमानं प्रमाणम्, प्रमितिकरणतावच्छेदकधर्मवत्त्वात्-अनुमान प्रमाण है, क्योंकि प्रमितिकरणता का अवच्छेदक धर्म उसमें विद्यमान है'। जिस जिसमें प्रमितिकरणता का अवच्छेदक धर्म होता है वह प्रमाण होता है जैसे प्रत्यक्षप्रमाण। प्रकृत में प्रमिति शब्द से सर्वांश में प्रमात्मक अनुमिति को लिया जा सकता है उसके प्रति व्याप्तिज्ञान व्याप्तिज्ञानत्वरूप से करण होता है, अतः प्रमितिकरणता का अवच्छेदक धर्म व्याप्तिज्ञानत्व होगा। वह व्याप्तिज्ञानरूप अनुमान में रहता है। प्रमितिकरणतावच्छेदकधर्मरूप हेतु में सर्वांश में प्रमिति का निवेश है, अन्यथा अंशभेद से भ्रम-प्रमा उभयरूप ज्ञान को लेकर उस ज्ञान का

करणतावच्छेदक धर्म भ्रमात्मक ज्ञान में प्रामाण्य का व्यभिचारी हो जायगा। एवं उक्त हेतु में करणतावच्छेदक का अर्थ है करणता का अनतिरिक्तवृत्ति, अन्यथा अनुमितिप्रमा के प्रति भ्रम-प्रमा उभयविध व्याप्तिज्ञान के कारण होने से प्रमितिकरणतावच्छेदकधर्म शब्द से भ्रम-प्रमा उभयसाधारण धर्म को लेकर भ्रमात्मक ज्ञान में प्रामाण्य का व्यभिचार प्रसक्त होगा। इस प्रकार मूलग्रन्थकार ने अनुमान में प्रामाण्य की अनुमिति जिस हेतु से की है उस प्रमितिकरणतावच्छेदकधर्मरूपहेतु में प्रामाण्यरूप साध्य की व्याप्ति का ज्ञान अनुमान में प्रामाण्य की अनुमिति का हेतु है। प्रस्तुत ग्रन्थ से व्याप्ति के स्वरूप का प्रतिपादन करना है अन्यथा व्याप्ति के दुर्वच होने पर अनुमान में प्रामाण्य की सिद्धि संभव न होने से पूर्वग्रन्थ द्वारा अनुमान में प्रामाण्य साधन का मूलग्रन्थकार का प्रयत्न निरर्थक होगा।

व्याप्तिज्ञान को अनुमान में प्रामाण्य की अनुमिति का हेतु कहने से यह विदित होता है कि व्याप्ति अनुमानप्रामाण्य का उपपादक है। अतः अनुमानप्रामाण्य के निरूपण के अनन्तर व्याप्ति के निरूपण में उपोद्घात संगति है, क्योंकि उपपादकत्व को ही उपोद्घात कहा जाता है और व्याप्ति में अनुमानप्रामाण्य का उपपादकत्व स्पष्ट है क्योंकि उपपादकत्व का अर्थ है ज्ञापकत्व, और ज्ञापकत्व का अर्थ है–ज्ञानप्रयोजकत्व। अनुमान में प्रामाण्य का जो अनुमित्यात्मक ज्ञान होता है उसका जनक व्याप्ति-ज्ञान है। कारणीभूत ज्ञान का विषय ज्ञाननिष्ठ कारणता का अवच्छेदक होता है और कारणतावच्छेदक को कार्य का प्रयोजक कहा जाता है। अतः व्याप्तिज्ञान के अनुमान में प्रामाण्यानुमिति का कारण होने से व्याप्ति अनुमानप्रामाण्य के अनुमित्यात्मक ज्ञान का प्रयोजक है। मूलग्रन्थ-कार ने इस संगति की सूचना इसलिए दी है जिससे अनुमानप्रामाण्य के निरूपण को सुनने के बाद व्याप्तिस्वरूप के निरूपण में श्रोता की प्रवृत्ति हो सके।

संगति का प्रदर्शन न करने पर व्याप्तिस्वरूप के निरूपण में अनुमान-प्रामाण्य के निरूपण की कोई संगति नहीं है इस प्रकार का भ्रम होने से व्याप्तिस्वरूप के निरूपण से श्रोता का वैमुख्य संभावित है। अतः इस वैमुख्य का निराकरण करने के लिए संगति का निर्देश किया गया है।

केचित्तु अनुमितिपदम् अनुमितिनिष्ठेतरभेदानुमितिपरम्, तथा चानुमितिनिष्ठेतरभेदानुमितौ यो हेतुः प्रागुक्तव्याप्तिप्रकारकपक्षधर्मताज्ञानजन्यज्ञानत्वरूपः, तद्घटकं यद्व्याप्तिज्ञानं, तदंशे विशेषणीभूता व्याप्तिः का ? इत्यर्थः, घटकत्वार्थकसप्तम्या तत्पुरुषसमासात्, तथा च प्रागुक्तानुमितिलक्षणोपोद्घात एव सङ्गतिः अनेन सूचिता इत्याहुः ।

कतिपय विद्वान् उक्त मूलग्रन्थ में आये हुए अनुमितिपद का 'अनुमिति में इतरभेद की अनुमिति' अर्थ करते हैं और अनुमितिपद का हेतुपद के साथ सप्तमी तत्पुरुष और हेतु पद को घटकत्व[1] रूप अर्थ के बोधक सप्तमी विभक्ति से युक्त मानकर उसका व्याप्तिज्ञान शब्द के साथ तत्पुरुष समास मानते हैं। अतः उक्त मूलग्रन्थ का अर्थ होता है 'अनुमिति में इतरभेद की अनुमिति का हेतुभूत जो पूर्वोक्त व्याप्तिप्रकारक पक्षधर्मताज्ञानजन्यज्ञानत्वरूप अनुमितिलक्षण, उसके घटक व्याप्तिज्ञान के ज्ञानांश में विशेषणीभूत व्याप्ति क्या है' ? इस व्याख्या के अनुसार यह सूचित होता है कि अनुमितिलक्षण के निरूपण के अनन्तर जो व्याप्ति का निरूपण किया गया है उसमे अनुमिति लक्षण की उपोद्घात संगति है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के पूर्व अनुमितिप्रकरण में तत्त्वचिन्तामणिकार ने अनुमिति का यह लक्षण बताया है 'व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानजन्यं ज्ञानमनुमितिः—पक्ष में व्याप्तिविशिष्ट हेतु के सम्बन्ध को विषय करने वाले ज्ञान से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह अनुमिति है'। जैसे 'पर्वतो वह्निव्याप्यधूमवान्' यह ज्ञान पर्वतरूप पक्ष में वह्निव्याप्तिविशिष्ट धूम के संयोग सम्बन्ध का ग्राहक होने से 'व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानरूप' है। उससे उत्पन्न होने वाला 'पर्वतो वह्निमान्' यह ज्ञान अनुमिति है। इस लक्षण से अनुमितिरूप लक्ष्य में अनुमिति से इतर पदार्थों के भेद की

---

१. घटकत्वः—'यत्र यदविषयकप्रतीतिविषयत्वाभावः स तत्र घटकः' अर्थात् जिसको छोड़कर जिसकी प्रतीति न हो वह उसका घटक होता है, जैसे रक्तदण्ड का घटक रक्तत्त्व और दण्डत्व होता है, क्योंकि रक्तत्व और दण्डत्व को छोड़कर रक्तदण्ड की प्रतीति नहीं होती है। प्रकृत में व्याप्तिपदार्थ -व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानजन्यज्ञानत्वरूप अनुमितिलक्षण का घटक है, क्योंकि जो ज्ञान व्याप्तिविषयक नहीं होता है वह व्याप्तिघटित उक्त ज्ञानत्व को विषय नहीं करता।

अनुमिति होती है। उक्त अनुमिति के लिए अनुमान का प्रयोग इस प्रकार होता है 'अनुमितिः इतर (अनुमितीतर) भिन्ना व्याप्तिविशिष्टपक्ष-धर्मताज्ञानजन्यज्ञानत्वात्, या न इतर (अनुमितीतर) भिन्ना सा न व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानजन्या, यथा प्रत्यक्षाद्यात्मिका बुद्धिः-अनुमिति, अनुमिति से भिन्न सभी पदार्थों से भिन्न है क्योंकि वह व्याप्ति-विशिष्टपक्षधर्मताज्ञान से जन्य ज्ञान है। जो अनुमितीतर से भिन्न नहीं है वह व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानजन्यज्ञानरूप नहीं है, जैसे प्रत्यक्षादि बुद्धि। उक्त अनुमिति में अनुमिति पक्ष है, अनुमितीतरभेद साध्य है और व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानजन्यज्ञानत्व हेतु है। इस प्रकार उक्त ग्रन्थ में अनुमितिपद से अनुमिति में अनुमितीतरभेद की अनुमिति को ग्रहण करने पर उस अनुमिति में व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानजन्यज्ञानत्वरूप अनुमिति का लक्षण हेतु होता है। इस लक्षण की कुक्षि में व्याप्तिज्ञान प्रविष्ट है और उस ज्ञान में विषयविधया व्याप्ति विशेषण है, इस विशेषण के ज्ञान के विना अनुमिति के उक्त लक्षणरूप हेतु का ज्ञान नहीं हो सकता। अतः अनुमिति का लक्षण बताकर जब उसमें अनुमितिलक्षणत्व की उपपत्ति के लिए लक्षणरूप हेतु से अनुमिति में इतरभेद की अनुमिति के लिए अपेक्षित उक्त अनुमान का प्रयोग होता है तब उक्त लक्षणरूप हेतु के ज्ञान के लिए उसकी कुक्षि में प्रविष्ट व्याप्ति की जिज्ञासा स्वभावतः उत्थित होती है, उसी जिज्ञासा को उक्त मूलग्रन्थ से प्रस्तुत किया गया है। उक्त जिज्ञासा की निवृत्ति व्याप्तिस्वरूप के निरूपण से ही हो सकती है। अतः प्रस्तुत ग्रन्थ से व्याप्तिस्वरूप के निरूपण का आरम्भ किया गया है। व्याप्ति अनुमितिलक्षण का घटक है अत एव अनुमितिलक्षण का उपपादक-ज्ञापक है। अतः अनुमितिलक्षण के निरूपण के बाद व्याप्तिनिरूपण में उपोद्घात संगति स्पष्ट है।

मथुरानाथ ने 'न तावत्' आदि मूलग्रन्थ के सन्दर्भ में मूलस्थ 'तावत्' पद के सम्बन्ध में यह कहा है कि इस पद का कोई अर्थ विवक्षित नहीं है, किन्तु यह वाक्य की शोभा का आधायक है। उनके कहने का आशय है कि 'तावत्' शब्द का प्रयोग न कर केवल 'नाऽव्यभिचरितत्त्वम्' कहने पर वाक्य के उच्चारण में चारुता और सुनने में सौष्ठव नहीं आता है, क्योंकि उच्चारण करते समय तत्काल ही संयुक्त वर्ण का प्रयोग होने से उच्चारण अचारु हो जाता है और जब उच्चारण अचारु हुआ तो अचारु उच्चारण

न तावदव्यभिचरितत्वम्, तद्धि न साध्याभाववदवृत्तित्वम्, साध्यवत्प्रतियोगिकान्योन्याभावासामानाधिकरण्यम्, सकलसाध्याभाववन्निष्ठाभावप्रतियोगित्वम्, साध्यवदन्यावृत्तित्वं वा केवलान्वयिन्यभावात् ।

'न तावदिति'। 'तावत्' वाक्यालङ्कारे। 'अव्यभिचरितत्वम्' अव्यभिचरितत्वपदप्रतिपाद्यम्; तत्र हेतुमाह-तद्धीत्यादि। हि-यस्मात्, तत् अव्यभिचरितत्वपदप्रतिपाद्यम्; नेति, सर्वस्मिन्नेव लक्षणे सम्बध्यते, तथा च व्याप्तिर्यतः साध्याभाववदवृत्तित्वादिरूपाव्यभिचरितत्वशब्दप्रतिपाद्यस्वरूपा न, अतोऽव्यभिचरितत्वशब्दप्रतिपाद्यरूपा न इत्यर्थः पर्य्यवसितः, विशेषाभावकूटस्य सामान्याभावहेतुता च प्रसिद्धा एवेति, अत एव नञ्द्वयोपादानं न निरर्थकम् ।

से उत्पन्न वाक्य के श्रवण का समीचीन न होना स्वाभाविक है। अतः 'तावत्' पद का प्रयोग कर मूलकार ने वाक्य की मनोहारिता और श्रवण की सुखप्रदता का सम्पादन कर दिया है। मूल में आये अव्यभिचरितत्व का अर्थ है 'अव्यभिचरितत्व पद से प्रतिपाद्य' अर्थात् अव्यभिचरितत्व-पदजन्य बोध का विषय। अतः 'न तावदव्यभिचरितत्वम्' इस ग्रन्थभाग का तात्पर्य यह है कि व्याप्तिस्वरूप अव्यभिचरितत्वपद से प्रतिपाद्य नहीं है। इस कथन के समर्थन में मूलकार ने 'तद्धि न साध्याभाववदवृत्तित्वम्' से लेकर 'साध्यवदन्यावृत्तित्वं वा' इस भाग तक के ग्रन्थ से हेतु का प्रतिपादन किया है। वह हेतु है साध्याभाववदवृत्तित्व, साध्यवद्भिन्न-साध्याभाववदवृत्तित्व, साध्यवत्प्रतियोगिकाऽन्योन्याभावासामानाधिकरण्य, सकलसाध्याभाववन्निष्ठाभावप्रतियोगित्व और साध्यवदन्यावृत्तित्व-इन पाँचों में प्रत्येक का सम्मिलित भेद। उक्त ग्रन्थ से इस हेतु का लाभ 'तद्धि न' के नञ् पद का उक्त प्रत्येक लक्षण के साथ सम्बन्ध होने से निष्पन्न होता है।

व्याप्ति में इन पाँचों लक्षणों में प्रत्येक के मिलितभेदरूप हेतु को सिद्ध करने के लिए मूलकार ने 'केवलान्वयिन्यभावात्' इस ग्रन्थ से केवलान्वयिसाध्यक हेतु में प्रत्येक लक्षण के अभाव को हेतु बताया है। इस प्रकार उक्त पूरे ग्रन्थ का तात्पर्य यह है कि व्याप्ति का स्वरूप अव्यभिचरितत्व

पद के प्रतिपाद्य अर्थ से भिन्न है, क्योंकि अव्यभिचरितत्वपद के साध्याभाववदवृत्तित्व आदि पाँच ही अर्थ संभव हैं और व्याप्ति का स्वरूप उन पाँचों में प्रत्येक से भिन्न है क्योंकि उक्त पाँचों ही लक्षणों का केवलान्वयि साध्यक हेतु में—प्रमेयत्वादिसाध्यक वाच्यत्वादि हेतु में अभाव-अव्याप्ति है, वह इसलिये कि अव्यभिचरितत्वपद के उक्त पाँचों प्रतिपाद्यों में किसी में साध्याभाव और किसी में साध्यवद्भेद का प्रवेश होने से केवलान्वयिसाध्यक स्थल में साध्याभाव और साध्यवद्भेद से घटित लक्षण अप्रसिद्ध है। उक्त लक्षणों के भेदपञ्चक से व्याप्तिस्वरूप में अव्यभिचरितत्वपदप्रतिपाद्य के भेद की सिद्धि में अप्रयोजकत्व की शंका नहीं की जा सकती क्योंकि विशेषाभावकूट में सामान्याभाव की साधकता प्रसिद्ध है। यतः किसी भी विशेषाभावकूट को यदि सामान्याभाव का व्यभिचारी माना जायगा तो 'यः यदीयविशेषाभावकूटवान् स तत्सामान्याभाववान्—जो जिस वस्तु के विशेषाभावकूट का आश्रय होता है वह उसके सामान्याभाव का भी आश्रय होता है' इस सर्वसम्मत व्याप्ति का लोप हो जायगा। अतः केवलान्वयिसाध्यक सद् हेतु में साध्याभाववदवृत्तित्व आदि लक्षणों के अव्याप्त होने से, व्याप्ति को, जो केवलान्वयिसाध्यक सद्हेतु में भी रहती है, उसे साध्याभाववदवृत्तित्व आदि प्रत्येक लक्षण से भिन्न होना अनिवार्य है, और व्याप्ति जब साध्याभाववदवृत्तित्व आदि सभी अव्यभिचरितत्वपदप्रतिपाद्यों से भिन्न है तो उसका अव्यभिचरितत्वपदप्रतिपाद्यसामान्य से भिन्न होना अनिवार्य है क्योंकि उक्त पाँचों लक्षणों से अतिरिक्त अव्यभिचरितत्व पद से प्रतिपाद्य संभव नहीं है।

यह निष्कर्ष 'न तावदव्यभिचरितत्वम्' इस वाक्य के मध्य में प्रयुक्त 'न' पद एवं 'तद्धि न साध्याभाववदवृत्तित्वम्' इत्यादि वाक्य के मध्य में प्रयुक्त 'न' पद से लब्ध होता है। क्योंकि प्रथम 'न' पद के अर्थ का अव्यभिचरितत्वपद के अर्थ अव्यभिचरितत्वपदप्रतिपाद्य के साथ अन्वय होने से 'अव्यभिचरितत्वपदप्रतिपाद्यसामान्यभेदरूप' साध्य का लाभ होता है, और दूसरे नञ् पद का साध्याभाववदवृत्तित्व आदि प्रत्येक लक्षण के साथ सम्बन्ध होने से साध्याभाववदवृत्तित्व आदि प्रत्येक के भेदपञ्चक रूप हेतु का लाभ होता है। इस प्रकार उक्त मूलग्रन्थ से यह अर्थ निकलता है कि अनुमिति के हेतु व्याप्तिज्ञान का विषयभूत व्याप्ति

साध्याभाववदवृत्तित्वम् इति । वृत्तम् वृत्तिः, भावे निष्ठाप्रत्ययात्; वृत्तस्याभावः अवृत्तम्, वृत्त्यभाव इति यावत्, साध्याभाववतोऽवृत्तं साध्याभाववदवृत्तम्, साध्याभाववद्वृत्त्यभाव इति यावत्, तद् यत्रास्ति स साध्याभाववदवृत्ती मत्वर्थीयेन्प्रत्ययात्, तस्य भावः साध्याभाववदवृत्तित्वम्, तथा च साध्याभाववद्वृत्त्यभाववत्त्वमिति फलितमिति प्राञ्चः ।

क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में उक्त मूलग्रन्थ से यह अभिहित होता है कि व्याप्ति अव्यभिचरितत्त्वरूप नहीं है; क्योंकि वह साध्याभाववदवृत्तित्व आदि पञ्चविध अव्यभिचरितत्त्व पदार्थों से भिन्न है। व्याप्ति केवलान्वयि साध्यक सद्हेतु में भी रहती है और अव्यभिचरितत्व पद के उक्त पञ्चविध प्रतिपाद्य केवलान्वयिसाध्यक सद् हेतु में नहीं रहते ।

साध्याभाववदवृत्तित्व लक्षण की प्राचीननैयायिक-सम्मत व्याख्या को प्रस्तुत करते हुए मथुरानाथ ने यह कहा है कि उक्त लक्षणवाक्य में साध्याभाववत् शब्द का 'अव्ययीभाव अवृत्त' शब्द के साथ तत्पुरुष समास है, और इस अव्ययीभावान्त तत्पुरुष समासशब्द से इन् प्रत्यय करके साध्याभाववदवृत्तिन् शब्द बना है और उससे भाव अर्थ में 'त्व' प्रत्यय करने से 'साध्याभाववदवृत्तित्व' शब्द बना है। इस कथन का स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने लिखा है कि वृत् धातु से भाव में निष्ठा 'क्त' प्रत्यय करने से वृत्त शब्द बना है, इसका अर्थ है वृत्ति। वृत्तस्य अभावः इस अर्थ में नञ् पद के साथ वृत्त शब्द का समास होने से अवृत्त शब्द बना है और उसका अर्थ है 'वृत्त्यभाव' एवं 'साध्याभाववतः अवृत्तं' इस अर्थ में अव्ययीभावान्त तत्पुरुष समास द्वारा 'साध्याभाववदवृत्त' शब्द बना है, इसका अर्थ है 'साध्याभाववन्निरूपितवृत्त्यभाव और 'साध्याभाववदवृत्तम् अस्ति यत्र' इस अर्थ में मत्त्वर्थीय इन् प्रत्यय करने से 'साध्याभाववदवृत्तिन्' शब्द बना है और 'तस्य भावः' इस अर्थ में उक्त शब्द से त्व प्रत्यय करने से 'साध्याभाववदवृत्तित्व' शब्द बना है और उसका फलितार्थ है 'साध्साभाववन्निरूपितवृत्त्यभाव'। 'वह्निमान् धूमात्' इस स्थल में धूम में इस लक्षण का समन्वय इस प्रकार होता है। साध्य है वह्नि, साध्याभाव है वह्न्यभाव, साध्याभाववान् अर्थात् वह्न्यभाव का आश्रय है जलह्रद आदि, तन्निरूपित वृत्ति मीन, शैवाल आदि में है और उसका अभाव धूम में है। इस प्रकार धूम में वह्नि की साध्याभाववदवृत्तित्वरूप व्याप्ति का समन्वय होता है।

तदसत्; 'न कर्मधारयान्मत्वर्थीयो बहुव्रीहिश्चेत्तदर्थप्रतिपत्तिकरः' इत्यनुशासनविरोधात् । तत्र कर्मधारयपदस्य बहुव्रीहीतरसमासपरत्वात्, तच्च अगुणवत्त्वमिति साधर्म्यव्याख्यानावसरे गुणप्रकाशरहस्ये तद्दीधिति-रहस्ये च स्फुटम्, अव्ययीभावोत्तरपदार्थेन समं तत्समासानिविष्टपदार्थान्तरान्वयस्याव्युत्पन्नत्वात् यथा भूतल-उपकुम्भं भूतलेऽघटमित्यादौ भूतलवृत्तिघटसमीप-तदत्यन्ताभावयोः अप्रतीतेः ।

'धूमवान् वह्नेः' इस स्थल में वह्नि धूमका व्यभिचारी (अव्याप्य) है । उसमें इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी क्योंकि उक्त स्थल में साध्य है धूम, साध्याभाव है धूमाभाव, साध्याभाववान् है तप्त अयःपिण्ड तन्निरूपितवृत्ति वह्नि में है, उसका अभाव उसमें नहीं है ।

मथुरानाथ ने 'साध्याभाववदवृत्तित्वम्' इस व्याप्तिलक्षण के प्राचीन सम्मत उक्त व्याख्या को यह कहकर असंगत बताया है कि साध्याभाववदवृत्त शब्द से मत्त्वर्थीय इन् प्रत्यय शब्दशास्त्रीय अनुशासन के विरुद्ध है । शब्दशास्त्रीय अनुशासन यह है कि 'न कर्मधारयान्मत्त्वर्थीयः बहुव्रीहिश्चेत्तदर्थप्रतिपत्तिकरः' कर्मधारय समास से मत्त्वर्थीय प्रत्यय करने पर जो अर्थ प्राप्त होता है वह यदि समासघटक पदों का बहुव्रीहि समास करने से उपलब्ध हो सके तो कर्मधारय समास से मत्त्वर्थीय प्रत्यय नहीं होता है । इसीलिए पीताम्बरसम्बन्धी अर्थ में पीताम्बरवान् यह प्रयोग साधु नहीं होता है क्योंकि पीताम्बरवान् शब्द पीताम्बर इस कर्मधारय से मतुप् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है और उस शब्द से प्राप्त होने वाला पीताम्बरसम्बन्धीरूप अर्थ पीताम्बर इस कर्मधारय समास के घटक पीत और अम्बर शब्द का पीतम् अम्बरं यस्य, इस व्युत्पत्ति के अनुसार बहुव्रीहि समास करने पर पीताम्बर इस शब्द से उपलब्ध हो जाता है ।

प्रकृत में 'साध्याभाववदवृत्त' इस शब्द से मत्त्वर्थीय इन् प्रत्यय करके साध्याभाववदवृत्ति यह शब्द बनाया गया है । उसका अर्थ है साध्याभाववन्निरूपितवृत्त्यभाव का आश्रय । किन्तु यह अर्थ 'साध्याभाववतः अवृत्तिः यत्र' इस प्रकार के बहुव्रीहि समास से अथवा 'साध्याभाववतो न वृत्तिःयत्र, इस बहुव्रीहि समास से लब्ध हो सकता है । अतः उक्त अनुशासन से विरुद्ध होने के कारण 'साध्याभाववदवृत्त' इस समस्त शब्द से मत्त्वर्थीय इन् प्रत्यय नहीं हो सकता, क्योंकि उक्त अनुशासन में

कर्मधारय पद बहुव्रीहीतर समासपरक है, अतः उसका अर्थ यह होता है कि जिस समास के उत्तर मत्त्वर्थीय प्रत्यय करने से प्राप्त होने वाला अर्थ बहुव्रीहि समास से अवगत हो सकता है उस समास से मत्त्वर्थीय प्रत्यय नहीं होता है।

उक्त व्याख्यान में 'साध्याभाववतः-अवृत्तम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार अवृत्त शब्द के साथ साध्याभाववत् शब्द का पञ्चमी तत्पुरूष समास किया गया है। अतः 'साध्याभाववदवृत्त' यह शब्द पञ्चमी तत्पुरूष से सम्पन्न है। उस शब्द से मत्त्वर्थीय इन् प्रत्यय करने से प्राप्त होने वाला 'साध्याभाववन्निरूपितवृत्यभाववान्' रूप अर्थ उक्त बहुव्रीहि समास से लब्ध हो जाता है। अतः उक्त मत्त्वर्थीय इन् प्रत्यय की संगति नहीं हो सकती। उक्त अनुशासन वाक्य में कर्मधारय पद यथाश्रुतार्थक नहीं है, किन्तु बहुव्रीहिभिन्नसमासपरक है यह बात 'गुणप्रकाशरहस्य' नामक ग्रन्थ में और 'गुणदीधितिरहस्य' नामक ग्रन्थ में गुण आदि पदार्थों के अगुणवत्त्व रूप साधर्म्य का व्याख्यान करते हुए स्पष्ट की गई है।

आशय यह है कि अगुणवत्त्व शब्द की दो व्याख्यायें हो सकती हैं— प्रथम है 'गुणस्य अभावः अगुणम्, अगुणमस्ति अस्य इति अगुणवान्, तस्य भावः अगुणवत्त्वम्'। दूसरी है 'गुणाः सन्ति येषु ते गुणवन्तः, न गुणवन्तः इति अगुणवन्तः तेषां भावः अगुणवत्त्वम्' अथवा 'गुणवतो भावो गुणवत्त्वम्, तस्य अभावः अगुणवत्त्वम्'। द्वितीय व्याख्या में प्रथमव्युत्पत्ति के अनुसार अगुणवत्त्व शब्द का अर्थ होता है गुणवद्भिन्नत्व और दूसरी व्युत्पत्ति के अनुसार उसका अर्थ होता है गुणसम्बन्धाभाव या गुणाधिकरणत्वाभाव। इन व्याख्याओं में प्रथम व्याख्या की उपेक्षा उक्त ग्रन्थों में यह कहकर की गई है कि इस व्याख्या में 'अगुण' इस अव्ययीभाव समास से मतुत् प्रत्यय करना होता है जो 'न कर्मधारयान्मत्त्वर्थीय' इस अनुशासन से विरूद्ध है। प्रथम व्याख्या की उपेक्षा का यह कारण तभी सम्भव हो सकता है जब उक्त अनुशासन में कर्मधारय शब्द को बहुव्रीहीतरसमासपरक माना जाय। अतः उक्त कारण से प्रथम व्याख्या का परित्याग करने से यह स्पष्ट है कि उक्त अनुशासन में कर्मधारय पद बहुव्रीहीतरसमासपरक है।

व्याप्तिलक्षण की प्राचीनसम्मत उक्त व्याख्या को अस्वीकार करने का मथुरानाथ ने एक और कारण बताया है। वह कारण यह है कि

एतेन वृत्तेरभावोऽवृत्तीत्यव्ययीभावानन्तरं साध्याभाववतोऽवृत्ति यत्रेति बहुव्रीहिरित्यपि प्रत्युक्तम्, वृत्तौ साध्याभाववतोऽनन्वयापत्तेः, अव्ययीभावसमासस्याव्ययतया तेन समं समासान्तरासम्भवाच्च, नञुपाध्यादिरूपाव्ययविशेषाणामेव समस्यमानत्वेन परिगणितत्वात् ।

उक्त व्याख्या में 'वृत्तस्य अभावः' इस अर्थ में 'नञ' पद और 'वृत्त' पद का अव्ययीभाव समास करके 'अवृत्त' शब्द बनाया गया है और उसके साथ 'साध्याभाववत्' शब्द का पञ्चमीतत्पुरुष समास किया गया है; किन्तु यह प्रक्रिया संगत नहीं है, क्योंकि इसमें 'अवृत्त' इस अव्ययीभाव समास के घटक 'वृत्त' शब्द के अर्थ के साथ साध्याभाववत् शब्द के अर्थ 'साध्याभाववन्निरूपितत्व' का स्वरूप सम्बन्ध से अथवा 'साध्याभाववन्निरूपित' रूप अर्थ का तादात्म्य सम्बन्ध से अन्वय किया जाता है; किन्तु यह संभव नहीं है, क्योंकि अव्ययीभाव समास के उत्तर पदार्थ के साथ अव्ययीभाव समास में अप्रविष्ट पद के अर्थ का अन्वय अमान्य है, क्योंकि 'भूतलोपकुम्भ' इस शब्द से 'उपकुम्भ' इस अव्ययीभाव समास के उत्तर पदार्थ कुम्भ के साथ भूतल पदार्थ का अन्वय करके 'भूतलवृत्तिकुम्भसमीप' एवं 'भूतला-घटम्' इस शब्द से 'अघट' इस अव्ययीभाव समास के उत्तर पदार्थ घट के साथ भूतल पदार्थ का अन्वय करके 'भूतलवृत्तिघटाभाव' रूप अर्थ की प्रतीति नहीं होती। यदि अव्ययीभाव समास के उत्तर पदार्थ के साथ उस समास में अप्रविष्ट पद के अर्थ का अन्वय मान्य होता तो उक्त प्रतीतियाँ भी अवश्य सम्भव होतीं।

अतः जैसे उक्त शब्दों से उक्त प्रतीतियाँ नहीं होती हैं, उसी प्रकार 'साध्याभाववदवृत्त' शब्द से 'साध्याभाववन्निरूपितवृत्त्यभावरूप' अर्थ की भी प्रतीति नहीं हो सकती।

अव्ययीभाव समास घटक उत्तर पदार्थ के साथ उस समास में अनिविष्ट पदार्थ का अन्वय अव्युत्पन्न है इसीलिए भाव में 'क्तिन्' प्रत्यय से निष्पन्न 'वृत्ति' शब्द का 'वृत्तेः अभावः' इस अर्थ में 'नञ्' पद के साथ अव्ययीभाव समास से 'अवृत्ति' शब्द को सिद्ध कर 'साध्याभाववतः अवृत्ति यत्र' इस प्रकार बहुव्रीहि समास के द्वारा निष्पन्न उक्त व्याप्तिलक्षण की व्याख्या भी निरस्त हो जाती है, क्योंकि इस व्याख्या में भी वृत्तिरूप अर्थ अवृत्ति इस अव्ययीभाव समास के उत्तरावयवभूत 'वृत्ति' शब्द का अर्थ होता है।

वस्तुतस्तु 'साध्याभाववतो न वृत्तिः यत्र' इति त्रिपदव्यधिकरण-बहुव्रीह्युत्तरं त्वप्रत्ययः, साध्याभाववत इत्यत्र निरूपितत्वं षष्ठ्यर्थः, अन्वयश्चास्य वृत्तौ, तथा च साध्याभावाधिकरणनिरूपितवृत्त्यभाववत्त्वम् अव्यभिचरितत्वमिति फलितम्। न च व्यधिकरणबहुव्रीहिः सर्वत्र न साधुरिति वाच्यम्, अयं हेतुः साध्याभाववदवृत्तिरित्यादौ व्यधिकरण-बहुव्रीहिं विना गत्यन्तराभावेन अत्रापि व्यधिकरणबहुव्रीहेः साधुत्वात्।

अतः उसके साथ उस समास के अघटक 'साध्याभाववत्' इस शब्द के अर्थ का अन्वय नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त प्राचीन सम्मत उक्त व्याख्या और इस व्याख्या दोनों में ही यह दोष है कि 'अवृत्त' शब्द एवं 'अवृत्ति' शब्द दोनों ही अव्ययीभावसमास होने से अव्ययरूप हैं, अतः उनके साथ अन्य पद का समासान्तर नहीं हो सकता, क्योंकि शब्दशास्त्र में नञ्, उप, अधि आदि परिगणित अव्ययविशेषों को ही समासयोग्य माना गया है।

व्याप्ति के उक्त लक्षण की वास्तविक व्याख्या इस प्रकार है। उक्त लक्षणवाक्य 'साध्याभाववतः न वृत्तिः यत्र' इस अर्थ में त्रिपद, व्यधिकरण-बहुव्रीहि—विजातीयविभक्तिक तीन पदों की बहुव्रीहि के उत्तर 'त्व' प्रत्यय से निष्पन्न हुआ है। अतः त्व प्रत्यय के प्रकृतिभूत बहुव्रीहि समास से निष्पन्न शब्द के उक्त विग्रहवाक्य में 'साध्याभाववतः' शब्द षष्ठ्यन्त है। उसमें षष्ठी विभक्ति के प्रकृतिभूत 'साध्याभाववत्' शब्द का अर्थ है साध्याभावाधिकरण, उसका अन्वय है षष्ठी विभक्ति के 'निरूपितत्व' रूप अर्थ में और निरूपितत्व का अन्वय है 'वृत्ति' शब्द के वृत्ति रूप अर्थ में, और वृत्ति रूप अर्थ का अन्वय है नञ् पद के 'अभाववत्' रूप लाक्षणिक अर्थ के एक देश अभाव में। अतः साध्याभाववदवृत्ति शब्द का अर्थ है 'साध्याभावाधिकरणनिरूपितवृत्त्यभाववान्' और उस शब्द के उत्तर-वर्ती त्व प्रत्यय का अर्थ है 'साध्याभावाधिकरणनिरूपितवृत्त्यभाव' क्योंकि त्व और तल् प्रत्यय से भाव—प्रकृत्यर्थ के असाधारणधर्म–प्रकृत्यर्थ-तावच्छेदक का बोधक होता है। उक्त वाक्य में त्व प्रत्यय का प्रकृतिभूत शब्द है 'साध्याभाववदवृत्ति' और उसमें विशेषण होने से प्रकृत्यर्थ-तावच्छेदक है साध्याभावाधिकरणनिरूपितवृत्त्यभाव, अत एव वही उक्त लक्षणवाक्य का अर्थ है, जिसका फलित स्वरूप है 'अव्यभि-

साध्याभावाधिकरणवृत्त्यभावश्च तादृशवृत्तिसामान्याभावो बोध्यः। तेन धूमवान् वह्नेरित्यादौ धूमाभाववज्जलह्रदादिवृत्त्यभावस्य धूमाभाववदवृत्तित्वजलत्वोभयत्वावच्छिन्नाभावस्य च वह्नौ सत्त्वेऽपि नातिव्याप्तिः।

चरितत्त्व'। इसका अर्थ है व्यभिचाराभाव। फलतः उक्त लक्षणवाक्य से यह अर्थ बोधित होता है कि साध्याभावाधिकरणनिरूपितवृत्ति है व्यभिचार और उसका अभाव है 'व्यभिचाराभाव' वही उक्त लक्षणवाक्य से प्रतिपाद्य व्याप्ति है।

इस प्रकार को व्याख्या में यदि यह शङ्का की जाय कि यह व्याख्या व्यधिकरण बहुव्रीहि पर आधारित है और व्यधिकरण बहुव्रीहि सर्वत्र साधु नहीं होती, अतः यह व्याख्या असंगत है, तो यह शङ्का उचित नहीं है; क्योंकि 'अयं हेतुः साध्याभाववदवृत्तिः--अमुक हेतु साध्याभाववत् में अवृत्ति है' यह व्यवहार होता है। किन्तु यह व्यवहार 'साध्याभाववत्' शब्द 'नञ्' शब्द और वृत्ति शब्द की 'साध्याभाववतो न वृत्तिः यत्र' इस प्रकार की व्यधिकरण बहुव्रीहि के बिना निष्पन्न नहीं हो सकता। अतः 'साध्याभावदवृत्तिः' इस शब्द की सिद्धि व्यधिकरणबहुव्रीहि के अतिरिक्त किसी अन्य उपाय से सम्भव न होने के कारण इस शब्द में भी व्यधिकरणबहुव्रीहि को साधु मानना समीचीन है।

साध्याभावाधिकरणवृत्त्यभाव शब्द का यथाश्रुत अर्थ है 'साध्याभावाधिकरणनिरूपितवृत्तिप्रतियोगिक अभाव'। इसका समन्वय धूम हेतु में सामान्यतः इस प्रकार होगा—साध्य है वह्नि, साध्याभाव है वह्न्यभाव, उसका अधिकरण है जलह्रद—जल से भरा तालाब, तन्निरूपित वृत्ति है मीन, शैवाल आदि में; उसका अभाव है धूम में। धूमसाध्यक वह्नि हेतु व्यभिचारी है, इसमें इस लक्षण की व्यावृत्ति इस प्रकार होगी—साध्य है धूम, साध्याभाव है धूमाभाव, उसका अधिकरण है अग्नितप्त अयोगोलक-गोलाकार लौहखण्ड, उसमें अग्नि का संयोग होने से तन्निरूपित वृत्ति है वह्नि में। अतः उसमें तन्निरूपितवृत्तिप्रतियोगिक अभाव के न रहने से उसमें धूम की उक्त व्याप्ति का अभाव है।

उक्त लक्षणवाक्य के यथाश्रुत अर्थ के सम्बन्ध में मथुरानाथ का यह कहना है कि साध्याभावाधिकरणनिरूपिवृत्तिप्रतियोगिक अभाव को

व्याप्ति का लक्षण मानना उचित नहीं है, क्योंकि धूमाभावाधिकरण-जलह्रदनिरूपितवृत्त्यभाव और धूमाभावाधिकरणनिरूपितवृत्तिजलोभयाभाव भी साध्याभावाधिकरणनिरूपितवृत्तिप्रतियोगिक अभाव है; क्योंकि प्रथम अभाव का प्रतियोगी धूमाभावाधिकरणजलह्रदनिरूपित वृत्ति भी साध्याभावाधिकरणनिरूपितवृत्ति है एवं द्वितीयाभाव का प्रतियोगी साध्याभावाधिकरणनिरूपित वृत्ति एवं जल उभय है, अतः दोनों अभाव साध्याभावाधिकरणनिरूपितवृत्तिप्रतियोगिक अभाव हैं और वे दोनों वह्नि में विद्यमान हैं। प्रथम अभाव वह्नि में इसलिए है कि उसका प्रतियोगी धूमाभावाधिकरणजलह्रदनिरूपितवृत्ति वह्नि में नहीं है और दूसरा अभाव वह्नि में इसलिए है कि उसमें दूसरे अभाव के धूमाभावाधिकरणनिरूपितवृत्तिरूप प्रतियोगी के वह्नि में रहने पर भी जलरूप प्रतियोगी उसमें नहीं है। उभयाभाव का विरोध उभय प्रतियोगी के साथ ही होता है, केवल एक प्रतियोगी के साथ नहीं होता है; क्योंकि 'एकसत्त्वेऽपि द्वयं नास्ति—एक के रहने पर भी दोनों नहीं हैं' इस प्रकार की प्रतीति सर्वसम्मत है। अतः साध्याभावाधिकरणनिरूपितवृत्तिप्रतियोगिक अभाव को व्याप्ति मानने पर धूम के व्यभिचारी वह्नि में उसकी अतिव्याप्ति होगी, अतः साध्याभावाधिकरणनिरूपितवृत्तिसामान्याभाव को ही व्याप्ति मानना उचित है। क्योंकि साध्याभावाधिकरणनिरूपितवृत्तिसामान्याभाव का अर्थ होता है 'साध्याभावाधिकरणत्वनिष्ठ अवच्छेदकता से भिन्न अवच्छेदकता से अनिरूपित जो साध्याभावाधिकरणनिष्ठ अवच्छेदकता, उससे भिन्न एवं वृत्तित्वनिष्ठ अवच्छेदकता से भिन्न अवच्छेदकता से अनिरूपित जो साध्याभावाधिकरणनिरूपितवृत्तिनिष्ठ प्रतियोगिता, तादृशप्रतियोगिता का निरूपक अभाव'। इस अभाव को व्याप्ति मानने पर धूमाभावाधिकरणजलह्रदनिरूपितवृत्त्यभाव तथा धूमाभावाधिकरणनिरूपितवृत्ति, जलोभयाभाव व्याप्तिरूप नहीं हो सकता; क्योंकि उनमें प्रथम अभाव का प्रतियोगी है धूमाभावाधिकरणजलह्रदनिरूपितवृत्ति, उसमें विद्यमान प्रतियोगिता की अवच्छेदकता है वृत्तित्व और धूमाभावाधिकरण जलह्रद में। धूमाभावाधिकरण-जलह्रद में जो प्रतियोगितावच्छेदकता है उसके दो अवच्छेदक हैं 'धूमाभावाधिकरणत्व' और 'जलह्रदत्व'। इसलिए वह प्रतियोगितावच्छेदकता साध्याभावाधिकरणत्वनिष्ठ अवच्छेदकता से भिन्न जलह्रदत्वनिष्ठ अव-

च्छेदकता से निरूपित होने के कारण साध्याभावाधिकरणत्वनिष्ठ अवच्छेदकता से भिन्न अवच्छेदकता से अनिरूपित नहीं है। अत एव धूमाभावाधिकरणजलह्रदनिष्ठ अवच्छेदकता साध्याभावाधिकरणत्वनिष्ठ अवच्छेदकता से भिन्न अवच्छेदकता से अनिरूपित साध्याभावाधिकरणनिष्ठ अवच्छेदकता और वृत्तित्वनिष्ठ अवच्छेदकता से भिन्न अवच्छेदकता हो जायगी। अतः उससे प्रथम अभाव की प्रतियोगिता के निरूपित होने से वह अभाव साध्याभावाधिकरणत्वनिष्ठ अवच्छेदकता से भिन्न अवच्छेदकता से अनिरूपित साध्याभावाधिकरणनिष्ठ अवच्छेदकता से भिन्न एवं वृत्तित्वनिष्ठ अवच्छेदकता से भिन्न अवच्छेदकता से अनिरूपित प्रतियोगिता का निरूपक अभाव नहीं हो सकता।

इसी प्रकार द्वितीय अभाव भी साध्याभावाधिकरणनिरूपितवृत्तिसामान्याभावरूप नहीं हो सकता; क्योंकि उसकी प्रतियोगिता धूमाभावाधिकरणनिरूपित वृत्ति एवं जल उभय में है। अतः उक्त प्रतियोगिता के चार अवच्छेदक हैं—धूमाभावाधिकरण, वृत्तित्व, जलत्व और उभयत्व। अतः उस अभाव की प्रतियोगिता साध्याभावाधिकरणनिष्ठ अवच्छेदकता एवं वृत्तित्वनिष्ठ अवच्छेदकता से भिन्न जलत्व और उभयत्वनिष्ठ अवच्छेदकता से निरूपित होने के कारण साध्याभावाधिकरणनिष्ठ अवच्छेदकता एवं वृत्तित्वनिष्ठ अवच्छेदकता से भिन्न अवच्छेदकता से अनिरूपित नहीं है। अत एव यह अभाव भी साध्याभावाधिकरणत्वनिष्ठ अवच्छेदकता से भिन्न अवच्छेदकता से अनिरूपित साध्याभावाधिकरणनिष्ठ अवच्छेदकता से भिन्न एवं वृत्तित्वनिष्ठ अवच्छेदकता से भिन्न अवच्छेदकता से अनिरूपित प्रतियोगिता का निरूपक न होने से उक्त साध्याभावाधिकरणनिरूपितवृत्तिसामान्याभाव रूप नहीं है। फलतः उक्त दोनों अभाव व्याप्ति रूप नहीं हैं; किन्तु 'धूमाभावाधिकरणनिरूपितवृत्तिर्नास्ति' इस प्रतीति का विषयभूत 'धूमाभावाधिकरणनिरूपितवृत्त्यभाव' ही उक्त साध्याभावाधिकरणनिरूपितवृत्तिसामान्याभाव है; क्योंकि उसकी प्रतियोगिता के दो ही अवच्छेदक हैं—धूमाभावाधिकरण और वृत्तित्व एवं धूमाभावाधिकरणनिष्ठ अवच्छेदकता का एक ही अवच्छेदक है 'धूमाभावाधिकरणत्व'। अतः साध्याभावाधिकरणत्वनिष्ठ-अवच्छेदकता-भिन्न अवच्छेदकता से अनिरूपित साध्याभावाधिकरणनिष्ठ अवच्छेदकता से भिन्न एवं वृत्तित्वनिष्ठ अवच्छेदकता से भिन्न अवच्छेदकता से

साध्याभाववद्वृत्तिश्च हेतुतावच्छेदकसम्बन्धेन विवक्षणीया, तेन वह्न्यभाववति धूमावयवे जलह्रदादौ च समवायेन कालिकविशेषणतादिना च धूमस्य वृत्तावपि न क्षतिः ।

अनिरूपित प्रतियोगिता का निरूपक होने से यही अभाव धूम की व्याप्ति है। वह अभाव वह्नि में नहीं रहता, क्योंकि वह्नि में धूमाभावाधिकरण-अयोगोलक-निरूपित वृत्ति के रहने से उसमें 'धूमाभावाधिकरणनिरूपितवृत्तिर्नास्ति' यह प्रतीति नहीं होती, अतः वह्नि में धूमव्याप्ति की अतिव्याप्ति नहीं हो सकती।

उक्त व्याप्तिलक्षण में साध्याभाववन्निरूपित वृत्ति में हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नत्व का निवेश करके 'साध्याभावाधिकरणनिरूपितहेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नवृत्तिसामान्याभाव' को व्याप्ति मानना होगा। यदि ऐसा न माना जायगा तो वह्निसाध्यक धूम में अव्याप्ति होगी, क्योंकि धूमावयव में समवाय सम्बन्ध से तथा जलह्रद आदि मे कालिक सम्बन्ध से धूम के रहने से वह्न्यभावाधिकरण-धूमावयव-निरूपित-समवायसम्बन्धावच्छिन्न वृत्ति एवं वह्न्यभावाधिकरण-जलह्रद-आदि से निरूपित कालिकसम्बन्धावच्छिन्न वृत्ति धूम में रहती है, अतः 'वह्न्यभावाधिकरणवृत्तिर्नास्ति' इस प्रतीति का विषयभूत वह्न्यभावाधिकरणवृत्तिसामान्याभाव धूम में नहीं रह सकता। वह्न्यभावाधिकरण-निरूपितसंयोगसम्बन्धावच्छिन्नवृत्त्यभाव धूम में अवश्य रहता है; क्योंकि वह्न्यभाव के किसी भी अधिकरण में धूम संयोग सम्बन्ध से नहीं रहता; किन्तु यह अभाव वह्न्यभावाधिकरणवृत्तिसामान्याभाव नहीं है, क्योंकि इस अभाव की प्रतियोगिता साध्याभावाधिकरण, संयोगसम्बन्धावच्छिन्नत्व और वृत्तित्व इन तीन धर्मों से अवच्छिन्न होने के कारण साध्याभावाधिकरणनिष्ठ अवच्छेदकता से भिन्न एवं वृत्तित्वनिष्ठ अवच्छेदकता से भिन्न संयोगसम्बन्धावच्छिन्नत्वनिष्ठ अवच्छेदकता से निरूपित होने के कारण साध्याभावाधिकरणनिष्ठअवच्छेदकता से भिन्न एवं वृत्तित्वनिष्ठ अवच्छेदकता से भिन्न अवच्छेदकता से अनिरूपित प्रतियोगिता का निरूपक नहीं होता। किन्तु जब 'साध्याभावाधिकरणनिरूपितहेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नवृत्तिसामान्याभाव' को व्याप्ति माना जायगा तब उसका अर्थ होगा साध्याभावाधिकरणनिष्ठ अवच्छेदकता से भिन्न, हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नत्वनिष्ठ अवच्छेदकता से भिन्न, वृत्तित्वनिष्ठ

साध्याभावश्च साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नसाध्यतावच्छेदका-वच्छिन्नप्रतियोगिताको बोध्यः। तेन वह्निमान् धूमादित्यादौ समवायादिसम्बन्धेन वह्निसामान्याभाववति संयोगसम्बन्धेन तत्तद्वह्नित्व-वह्निजलत्वोभयत्वाद्यवच्छिन्नाभाववति च पर्वतादौ संयोगेन धूमस्य वृत्तावपि न क्षतिः।

अवच्छेदकता से भिन्न अवच्छेदकता से अनिरूपित साध्याभावाधिकरण-निरूपित-हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नवृत्तिनिष्ठप्रतियोगिता का निरूपक अभाव।

फलतः वह्नि को संयोग सम्बन्ध से साध्य और धूम को संयोग सम्बन्ध से हेतु बनाने पर 'वह्न्यभावाधिकरणनिरूपितसंयोगसम्बन्धा-वच्छिन्नवृत्तिसामान्याभाव' वह्निनिरूपित व्याप्ति होगा और वह धूम में विद्यमान है। अतः धूम में वह्निव्याप्तिलक्षण की अव्याप्ति नहीं हो सकती।

उक्त व्याप्तिलक्षण में साध्याभाव शब्द का यथाश्रुत अर्थ है 'साध्यप्रतियोगिक' अभाव। किन्तु साध्याभाव शब्द के इस अर्थ को ग्रहण करने पर उक्त लक्षण की वह्निसाध्यक धूम हेतु में अव्याप्ति होगी, क्योंकि समवाय सम्बन्ध से वह्नि का अभाव भी साध्यप्रतियोगिक अभाव है। एवं संयोग सम्बन्ध से तत्तद्वह्नि का अभाव एवं वह्निजलोभयाभाव भी साध्यप्रतियोगिक अभाव है और इन सभी अभावों का अधिकरण पर्वत होता है, क्योंकि 'पर्वते समवायसम्बन्धेन वह्निर्नास्ति' 'पर्वते तत्तद् वह्निर्नास्ति' एवं 'पर्वते संयोगसम्बन्धेन वह्निजलोभयं नास्ति' ये प्रतीतियाँ होती हैं। अतः साध्यप्रतियोगिक इन अभावों के अधिकरण पर्वत आदि में संयोगसम्बन्ध से धूम के रहने के कारण धूम में 'साध्यप्रतियोगिक-अभावाधिकरणनिरूपितवृत्तिसामान्याभाव नहीं रहेगा। अतः साध्या-भाव शब्द का अर्थ साध्यप्रतियोगिक अभाव न कर 'साध्यतावच्छेदक-सम्बन्धावच्छिन्नसाध्यतावच्छेदकधर्मावच्छिन्नप्रतियोगितानिरूपक अभाव' करना चाहिए। साध्याभाव का यह अर्थ मानने पर समवाय सम्बन्ध से वह्नि का अभाव एवं संयोग सम्बन्ध से तत्तद्वह्नि का अभाव साध्याभाव शब्द से गृहीत नहीं हो सकेगा। क्योंकि समवाय सम्बन्ध से वह्न्यभाव की प्रतियोगिता समवाय सम्बन्ध से अवच्छिन्न है, साध्यता-वच्छेदक सम्बन्ध से अवच्छिन्न नहीं है, क्योंकि संयोग सम्बन्ध से

वह्नि को साध्य करने पर धूम संयोग सम्बन्ध से वह्नि का व्याप्य होता है।। अतः साध्यतावच्छेदक सम्बन्ध संयोग होता है समवाय नहीं। इसी प्रकार संयोग सम्बन्ध से तत्तद्वह्नि के अभाव की प्रतियोगिता तत्तद्वह्निनिष्ठ तत्तद्व्यक्तित्व से अवच्छिन्न होती है, साध्यतावच्छेदक वह्नित्व से अवच्छिन्न नहीं होती। इसलिए यह अभाव भी साध्याभाव शब्द से गृहीत नहीं हो सकता। किन्तु संयोग, समवाय, उभय सम्बन्ध से वह्नि का अभाव एवं संयोग सम्बन्ध से वह्नि-जलोभयाभाव, साध्याभाव का उक्त अर्थ स्वीकार करने पर भी, साध्याभाव शब्द से गृहीत हो सकता है। क्योंकि प्रथम अभाव की प्रतियोगिता वह्नित्वरूप साध्यतावच्छेदक धर्म से अवच्छिन्न है, एवं संयोग, समवाय उभय सम्बन्ध से अवच्छिन्न होने के कारण संयोगरूप साध्यतावच्छेदक सम्बन्ध से भी अवच्छिन्न है। अतः वह अभाव साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न, साध्यतावच्छेदधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिता का निरूपक है। एवं दूसरे अभाव की प्रतियोगिता संयोगरूप साध्यतावच्छेदक सम्बन्ध से अवच्छिन्न एवं वह्नित्व, जलत्व उभयत्व, इन तीन धर्मों से अवच्छिन्न होने के कारण वह्नित्वरूप साध्यतावच्छेदक धर्म से भी अवच्छिन्न है। अतः वह अभाव भी साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न, साध्यतावच्छेदक-धर्मावच्छिन्नप्रतियोगितानिरूपक अभाव है। उन अभावों के अधिकरण पर्वत आदि में धूम संयोगसम्बन्ध से रहता है, अतः धूम में 'साध्यता-वच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न' साध्यतावच्छेदकधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिता-निरूपक-अभावाधिकरणनिरूपितवृत्तिसम्मान्याभाव' के न रहने से वह्नि-साध्यक धूम हेतु में अव्याप्ति अनिवार्य है।

अतः प्रतियोगिता में साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नत्व के स्थान पर साध्यतावच्छेदकसम्बन्धेतरसम्बन्धानवच्छिन्नत्व एवं साध्यतावच्छेदक धर्मावच्छिन्नत्व के स्थान पर साध्यतावच्छेदकधर्मेतरधर्मानवच्छिन्नत्व का निवेश कर 'साध्यतावच्छेदकसम्बन्धेतरसम्बन्धानवच्छिन्न, साध्यतावच्छेदकधर्मेतरधर्मानवच्छिन्नप्रतियोगितानिरूपक-अभावाधिकरणनिरूपित-हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नवृत्तिसामान्याभाव' को व्याप्ति मानना आवश्यक है। एवंभूत अभाव की व्याप्ति मानने पर वह्निसाध्यक-धूम हेतु में व्याप्तिलक्षण की अव्याप्तिरूप क्षति नहीं हो सकती, क्योंकि संयोग, समवाय उभयसम्बन्ध से वह्नि क अभाव साध्यतावच्छेदक

ननु तथापि गुणत्ववान् ज्ञानत्वात्, सत्तावान् जातेरित्यादौ विषयित्वाव्याप्यत्वादिसम्बन्धेन तादृशसाध्याभाववति ज्ञानादौ ज्ञानत्वजात्यादेर्वर्त्तमानत्वाद् अव्याप्तिः।

संयोगसम्बन्धेतरसमवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिता का निरूपक होने से एवं संयोगसम्बन्ध से वह्निजलोभयाभाव साध्यतावच्छेदक वह्नित्व से इतर जलत्व और उभयत्व से अवच्छिन्न प्रतियोगिता का निरूपक होने से साध्यतावच्छेदकसम्बन्धेतरसम्बन्धानवच्छिन्न और साध्यतावच्छेदकधर्मेतरधर्मानवच्छिन्नप्रतियोगितानिरूपक अभाव न होने के कारण साध्याभावशब्द से गृहीत न होगा। किन्तु 'संयोगसम्बन्धेन वह्निर्नास्ति' इस प्रतीति का विषयभूत संयोगसम्बन्धावच्छिन्नवह्नित्वावच्छिन्नप्रतियोगितानिरूपक अभाव ही साध्याभाव शब्द से गृहीत होगा, जो पर्वतादि में नहीं रहता है; किन्तु जलह्रदादि में ही रहता है। अतः उक्त साध्याभावाधिकरणनिरूपितवृत्तिसामान्याभाव वह्निसाध्यक धूम हेतु से अबाधित है।

उक्त रूप से व्याप्तिलक्षण का परिष्कार करने पर भी यह शङ्का होती है कि समवायसम्बन्ध से ज्ञानत्व हेतु से गुणत्वसाध्यक अनुमान करने पर ज्ञानत्व में गुणत्वनिरूपित व्याप्ति के उक्तविध लक्षण की अव्याप्ति होगी; क्योंकि गुणत्वाभावरूप साध्याभाव का विषयितासम्बन्ध से अधिकरण होगा गुणत्वाभावविषयक ज्ञान, उसमें ज्ञानत्व समवाय सम्बन्ध से रहता है, अतः ज्ञानत्व में 'गुणत्वाभावाधिकरणनिरूपितसमवायसम्बन्धावच्छिन्नवृत्तिसामान्याभावरूप' व्याप्ति नहीं रह सकती। इस पर यदि यह कहा जाय कि लक्षण में साध्याभावनिरूपित अधिकरणता का प्रवेश है और अधिकरणता वृत्तिनियामक सम्बन्ध से ही होती है, विषयिता वृत्तिनियामक सम्बन्ध नहीं है, अतः उस सम्बन्ध से गुणत्वाभावविषयक ज्ञान गुणत्वाभावरूप साध्याभाव का अधिकरण नहीं हो सकता, तो भी उक्त लक्षण अव्याप्ति से मुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि जाति समवाय सम्बन्ध से सत्ता का व्याप्य होती है, अतः उसमें सत्तानिरूपित व्याप्ति के उक्त लक्षण का समन्वय आवश्यक है, किन्तु यह समन्वय संभव नहीं है क्योंकि सत्ताभावरूप साध्याभाव का अव्याप्यत्वसम्बन्ध से अधिकरण होगा ज्ञानादि, क्योंकि ज्ञानादि के अधिकरण आत्मा आदि में सत्ताभाव

के न रहने से ज्ञानादि सत्ताभाव का अव्याप्य है और उसमें ज्ञानत्व आदि जाति रहती है अतः जाति में 'सत्ताभावाधिकरणनिरूपितवृत्ति-सामान्याभावरूप' व्याप्ति नहीं रह सकती है।

इस पर यदि यह शङ्का की जाय कि 'अव्याप्यत्व भी वृत्तिनियामक सम्बन्ध नहीं है, अतः उस सम्बन्ध से साध्याभाव का अधिकरण संभव न होने से उक्त रीति से अव्याप्ति नहीं हो सकती' तो यह ठीक नहीं है; क्योंकि अव्याप्यत्व का अर्थ होता है 'व्याप्यत्वाभाव अर्थात् व्यभिचार' और व्यभिचार को वृत्तिनियामक सम्बन्ध मानना आवश्यक है; क्योंकि 'धूमसाध्यकवह्निहेतौ आर्द्रेन्धनसंयोग उपाधिः' इस प्रकार उपाधि में हेतुनिरूपितवृत्तिता का व्यवहार सर्वसम्मत है और यह तभी हो सकता है जब व्यभिचार वृत्तिनियामक सम्बन्ध हो, क्योंकि व्यभिचारी हेतु के साथ उपाधि का व्यभिचार ही सम्बन्ध होता है। कहने का आशय यह है कि साध्य का व्यापक और साधन का अव्यापक पदार्थ ही उपाधि होता है। उपाधि में साधन की अव्यापकता होने का अर्थ है 'साधन में उपाधि का व्यभिचार होना'। क्योंकि उपाधिशून्य में साधन के रहने से ही उपाधि साधन का अव्यापक होती है। इस प्रकार साधन के साथ उपाधि का व्यभिचार होने से साधन में उपाधि व्यभिचार सम्बन्ध से रहती है, अत एव उपाधि में साधननिरूपित, व्यभिचारित्वसम्बन्धावच्छिन्न वृत्तिता संभव होती है। अतः उक्त व्यवहार के अनुरोध से व्यभिचार को वृत्तिनियामक सम्बन्ध मानना आवश्यक होता है। अत एव व्यभिचाररूप अव्याप्यत्व सम्बन्ध से सत्ताभाव के अधिकरण ज्ञान आदि में ज्ञानत्व आदि जाति के रहने से जाति में सत्तानिरूपित व्याप्ति के उक्त लक्षण की अव्याप्ति अनिवार्य है।

यदि यह कहा जाय कि उक्त लक्षण में अभावीयविशेषणताविशेष अर्थात् स्वरूप-सम्बन्ध से साध्याभावनिरूपित अधिकरणता का प्रवेश करने से उक्त अव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि ज्ञान आदि गुणत्वाभाव एवं सत्ताभाव का स्वरूप सम्बन्ध से अधिकरण नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें उस अभाव का विरोधी गुणत्व एवं सत्ता विद्यमान होती है, किन्तु स्वरूप सम्बन्ध से गुणत्वाभाव एवं सत्ताभाव का अधिकरण क्रम से घट आदि

न च साध्याभावाधिकरणत्वम् अभावीयविशेषणताविशेषणसंबन्धेन दिवक्षितमिति वाच्यम्, तथा सति घटत्वात्यन्ताभाववान् घटान्योन्याभाववान् वा पटत्वादित्यादौ साध्याभावस्य घटत्वादेर्विशेषताविशेषसंबन्धेनाधिकरणस्य अप्रसिद्धचा अव्याप्तिरिति चेत्, न, अत्यन्ताभावान्योभावयोरत्यन्ताभावस्य सप्तमपदार्थस्वरूपत्वात् ।

और सामान्य आदि पदार्थ होंगे, अतः उसमें समवाय सम्बन्ध से ज्ञानत्व आदि के न रहने से अव्याप्ति नहीं हो सकती, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि स्वरूप सम्बन्ध से साध्याभावनिरूपित अधिकरणता का प्रवेश करने पर घटत्वात्यन्ताभाव एवं घटान्योन्याभावरूप साध्य के व्याप्य पटत्व हेतु में अव्याप्ति होगी, क्योंकि घटत्वात्यन्ताभावरूप साध्य का अभाव एवं घटान्योन्याभावरूप साध्य का अभाव घटत्वरूप होता है और घटत्व जाति है, अतएव उसका स्वरूप सम्बन्ध से अधिकरण अप्रसिद्ध है। अतः स्वरूप सम्बन्ध से साध्याभावाधिकरणनिरूपितवृत्तित्वाभाव की भी अप्रसिद्धि होने से अव्याप्ति होगी। किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि अत्यन्ताभाव का अत्यन्ताभाव, अत्यन्ताभाव के प्रतियोगिस्वरूप एवं अन्योन्याभाव का अत्यन्ताभाव अन्योन्याभाव के प्रतियोगितावच्छेदक धर्म स्वरूप नहीं होता, अपितु अभावात्मक सप्तम पदार्थ स्वरूप होता है। अतः घटत्वात्यन्ताभाव का अभाव एवं घटान्योन्याभाव का अभाव घटत्व स्वरूप नहीं होगा—किन्तु अभाव-स्वरूप होगा, अतः स्वरूप सम्बन्ध से साध्याभावाधिकरण की अप्रसिद्धि न होने से उक्त अव्याप्ति नहीं हो सकती।

अत्यन्ताभाव के अत्यन्ताभाव को एवं अन्योन्याभाव के अत्यन्ताभाव को अभावस्वरूप मानने पर यद्यपि उक्त दोष का वारण हो जाता है। तथापि अत्यन्ताभाव के अत्यन्ताभाव को प्रथम अत्यन्ताभाव के प्रतियोगिस्वरूप एवं अन्योन्याभाव के अत्यन्ताभाव को अन्योन्याभाव के प्रतियोगितावच्छेदकधर्मस्वरूप मानने पर उक्त दोष का परिहार नहीं हो सकता, क्योंकि पटत्वहेतु से घटत्वात्यन्ताभाव को अथवा घटान्योन्याभाव को साध्य करने पर साध्याभाव घटत्वस्वरूप होगा और घटत्व जाति है अतः स्वरूप सम्बन्ध से साध्याभावाधिकरण की अप्रसिद्धि होने से स्वरूप सम्बन्ध से साध्याभावनिरूपित अधिकरणता का प्रवेश कर

अत्यन्ताभावान्योन्याभावयोरत्यन्ताभावस्य प्रतियोग्यादिस्वरूपत्व-नये तु साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकसाध्याभाववृत्ति-साध्यसामान्यीयप्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्धेन साध्याभावाधिकरणत्वं वक्तव्यम्; वृत्त्यन्तं प्रतियोगिताविशेषणम्, तादृशसम्बन्धश्च वह्निमान् धूमादित्यादिभावसाध्यकस्थले विशेषणताविशेष एव, घटत्वाभाववान् पटत्वादित्याद्यभावसाधकस्थले तु समवायादिरेव।

व्याप्तिलक्षण का निर्वचन करने पर उक्त स्थलों में व्याप्ति की अप्रसिद्धि होगी। अतः अत्यन्ताभाव का अत्यन्ताभाव प्रतियोगिस्वरूप होता है एवं अन्यवोन्याभाव का अत्यन्ताभाव प्रतियोगितावच्छेदकधर्मस्वरूप होता है इस मत में भी उक्त स्थलों में व्याप्ति के उक्त लक्षण की अप्रसिद्धि न हो इस उद्देश्य से स्वरूप सम्बन्ध से साध्याभावनिरूपित अधिकरणता का प्रवेश न कर 'साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नप्रति-योगिताकसाध्याभाववृत्ति-साध्यसामान्यीयप्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध' से साध्याभावनिरूपित अधिकरणता का प्रवेश करना चाहिए। उक्त सम्बन्ध के शरीर में 'साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक-साध्याभाववृत्ति' इतना अंश साध्यसामान्यीय प्रतियोगिता का विशेषण है। उक्त सम्बन्ध से साध्याभावनिरूपित अधिकरणता का प्रवेश करने पर उक्त दोषों को अवकाश नहीं मिल सकता क्योंकि 'वह्निमान् धूमात्, गुणत्ववान् ज्ञानत्वात्, सत्तावान् जातेः, इत्यादि स्थलों में जहाँ साध्य अभाव स्वरूप है, वहाँ स्वरूप सम्बन्ध ही उक्त सम्बन्ध होगा और 'घटत्वाभाववान् पटत्वात्' एवं 'घटान्योन्याभाववान् पटत्वात्' इत्यादि स्थलों में जहाँ साध्य अभावस्वरूप है, वहाँ उक्त सम्बन्ध समवाय आदि होगा। जैसे 'वह्निमान् धूमात्' इस स्थल में साध्यतावच्दछेक सम्बन्ध है संयोग, साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न-प्रतियोगिताक साध्याभाव है 'संयोग सम्बन्ध से वह्नि का अभाव—संयोग सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक वह्न्यभाव' उसमें वृत्ति साध्यसामान्य-निरूपित प्रतियोगिता है वह्न्यभाव के स्वरूपसम्बन्धावच्छिन्नप्रति-योगिताक अभाव की स्वरूपस्वरूपसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिता, क्योंकि वह्न्यभाव का स्वरूपसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव लाघवात् वह्निस्वरूप है, अतएव उस अभाव की प्रतियोगिता वह्निरूप साध्य-सामान्य से निरूपित है। एवं 'गुणत्ववान् ज्ञानत्वात्, सत्तावान् जातेः, इन

समवाय, विषयित्वादिसम्बन्धेन प्रमेयादिसाध्यके ज्ञानत्वादिहेतौ साध्यतावच्छेदकसमवायादिसम्बन्धावच्छिन्नप्रमेयाद्यभावस्य कालिकादिसम्बन्धेन योऽभावः सोऽपि प्रमेयतया साध्यान्तर्गतस्तदीयप्रतियोगितावच्छेदककालिकसम्बन्धेन साध्याभावाधिकरणे ज्ञानत्वादेर्वृत्त्याऽव्याप्तिवारणाय सामान्यपदोपादानम्। साध्यसामान्यीयत्वञ्च यावत्साध्यनिरूपितत्वं स्वानिरूपकसाध्यकभिन्नत्वमिति यावत्।

स्थलों में भी गुणत्वाभाव और सत्ताभाव रूप साध्याभाव में वृत्ति गुणत्व और सत्ता-रूप-साध्यसामान्य से निरूपित प्रतियोगिता है गुणत्वाभाव के स्वरूपसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव की प्रतियोगिता, एवं सत्ताभाव के स्वरूपसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव की प्रतियोगिता; क्योंकि गुणत्वाभावाभाव एवं सत्ताभावाभाव भी क्रम से लाघवात् गुणत्व स्वरूप एवं सत्तास्वरूप हैं। उस प्रतियोगिता का अवच्छेदक सम्बन्ध स्वरूप सम्बन्ध है, न कि विषयिता अथवा अव्याप्यत्व सम्बन्ध, अतः विषयिता एवं अव्याप्यत्व सम्बन्ध से साध्याभाव के अधिकरण को लेकर उक्त स्थलों में अव्याप्ति नहीं हो सकती।

'घटत्वाभाववान् पटत्वात्' इस स्थल में घटत्वाभाव स्वरूप सम्बन्ध से साध्य है, अतः साध्यतावच्छेदकसम्बन्धविच्छिन्नप्रतियोगिताक साध्याभाव है घटत्वाभाव का स्वरूपसम्बन्ध से अभाव, वह अभाव लाघवात् घटत्वस्वरूप है अतः उक्तस्थल में साध्यताबच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक साध्याभाव घटत्व है, उसमें वृत्ति घटत्वात्यन्ताभावरूप साध्यसामान्य की प्रतियोगिता का अवच्छेदक सम्बन्ध समवाय है, क्योंकि समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक घटत्वात्यन्ताभाव ही उक्त स्थल में साध्य है।

साध्याभावनिरूपित अधिकरणता के नियामक उक्त सम्बन्ध में प्रतियोगिता में यदि साध्यसामान्यनिरूपितत्व का प्रवेश न कर केवल साध्यनिरूपितत्व का प्रवेश किया जायगा तो 'प्रमेयवान् ज्ञानत्वात्' इस प्रकार ज्ञानत्व हेतु से समवायसम्बन्ध से प्रमेय को साध्य करने पर ज्ञानत्व में प्रमेयनिरूपित व्याप्ति के लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि वहाँ साध्यतावच्छेदक सम्बन्ध होगा समवाय, तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक साध्यभाव है 'समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक प्रमेयाभाव',

उसमें वृत्ति साध्यनिरूपित प्रतियोगिता है, उस अभाव के कालिकसम्बन्धावच्धिन्नप्रतियोगिताक अभाव की कालिकसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिता, क्योंकि प्रमेयाभाव का कालिकसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव भी एक प्रमेय होने से प्रमेयसामान्यरूप साध्य के अन्तर्गत है, अतः उसकी प्रतियोगिता भी साध्यनिरूपित प्रतियोगिता है। इस प्रतियोगिता के अवच्छेदक कालिक सम्बन्ध से प्रमेयाभावरूप साध्याभाव के अधिकरण जन्यज्ञान में ज्ञानत्वहेतु विद्यमान है, अतः उक्त हेतु में साध्यतावच्छेकसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकसाध्याभाववृत्तिसाध्यनिरूपितप्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध से साध्याभावाधिकरणनिरूपितवृत्त्यभाव के न रहने से अव्याप्ति होना अनिवार्य है।

यद्यपि साध्याभावाधिकरणतानियामक उक्त सम्बन्ध में प्रतियोगिता अंश में 'साध्यतावच्छेदकसम्बन्ध से वृत्तिगतसाध्यनिरूपितत्व के निवेश से उक्त अव्याप्ति का वारण हो सकता है' क्योंकि प्रमेयाभाव का कालिकसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव, अभावस्वरूप होने से साध्यतावच्छेदक समवायसम्बन्ध से वृत्तिमत् नहीं है। अतएव उसकी प्रतियोगिता 'साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकसाध्याभाववृत्ति साध्यतावच्छेदकसम्बन्ध से वृत्तिमत्साध्य-निरूपितप्रतियोगिता' शब्द से नहीं पकड़ी जा सकती। अतएव उस प्रतियोगिता के अवच्छेदक कालिक सन्बन्ध से साध्याभावाधिकरण को लेकर अव्याप्ति नहीं हो सकती। तथापि 'प्रमेयवान् तज्ज्ञानत्वात्' इस स्थल में तज्ज्ञानत्व—प्रमेयविषयकज्ञानत्व हेतु से, विषयिता सम्बन्ध से प्रमेय को साध्य करने पर अव्याप्ति होगी, क्योंकि उस स्थल में साध्यतावाच्छेदकसम्बन्धावछिन्नप्रतियोगिताक साध्याभाव है 'विषयित्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक प्रमेयाभाव' उसमें वृत्ति 'साध्यतावच्छेदकसम्बन्ध से वृत्तिमत्-साध्यनिरूपित प्रतियोगिता' है उक्त अभाव के कालिकसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव की कालिकसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिता, क्योंकि प्रमेयाभाव का कालिकासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव विषयितासम्बन्ध से स्वविषयकज्ञान में वृत्तिमत् है। अतः उस अभाव की प्रतियोगिता के अवच्छेदक कालिक सम्बन्ध से विषयित्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकप्रमेयाभावरूप साध्याभाव के अधिकरण प्रमेयविषयकज्ञान में उक्त हेतु के रहने से अव्याप्ति अनिवार्य है। अतएव साध्याभावनिरूपित अधिकरणता

अस्योक्तिमात्रपरतया गौरवस्यादोषत्वात्, अनुमितिकारणतावच्छेदके च भावसाध्यकस्थले अभावीयविशेषणताविशेषेण साध्याभावाधिकरणत्वम्, अभावसाध्यकस्थले च यथायथं समवायादिसम्बन्धेन साध्यभेदेन कार्यकारणभावभेदात् ।

के नियामक उक्त सम्बन्धमें प्रतियोगिता अंश में साध्यनिरूपितत्व का निवेश न कर साध्यसामान्यीयत्व-साध्यसामान्यनिरूपितत्व का निवेश किया गया। साध्यसामान्यीयत्व का अर्थ है 'यावत् साध्यनिरूपितत्व'। उक्त स्थल में प्रमेयाभाव के कालिकसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव की प्रतियोगिता केवल उस अभाव से ही निरूपित है, यावत् साध्य = यावत् प्रमेयनिरूपित नहीं है, क्योंकि अभाव एक अतिरिक्त अभावरूप होने से एक प्रमेयस्वरूप है, यावत्प्रमेयस्वरूप नहीं है। यावत्साध्यनिरूपितत्व रूप साध्यसामान्यीयत्व का निवेश करने पर 'गुणत्ववान् ज्ञानत्वात्' इत्यादि स्थलों में जहाँ गुणत्वादि जातिरूप एक ही व्यक्ति साध्य है, यावत् साध्य अप्रसिद्ध है क्योंकि यावत् पद अनेकार्थक है।

अतः साध्यसामान्यीयत्व का निष्कृष्ट अर्थ लेना है, जो स्वानिरूपक साध्यकभिन्नस्वरूप है। इसके अनुसार वही प्रतियोगिता साध्यसामान्यनिरूपित होगी जिसका अनिरूपक कोई साध्य न हो। फलतः प्रमेयाभाव के कालिकसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव की प्रतियोगिता साध्यसामान्यनिरूपित प्रतियोगिता नहीं हो सकती। क्योंकि उस प्रतियोगिता का निरूपक केवल उक्त अभाव रूप प्रमेय ही है उससे भिन्न अन्य प्रमेयरूप साध्य उस प्रतियोगिता का अनिरूपक है। अतः जिस प्रतियोगिता का अनिरूपक कोई साध्य न हो ऐसी प्रतियोगिता के रूप में प्रमेयाभाव के कालिकसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव की प्रतियोगिता नहीं ग्रहण की जा सकती।

यद्यपि उक्त सम्बन्ध से साध्याभावाधिकरणता का प्रवेश करने पर गौरव होता है, क्योंकि भावसाध्यक स्थल में स्वरूप सम्बन्ध से साध्याभावाधिकरणत्व का निवेश करने से एवं अभावसाध्यक स्थल में समवायादि सम्बन्धों में जो सम्बन्ध जहाँ उपयुक्त हो उस सम्बन्ध से साध्याभावाधिकरणत्व का निवेश करने पर भी तत्तत्स्थलों में व्याप्ति की उपपत्ति हो जाती है अतः सर्वत्र व्याप्तिलक्षण में साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न-

प्रतियोगिताक साध्याभाववृत्ति साध्यसामान्यनिरूपित प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्धत्व रूप से साध्याभावाधिकरणता के नियामक स्वरूप, समवाय आदि का निवेश करने में गौरव स्पष्ट है। तथापि यह गौरव दोष नहीं है क्योंकि सभी स्थलों में व्याप्ति को एक लक्षण वाक्य से उक्ति हो सकती है। इस अभिप्राय से ही साध्याभावाधिकरणता नियामक सम्बन्धों का साध्यतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न-प्रतियोगिताक-साध्याभाववृत्ति-साध्यसामान्य-निरूपितप्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध शब्द से कथन किया गया है। इस कथन का तात्पर्य यह कथमपि नहीं समझना चाहिए कि उक्त गुरु रूप से साध्याभावाधिकरणता नियामक सम्बन्ध को विषय करने वाले व्याप्ति ज्ञान को अनुमिति का कारण मानना अभीष्ट है, किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि व्याप्तिज्ञान में जो अनुमितिकारणता होती है उसके अवच्छेदक कोटि में भावसाध्यक स्थल में साध्याभावाधिकरणता के नियामक सम्बन्ध का अभावीय विशेषणता विशेषत्व-स्वरूप सम्बन्धत्व रूप से ही निवेश है और अभाव साध्यक स्थल में समवायादि सम्बन्धों में जो जहाँ साध्याभावाधिकरणता का नियामक उपयुक्त सम्बन्ध हो वहाँ उस सम्बन्ध का समवायत्व आदि रूप से ही व्याप्तिज्ञान निष्ठ अनुमिति कारणता के अवच्छेदक कुक्षि में प्रवेश होता है। क्योंकि विभिन्न साध्य हेतुक स्थलों में व्याप्ति का एकाकार लक्षण वाक्य से कथन मात्र ही अभिप्रेत होता है, किन्तु अनुमिति और व्याप्तिज्ञान में जो कार्यकारण भाव होता है वह साध्य के भेद से भिन्न ही होता है क्योंकि विभिन्न साध्यकस्थलों में व्याप्ति के शरीर में विभिन्न साध्यों का विभिन्न रूपों से ही प्रवेश होता है। जैसे वह्निसाध्यक अनुमिति में वह्न्यभावाधिकरण निरूपित वृत्तित्वाभावरूप व्याप्ति का ज्ञान एवं गुणत्वसाध्यक अनुमिति में गुणत्वाभावाधिकरणनिरूपित व्याप्ति का ज्ञान कारण होता है।

यदि सामान्य रूप से अनुमिति के प्रति व्याप्तिज्ञान को कारण माना जायगा तो एक साध्य के व्याप्तिज्ञान से अन्यसाध्यक अनुमिति की भी आपत्ति होगी, एवं साध्यविशेष की अनुमिति के प्रति सामान्यरूप से यदि साध्याभावाधिकरण निरूपित वृत्तित्वाभावरूप व्याप्तिज्ञान को कारण माना जायगा तो भी अन्य साध्य के व्याप्तिज्ञान से अन्य साध्यक अनुमिति की आपत्ति होगी। अतः अनुमिति निष्ठ कार्यता तथा व्याप्तिज्ञान निष्ठ कारणता के अवच्छेदक कोटि में विभिन्न साध्यों का विभिन्न

न च तथापि च घटान्योन्याभाववान् पटत्वादित्यत्रान्योन्याभावसाध्यस्थले घटत्वादिरूपे साध्याभावे न साध्यप्रतियोगित्वम्, न वा समवायादिसम्बन्धस्तदवच्छेदकः तादात्म्यस्यैव तदवच्छेदकत्वादित्यव्याप्तिस्तदवस्थेति वाच्यम्; अत्यन्ताभावाभावस्य प्रतियोगिरूपत्वेन घटभेदस्य घटभेदात्यन्ताभावत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावरूपतया घटभेदात्यन्ताभावरूपस्य घटभेदप्रतियोगितावच्छेदकीभूतघटत्वस्यापि समवायसम्बन्धेन घटभेदप्रतियोगित्वात् ।

रूप से प्रवेश कर तत्तत् साध्यक अनुमिति में तत्तत् साध्यनिरूपित व्याप्ति ज्ञान को पृथक् पृथक् कारण मानना आवश्यक होता है। इस प्रकार जब साध्य के भेद से व्याप्ति ज्ञान की कारणता भिन्न होती है तब जिस स्थल में साध्याभाव की अधिकरणता का नियामक जो सम्बन्ध होगा उसका स्वरूपत्व, समवायत्व आदि विशेष रूप से ही व्याप्तिज्ञाननिष्ठ अनुमिति कारणता के अवच्छेदक कुक्षि में प्रवेश होगा। अतः विभिन्न साध्यक स्थलों की व्याप्तियों का एक लक्षणवाक्य से व्यवहार करने के लिए विभिन्न साध्यों का साध्य इस सामान्य शब्द से एवं साध्याभावाधिकरणता नियामक विभिन्न सम्बन्धों का साध्यतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक साध्याभाव वृत्ति साध्यासामान्यनिरूपित प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध इस गुरुतर शब्द से कथन करने में प्रसरतागौरव बाधक नहीं हो सकता।

उक्त सम्बन्ध से साध्याभावनिरूपित अधिकरणता का निवेश करने पर यह शंका होती है कि उक्त निवेश करने पर भी 'घटान्योन्याभाववान् पटत्वात्' इस स्थल में घटान्योन्याभाव रूप साध्य के व्याप्य पटत्व हेतु में अव्याप्ति होगी, क्योंकि अन्योन्याभाव का अत्यन्ताभाव अन्योन्याभाव के प्रतियोगितावच्छेदक धर्मस्वरूप होता है। अतः इस स्थल में घटान्योन्याभावरूप साध्य का अभाव घटत्व रूप होगा, क्योंकि घटान्योन्याभाव का प्रतियोगितावच्छेदक घटत्व है। किन्तु उसमें घटान्योन्याभाव-रूप साध्य की प्रतियोगिता नहीं है, अतः इस स्थल में साध्याभाववृत्ति साध्यसामान्यनिरूपित प्रतियोगिता अप्रसिद्ध है। यदि अन्योन्याभाव के अभाव को अन्योन्याभाव के प्रतियोगितावच्छेदक धर्मस्वरूप न मानकर प्रतियोगिस्वरूप माना जाय तब इस स्थल में घटान्योन्याभावरूप साध्य का अभाव घटस्वरूप होगा और उसमें वृत्ति साध्यसामान्यनिरूपित प्रतियोगिता मिल जायगी। अतः साध्याभाववृत्ति साध्यसामान्यनिरूपित प्रतियोगिता की अप्रसिद्धि न होने से अव्याप्ति नहीं होगी तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि अन्योन्याभाव के अभाव को अन्योन्याभाव के प्रतियोगिस्वरूप मानने पर

साध्याभाववृत्ति साध्यसामान्यनिरूपित प्रतियोगिता की प्रसिद्धि होने पर भी अव्याप्ति बनी रहेगी, क्योंकि उस प्रतियोगिता का अवच्छेदक सम्बन्ध समवाय न होकर तादात्म्य होगा और तादात्म्य वृत्ति-नियामक सम्बन्ध नही है। अतः साध्याभाव वृत्ति साध्यसामान्यनिरूपित प्रतियोगितावच्छेदक तादात्म्य सम्बन्ध से साध्याभावाधिकरण की अप्रसिद्धि होगी। और यदि व्याप्ति लक्षण में साध्याभावाधिकरण के स्थान में साध्याभावसम्बन्धी का निवेश करके साध्याभावसम्बन्धिनिरूपित वृत्तित्वाभाव को व्याप्ति मानकर इस दोष के निवारण का प्रयत्न किया जायगा तो 'घटान्योन्याभाववान् घटत्ववत्वात्' इस स्थल में घटान्योन्याभाव के व्याप्य घटत्वत्व हेतु में अव्याप्ति होगी, क्योंकि अन्योन्याभाव के अत्यन्ताभाव को केवल प्रतियोगि-स्वरूप अथवा केवल प्रतियोगितावच्छेदकस्वरूप न मानकर उभयस्वरूप मानना आवश्यक होता है, क्योंकि जहाँ अन्योन्याभाव का प्रतियोगी एक ही व्यक्ति होता है वहाँ अन्योन्याभाव के अत्यन्ताभाव को प्रतियोगिस्वरूप मानने में लाघव होता है जैसे—आकाशभेद के अत्यन्ताभाव को आकाश-स्वरूप मानने में लाघव होता है, किन्तु जहाँ अन्योन्याभाव के प्रतियोगी अनेक होते हैं किन्तु प्रतियोगितावच्छेदक धर्म एक होता है वहाँ अन्योन्याभाव के अत्यन्ताभाव को प्रतियोगितावच्छेदकस्वरूप मानने में लाघव होता है, जैसे—घटान्योन्याभाव के प्रतियोगी घट अनेक हैं किन्तु प्रति-योगितावच्छेदक घटत्व एक है, अतः घटान्योन्याभाव के अत्यन्ताभाव को घटत्वरूप मानने में लाघव है। इसलिए अन्योन्याभाव के अत्यन्ताभाव के सम्बन्ध में सामान्य नियम इसी प्रकार हो सकता है कि अन्योन्याभाव का अत्यन्ताभावप्रतियोगि और प्रतियोगितावच्छेदक अन्यतर स्वरूप होता है, फलतः घटान्योन्याभावात्यन्ताभाव शब्द से घट और घटत्व दोनों गृहीत हो सकते हैं। अतः 'घटान्योन्याभाववान् घटत्ववत्वात्' इस स्थल में घटरूप साध्याभाव में वृत्ति साध्यसामान्यनिरूपित प्रतियोगिता के अवच्छेदक तादात्म्य सम्बन्ध से घटत्वरूप साध्याभाव के सम्बन्धी घटत्व में घटत्वत्व हेतु के रहने से अव्याप्ति अनिवार्य है।

इसके उत्तर में मथुरानाथ का यह कहना है कि जहाँ अन्योन्याभाव का प्रतियोगी अनेक होता है और प्रतियोगितावच्छेदक एक होता है वहाँ अन्योन्याभाव का अत्यन्ताभाव लाघवात् अन्योन्याभाव के प्रति-योगितावच्छेदक धर्मस्वरूप ही होता है। अतः घटान्योन्याभाव साध्यक स्थल में साध्याभाववृत्ति साध्यसामान्यनिरूपित प्रतियोगिता का अव-च्छेदक सम्बन्ध तादात्म्य नहीं हो सकता; क्योंकि अन्योन्याभावरूप साध्य के अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता अन्योन्याभाव के प्रतियोगी में नहीं

न चान्यत्रात्यन्ताभावा भावस्य प्रतियोगिरूपत्वेऽपि घटादिभेदात्यन्ताभावत्वावच्छिन्नाभावो न घटादिभेदस्वरूपः, किन्तु तत्प्रतियोगितावच्छेदकीभूतघटत्वात्यन्ताभावस्वरूप एवेति सिद्धान्त इति वाच्यम्; यथा हि घटत्वावच्छिन्नघटवत्ताग्रहे घटात्यन्ताभावाग्रहात् घटात्यन्ताभावाभावव्यवहाराच्च घटात्यन्ताभावाभावो घटस्वरूपः, तथा घटभेदवत्ताग्रहे घटभेदात्यन्ताभावाग्रहात् घटभेदात्यन्ताभावाभावव्यवहाराच्च घटभेद एव तदत्यन्ताभावत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव इति तत्सिद्धान्त न युक्तिसह इति।

रहती, किन्तु इस मत में जो यह दोष बताया गया कि घटान्योन्याभाव साध्यक स्थल में साध्याभावघटत्व-स्वरूप है और उसमें घटान्योन्याभाव-रूप साध्य की प्रतियोगिता नहीं है अतः साध्याभाववृत्ति साध्यसामान्य-निरूपित प्रतियोगिता की अप्रसिद्धि होने से घटान्योन्याभाव साध्यकस्थल में 'अव्याप्ति होगी। इसका उत्तर यह है कि घटान्योन्याभाव साध्यक-स्थल में साध्याभाव है घटान्योन्याभाव का अत्यन्ताभाव, उसमें वृत्ति साध्यसामान्यनिरूपित प्रतियोगिता है घटान्योन्याभाव के अत्यन्ताभाव के समवायसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता, क्योंकि अत्यन्ताभाव का अभाव प्रतियोगिस्वरूप होता है अतः घटान्यो-न्याभाव के अत्यन्ताभाव का अत्यन्ताभाव द्वितीयाभाव के प्रतियोगी घटान्योन्याभाव के स्वरूप होगा। अतएव उसकी प्रतियोगिता भी साध्य-निरूपितप्रतियोगिता होगी, इस प्रकार साध्याभाववृत्ति साध्यसामान्य-निरूपित प्रतियोगिता की प्रसिद्धि हो जाने से उक्त दोष नहीं हो सकता। क्योंकि उक्त प्रतियोगिता के अवच्छेदक समवाय सम्बन्ध से घटान्यो-न्याभाव के अत्यन्ताभावरूप साध्य के अधिकरण घट में पटत्व और घटत्वत्व हेतु अवृत्ति है।

यदि यह शंका की जाय कि अन्य अत्यन्ताभाव का अभाव प्रतियोगि-स्वरूप भले हो, किन्तु घटादि भेद के अत्यन्ताभाव का अभाव घटादि भेदस्वरूप नहीं होता किन्तु घटादि के प्रतियोगितावच्छेदक घटत्व आदि के अत्यन्ताभावस्वरूप ही होता है यह सिद्धान्त है। अतः उक्त रीति से घटभेदात्यन्ताभाव के अत्यन्ताभाव को घटभेदस्वरूप बताकर घटभेदा-त्यन्ताभावरूप साध्याभाव में घटभेदरूप साध्य की प्रतियोगिता के अस्तित्व का समर्थन सम्भव न होने से पटत्व में घटान्योन्याभाव की

विनिगमकाभावेनापि घटत्वत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकात्यन्ताभावाभाववद् घटभेदस्यापि घटभेदात्यन्ताभावाभावत्वसिद्धेरप्रत्यूहत्वाच्च। अत एव तादृशसिद्धान्तो न उपाध्यायसम्मतः।

व्याप्ति के उक्त लक्षण की अव्याप्ति का परिहार नहीं हो सकता तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि जिस युक्ति से अन्य अत्यन्ताभाव का अभाव अत्यन्ताभाव के प्रतियोगिस्वरूप सिद्ध होता है वह युक्ति घटाभेदात्यन्ताभाव के अभाव पर भी लागू होती है, जैसे :— घटात्यन्ताभावाभाव के घटात्मक प्रतियोगिस्वरूप सिद्ध करने की युक्ति यह है कि जहाँ जिस सम्बन्ध से घटत्वावच्छिन्न घट का ज्ञान होता है वहाँ घट के तत्सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक अत्यन्ताभाव का स्वरूपसम्बन्ध से ज्ञान नहीं होता है किन्तु घटात्यन्ताभाव के स्वरूपसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव का 'अत्र घटात्यन्ताभावो नास्ति' यहाँ घटात्यन्ताभाव नहीं है, इस प्रकार व्यवहार होता है अतः घटात्यन्ताभाव के अभाव को घट से भिन्न न मानकर लाघववश घट स्वरूप माना जाता है, ठीक इसी प्रकार की युक्ति घटभेदात्यन्ताभाव के अभाव के सम्बन्ध में भी है। जैसे जहाँ घटभेद का ज्ञान होता है वहाँ घटभेदात्यन्ताभाव का ज्ञान नहीं होता है किन्तु "अत्र घटभेदात्यन्ताभावो नास्ति—यहाँ घटभेदात्यन्ताभाव नहीं हैं इस प्रकार घटभेदात्यन्ताभाव के अभाव का व्यवहार होता है। अतएव इस अभाव को भी घटभेद से भिन्न न मानकर लाघव के अनुरोध से घटभेदस्वरूप मानना ही उचित है। इसलिए उक्त सिद्धान्त युक्तिसंगत नहीं है।

दूसरी बात यह है कि घटभेद का अत्यन्ताभाव घटस्वरूप होता है अतः उसके दो धर्म होते हैं—घटत्वत्व और घटभेदात्यन्ताभावत्व, इन दो रूपों से उसके दो प्रकार के अभाव हो सकते हैं एक घटत्वत्वावच्छिन्न प्रतियोगिता निरूपक अभाव और दूसरा घटभेदात्यन्ताभावत्वावच्छिन्न प्रतियोगिता निरूपक अभाव। इनमें प्रथम अभाव सर्वसम्मत है, दूसरे अभाव के सम्बन्ध में यह प्रश्न है कि उसे अतिरिक्त अभाव माना जाय अथवा घटत्वत्वावच्छिन्न प्रतियोगितानिरूपक अभाव स्वरूप किं वा घटभेदस्वरूप माना जाय। अतिरिक्त मानने में गौरव स्पष्ट है, अतः उसे उक्त दोनों अभावों में किसी एक अभावस्वरूप ही मानना होगा ऐसी स्थिति में उसे घटत्वात्यन्ताभाव स्वरूप माना जाय या घटभेदस्वरूप

अत एव च अभावविरहात्मत्वं वस्तुनः प्रतियोगितेत्याचार्य्याः, अन्यथा घटभेदात्यन्ताभावप्रतियोगिनि घटभेदे तल्लक्षणाव्याप्त्यापत्तेः अन्योन्याभावप्रतियोगितावच्छेदकघटत्वात्यन्ताभावे तल्लक्षणस्यातिव्याप्त्यापत्तेश्च।

माना जाय इसमें कोई विनिगमक=निश्चित रूप से किसी एक को स्वीकार करने में कोई युक्ति, नहीं है। अतः घटत्वात्यन्ताभाव के समान घटभेद में भी घटभेदात्यन्ताभावाभावत्व की सिद्धि निर्बाध है। इसीलिए यह सिद्धान्त है कि अन्य अत्यन्ताभाव का अभाव प्रतियोगीस्वरूप होता है किन्तु घटभेद के अत्यन्ताभाव का अभाव घटभेदात्यन्ताभाव के प्रतियोगी घटभेद के स्वरूप नहीं होता किन्तु घटभेद के प्रतियोगितावच्छेदक घटत्व के अत्यन्ताभाव के स्वरूप होता है, उपाध्याय सम्मत नहीं है।

उक्त सिद्धान्त के युक्तिसंगत न होने से ही उदयनाचार्य का यह कथन कि किसी वस्तु में विद्यमान प्रतियोगिता उस वस्तु के अभावाभावत्व रूप होती है और वही उस वस्तु के अभाव के प्रतियोगी का लक्षण है, संगत होता है। आचार्य का अभिप्राय यह है कि तत्तद्वस्तु के अभाव का प्रतियोगी तत्तद् वस्तु ही होती है अन्य कोई वस्तु चाहे वह तत्तद्वस्तु का धर्म हो या और कुछ हो तत्तद् वस्तु के अभाव का प्रतियोगी नहीं होती। इस वस्तु स्थिति के अनुरोध से उन्होंने अभावाभावत्व को प्रतियोगी का लक्षण कहा है। यतः उक्त युक्ति से तत्तद् वस्तु के अभाव का अभाव तत्तद् वस्तु स्वरूप हो होता है, अतएव तत्तद् वस्तु में ही तत्तद् वस्तु के अभावाभावत्व के रहने से तत्तत् वस्तु ही तत्तद् वस्तु के अभाव का प्रतियोगी होता है। किन्तु अभाव प्रतियोगी का अभावाभावत्व रूप लक्षण तभी संगत हो सकता है जब घटभेदात्यन्ताभाव के अभाव को घटभेद स्वरूप माना जाय। यदि उसे घटभेद स्वरूप न मानकर घटत्वात्यन्ताभावस्वरूप माना जायगा तो घटभेदात्यन्ताभाव के घटभेदस्वरूप प्रतियोगी में घटभेदात्यन्ताभावप्रतियोगी के घटभेदात्यन्ताभावाभावत्व रूप लक्षण की अव्याप्ति होगी। तथा घटभेद के प्रतियोगितावच्छेदक घटत्व के अत्यन्ताभाव में अतिव्याप्ति होगी। प्रतियोगि के आचार्योक्त लक्षण से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उक्त सिद्धान्त आचार्य को भी मान्य नहीं है।

न चैवं घटत्वत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकघटत्वात्यन्ताभावस्यापि घटभेदस्वरूपत्वापत्तिरिति वाच्यम्; तदत्यन्ताभावत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्यैव तत्स्वरूपाभ्युपगमात्, तद्वत्ताग्रहे तादृशतदत्यन्ताभावाभावस्यैव व्यवहारात्। उपाध्यायैर्घटत्वत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकघटत्वात्यन्ताभावस्यापि घटस्वरूपत्वाभ्युपगमाच्च।

उक्त निर्णय के सम्बन्ध में यह शंका हो सकती है कि घटत्व का घटभेदात्यन्ताभावत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव यदि घटभेदस्वरूप होगा तो घटत्व के घटत्वत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अत्यन्ताभाव को भी घटभेदस्वरूप मानना होगा। क्योंकि घटभेदात्यन्ताभावत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव और घटत्वत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव जब दोनों घटत्व के ही अभाव हैं और परस्पर समनियत हैं तो उनमें प्रथम को घटभेदस्वरूप माना जाय और द्वितीय को न माना जाय इसमें कोई युक्ति नहीं है, किन्तु इस प्रश्न का उत्तर यह है कि घटत्वात्ववच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव घटभेदात्यन्ताभावाभाव स्वरूप नहीं हो सकता किन्तु घटभेदात्यन्ताभावत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव ही घटभेद स्वरूप हो सकता है। क्योंकि घटभेद का ज्ञान होने पर घटभेदात्यन्ताभाव के ज्ञान का प्रतिरोध होकर घटभेदात्यन्ताभाव के अभाव का ही व्यवहार होता है, घटत्वत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव का व्यवहार नहीं होता है। अतः जिस युक्ति से अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी में अत्यन्ताभावाभावत्व की सिद्धि होती है उस युक्ति के घटत्वात्यन्ताभाव में लागू न होने से घटत्वात्यन्ताभाव में घटभेदात्यन्ताभावाभावत्व का अभ्युपगम नहीं किया जा सकता, और दूसरी बात यह है कि यतः घटत्व के घटत्वत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अत्यन्ताभाव और घटभेदात्यन्ताभावत्वच्छिन्न प्रतियोगिता निरूपक अभाव दोनों परस्पर समनियत हैं उनमें किसी को भी घटभेदस्वरूप मानने में कोई आपत्ति नहीं है। अतएव उपाध्याय ने घटत्व के घटत्वत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव को भी घटभेदस्वरूप माना है। इसलिए घटत्वत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अत्यन्ताभाव में घटभेदस्वरूपत्व की आपत्ति इष्ट ही है।

साध्याभावाधिकरणता के नियामक उक्त सम्बन्ध के विषय में यह प्रश्न होता है कि उक्त सम्बन्ध की कुक्षि में प्रविष्ट प्रतियोगिता में साध्यतावच्छेदक सम्बान्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक साध्याभाववृत्तित्व का निवेश

न चैवं साध्यसामान्यीयप्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्धेनैव साध्याभावाधिकरणत्वं विवक्ष्यतां किं साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नसाध्याभाववृत्तित्वस्य प्रतियोगिताविशेषणत्वेनेति वाच्यम्, कालिकसम्बन्धावच्छिन्नात्मत्वप्रकारकप्रमाविशेष्यत्वाभावस्य विशेषणताविशेषेण साध्यत्वे आत्मत्वादिहेतावव्याप्त्यापत्तेः, कालिकसम्बन्धावच्छिन्नसाध्याभावस्य विशेषणताविशेषेण योऽभावस्तस्यापि साध्यस्वरूपतया कालिकसम्बन्धवद्विशेषणताविशेषोऽपि साध्यीयप्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्धस्तेन सम्बन्धेनात्मत्वप्रकारकप्रमाविशेष्यत्वरूपसाध्याभाववति आत्मनि हेतोरात्मत्वस्य वृत्तेः।

करने की क्या आवश्यकता है ? लाघवात् साध्यसामान्यनिरूपित प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध से ही साध्याभावाधिकरणत्व का निवेश क्यों न किया जाय। इसका उत्तर यह है कि आत्मत्वप्रकारक प्रमाविशेष्यत्व के कालिकसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव को स्वरूप-सम्बन्ध से साध्य करने पर आत्मत्व हेतु उसका व्याप्य होता है क्योंकि आत्मत्व आत्मा में रहता है इसलिए उसमें आत्मत्व प्रकारक प्रमात्मक ज्ञान होने से आत्मत्वप्रकारक प्रमानिरूपित विशेष्यता उसमें स्वरूप सम्बन्ध से रहती है, किन्तु कालिक सम्बन्ध से नहीं रहती, क्योंकि 'नित्येषु कालिकायोगात्' महाकाल से अतिरिक्त नित्य पदार्थो में कालिक सम्बन्ध नहीं रहता है, ऐसा नियम है। अतएव आत्मत्वप्रकारक प्रमाविशेष्यत्व का कालिकसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव आत्मा में रहता है, इसलिये आत्मत्व उसका व्याप्य होता है। यदि साध्याभावाधिकरणता नियामक सम्बन्ध में प्रतियोगिता अंश में वृत्यन्त्व का निवेश न होगा तो इस स्थल में अव्याप्ति होना ध्रुव है। क्योंकि उक्त साध्य का कालिकसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव आत्मत्व प्रकारक प्रमाविशेष्यतारूप न होकर अतिरिक्त अभाव स्वरूप होता है और उसका स्वरूप सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव साध्य-स्वरूप होता है। क्योंकि उक्त अभाव तृतीय अभाव है और साध्य प्रथम अभाव है, तृतीयाभाव लाघवात् सर्वत्र प्रथमाभाव स्वरूप होता है। अतः उस तृतीयाभाव की प्रतियोगिता भी साध्यसामान्य निरूपित प्रतियोगिता होगी। उस प्रतियोगिता का अवच्छेदक सम्बन्ध होगा, स्वरूप सम्बन्ध, इस सम्बन्ध से साध्याभाव का अधिकरण होगा आत्मा क्योंकि आत्मत्वप्रकारक प्रमा-

विशेष्यता के कालिकसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभावरूप साध्य का साध्यतावच्छेदकीभूत स्वरूपसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव आत्मत्वप्रकारक प्रमाविशेष्यरूप होगा, क्योंकि अभावाभाव प्रतियोगि-स्वरूप होता है अतः साध्यसामान्यनिरूपित उक्त प्रतियोगिता के अवच्छेदक स्वरूप सम्बन्ध से आत्मत्वप्रकारक प्रमाविशेष्यत्व रूप साध्याभाव के अधिकरण आत्मा में आत्मत्व की वृत्ति होने से उक्त स्थल में अव्याप्ति अनिवार्य है। अतः इस अव्याप्ति के परिहार के लिए साध्या-भावाधिकरणता नियामक सम्बन्ध के साध्यसामान्यनिरूपित प्रतियोगिता अंश में साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक साध्याभाव-वृत्तित्व का निवेश आवश्यक है।

यह निवेश करने पर उक्त अव्याप्ति नहीं हो सकती क्योंकि साध्य के कालिकसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव का जो स्वरूप सम्बन्धा-वच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव तन्निरूपित प्रतियोगिता साध्य के कालिक-सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव में वृत्ति है, साध्यतावच्छेदकी-भूत स्वरूपसम्बन्धवच्छिन्न प्रतियोगिताक साध्याभाव में वृत्ति नहीं है क्योंकि साध्य का स्वरूप सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव आत्मत्व-प्रकारक प्रमाविशेष्यतारूप होता है अतएव उसके कालिकसम्बन्धा-वच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव की प्रतियोगिता ही साध्यसामान्यनिरू-पित प्रतियोगिता हो सकती है, न कि उसके स्वरूपसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव की प्रतियोगिता, क्योंकि आत्मत्वप्रकारक प्रमा-विशेष्यत्व रूप साध्याभाव का स्वरूपसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव साध्य स्वरूप नही है। अतः कालिकसम्बन्धावच्छिन्न प्रति-योगिताक आत्मत्वप्रकारक प्रमाविशेष्यत्वाभावरूप साध्य का जो साध्यतावच्छेदकीभूत स्वरूप सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव, उसमें वृत्ति साध्यसामान्यनिरूपित प्रतियोगिता के अवच्छेदक कालिक-सम्बन्ध से आत्मत्वप्रकारक प्रमाविशेष्यत्वरूप साध्याभाव के अधिकरण काल में आत्मत्व की अवृत्ति होने से अव्याप्ति नहीं हो सकती है।

उक्त सम्बन्ध से साध्याभावाधिकरणत्व का निवेश करने पर यह शंका होती है कि ऐसा निवेश करने पर 'अयं घटः एतत्त्वात्' इस स्थल में तादात्म्य सम्बन्ध से घट साध्यक एतत्त्व हेतु में अव्याप्ति होगी।

प्रतियोगितावच्छेदकवत् प्रतियोग्यपि अन्योन्याभावाभावः, तेन तादात्म्यसम्बन्धेन साध्यतायां साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नसाध्याभाववृत्तिसाध्यसामान्यीयप्रतियोगित्वस्य नाप्रसिद्धिः ।

क्योंकि तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक घटाभावरूप साध्याभाव में वृत्ति साध्यासामान्यनिरूपित प्रतियोगिता अप्रसिद्ध होगी, क्योंकि तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक घटाभावरूप साध्याभाव का अभाव घटस्वरूप न होकर घटत्वस्वरूप होगा, क्योंकि अन्योन्याभाव का अभाव अन्योन्याभाव के प्रतियोगितावच्छेदक धर्मस्वरूप होता है । अतः साध्याभावाभाव की प्रतियोगिता साध्यसामान्यनिरूपित प्रतियोगिता नहीं हो सकती है, किन्तु यह ठीक नहीं है । क्योंकि अन्योन्याभाव का अभाव अन्योन्याभाव के प्रतियोगितावच्छेदक धर्म के समान अन्योन्याभाव के प्रतियोगी के भी स्वरूप होता है । अतः घटान्योन्याभावाभाव घटत्व के समान घटस्वरूप भी है । इसलिए घटान्योन्याभाव रूप साध्याभाव में वृत्ति साध्यनिरूपित प्रतियोगिता शब्द से घटान्योन्याभावाभाव निरूपित प्रतियोगिता ली जा सकती है । अतएव उक्त अव्याप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि उक्त प्रतियोगिता के अवच्छेदक स्वरूप सम्बन्ध से घटान्योन्याभावरूप साध्याभाव के अधिकरण पटादि में एतत्त्व हेतु अवृत्ति है ।

अन्योन्याभाव को प्रतियोगितावच्छेदक धर्म के समान प्रतियोगिस्वरूप मानने पर यह शंका होती है कि ऐसा मानने पर घटत्वत्व हेतु से घटान्योन्याभाव को साध्य करने पर घटत्वत्व हेतु में घटान्योन्याभावरूप साध्य के व्याप्ति लक्षण की अव्याप्ति होगी । क्योंकि घटान्योन्याभावाभाव के घटरूप होने से घटान्योन्याभावनिरूपित तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिता भी साध्याभाववृत्ति साध्यसामान्यनिरूपित प्रतियोगिता होगी और उस प्रतियोगिता के अवच्छेदक तादात्म्य सम्बन्ध से घटान्योन्याभावाभावरूप साध्याभाव का अधिकरण घटत्व भी होगा, क्योंकि घटान्योन्याभावाभाव घटत्वस्वरूप भी है । अतः साध्याभावाधिकरण घटत्व में घटत्वत्व हेतु के रहने से अव्याप्ति अनिवार्य है । इसका उत्तर यह कि साध्यसामान्यनिरूपित प्रतियोगिता में अत्यन्ताभावत्व निरूपितत्व अर्थात् तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नत्व का निवेश करने पर उक्त अव्याप्ति नहीं होगी । क्योंकि घटस्वरूप साध्याभाव में जो घटान्योन्याभावरूप

इत्थञ्च अत्यन्ताभावत्वनिरूपितत्वेनापि साध्यसामान्यीयप्रतियोगिता-विशेषणीया, अन्यथा घटान्योन्याभाववान् घटत्वत्वादित्यादौ अव्याप्यत्वापत्तेः, तादात्म्यसम्बन्धस्यापि साध्याभाववृत्तिसाध्यीयप्रतियोगितावच्छेदकत्वात् ।

साध्य की प्रतियोगिता है वह अन्योन्याभावत्व निरूपित अर्थात् तादात्म्य-सम्बन्धावच्छिन्न है । अत्यन्ताभावत्वनिरूपित अर्थात् तादात्म्य सम्बन्धानवच्छिन्न नहीं है । अतः साध्याभाववृत्ति अत्यन्ताभावत्व-निरूपित साध्यसामान्यीय प्रतियोगिता शब्द से घटान्योन्याभावनिरूपित घटनिष्ठ प्रतियोगिता नहीं पकड़ी जा सकती है, किन्तु घटान्योन्याभाव के घटत्वस्वरूप अभाव का जो समवाय सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव तन्निरूपित प्रतियोगिता ही पकड़ी जायगी । क्योंकि वह अभाव भी अभावाभाव की प्रतियोगिरूपता को सिद्ध करने वाली उक्त युक्ति के अनुसार घटान्योन्याभावरूप साध्य के स्वरूप है, किन्तु उस प्रतियोगिता का अवच्छेदक सम्बन्ध तादात्म्य न होकर समवाय होगा और उस सम्बन्ध से घटरूप साध्याभाव के अधिकरण कपाल में अथवा घटत्वरूप साध्याभाव के अधिकरण घट में घटत्व हेतु अवृत्ति है ।

यदि यह शंका की जाय कि अन्योन्याभाव को प्रतियोगितावच्छेदक एवं प्रतियोगि उभयस्वरूप मानने पर तथा साध्यसामान्यनिरूपित प्रतियोगिता में अत्यन्ताभावत्व निरूपितत्व का निवेश करने पर 'घटभिन्नं कपालत्वात्' इस स्थल में कपालत्व हेतु में घटभेद के व्याप्ति लक्षण की अव्याप्ति होगी । क्योंकि साध्याभाव वृत्ति अत्यन्ताभावत्वनिरूपित प्रतियोगिता शब्द से घटत्वस्वरूप साध्याभाव के समवायसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव की प्रतियोगिता पकड़ी जायगी । उस प्रतियोगिता के अवच्छेदक समवाय सम्बन्ध से घट स्वरूप साध्याभाव का अधिकरण कपाल होगा, उसमें कपालत्व हेतु वृत्ति है । इस शंका को निरवकाश करने के लिए लक्षण के स्वरूप को इस प्रकार परिवर्तित करना होगा कि—यादृश साध्याभाव में वृत्ति साध्य सामान्यीय प्रतियोगिता का अवच्छेदक जो सम्बन्ध हो उस सम्बन्ध से तादृश साध्याभावाधिकरण निरूपित वृत्त्यभाव व्याप्ति है । ऐसा करने पर उक्त अव्याप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि उक्त अव्याप्ति समवाय सम्बन्ध से घटस्वरूप साध्याभाव के अधिकरण कपाल को लेकर ही प्रसक्त हो सकती है, किन्तु लक्षण को

उक्त रूप से परिवर्तित कर देने पर उक्त अधिकरण नहीं लिया जा सकता। क्योंकि समवाय सम्बन्ध घटत्वस्वरूप साध्याभाव में वृत्ति साध्यसामान्यीय प्रतियोगिता का ही अवच्छेदक होता है। घटस्वरूप साध्याभाव वृत्ति साध्यसामान्यीय प्रतियोगिता का अवच्छेदक नहीं होता।

अतः समवाय सम्बन्ध से घटस्वरूप साध्याभाव का अधिकरण नहीं पकड़ा जा सकता, किन्तु घटत्वस्वरूप साध्याभाव का ही अधिकरण पकड़ा जायगा और वह अधिकरण कपाल न होकर घट होता है जिसमें कपालत्व अवृत्ति है।

यादृश साध्याभाव तादृश साध्याभाव शब्दों के उपादान से अभिमत अर्थ के अनुसार व्याप्ति का लक्षण इस प्रकार होगा—साध्याभावविशिष्ट आधेयतानिरूपित अधिकरणतावन्निरूपित हेतुतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न वृत्तिसामान्याभाव। आधेयता में साध्याभाव का वैशिष्ट्य दो सम्बन्धों से अपेक्षित है—१. स्ववृत्तित्व २. स्ववृत्ति साध्यसामान्य निरूपित प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्नत्व।

ऐसा करने पर 'घटभिन्नं कपालत्वात्' इस स्थल में कपालत्व में घटभेद के व्याप्ति लक्षण की अव्याप्ति नहीं होगी क्योंकि जो अव्याप्ति बताई गई है वह घटत्व स्वरूप साध्याभाव में वृत्ति साध्यसामान्यनिरूपित प्रतियोगिता के अवच्छेदक समवाय सम्बन्ध से घटस्वरूप साध्याभाव की अधिकरणता को लेकर होती है, किन्तु लक्षण का उक्त रूप से निर्वचन कर देने पर इस प्रकार की अधिकरणता नहीं ली जा सकती, क्योंकि घटस्वरूप साध्याभाव में वृत्ति समवाय सम्बन्धावच्छिन्नाधेयता घटस्वरूप साध्याभाव से अथवा घटत्वस्वरूप साध्याभाव से विशिष्ट नहीं है, क्योंकि घटस्वरूप साध्याभाव में वृत्ति साध्यसामान्यनिरूपित प्रतियोगिता का अवच्छेदक सम्बन्ध समवाय नहीं किन्तु तादात्म्य है और तदवच्छिन्नत्व समवायसम्बन्धावच्छिन्न आधेयता में नहीं है। अतः उक्त आधेयता में घटस्वरूप साध्याभाव का द्वितीय सम्बन्ध न होने से वह उक्त उभय सम्बन्ध से घटस्वरूप साध्याभाव से विशिष्ट नहीं होती। इसी प्रकार उक्त आधेयता घटत्वस्वरूप साध्याभाव से भी विशिष्ट नहीं होती क्योंकि वह घटत्व में वृत्ति न होकर घट में है अतः उसमें घटत्वस्वरूप साध्याभाव का स्ववृत्तित्व सम्बन्ध नहीं है।

यद्वा साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नसाध्याभाववृत्तिसाध्यसामान्यीयनिरुक्तप्रतियोगित्वतदवच्छेदकत्वान्यतरावच्छेदकसम्बन्धेनैव साध्याभावाधिकरणत्वं विवक्षणीयम्, वृत्त्यन्तमन्यतरविशेषणम्; एवञ्च घटान्योन्याभाववान् पटत्वादित्यादौ साध्याभावस्य घटत्वादेः साध्यीयप्रतियोगित्वविरहेऽपि न क्षतिः, तादृशान्यतरस्य साध्यीयप्रतियोगितावच्छेदकत्वस्यैव तत्र सत्त्वात् ।

न च तथापि कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वादित्याद्यव्याप्यवृत्तिसाध्यकसद्धेतौ अव्याप्तिरिति वाच्यम्; निरुक्तसाध्याभावत्वविशिष्टनिरूपिता या

अथवा अन्योन्याभाव के अत्यन्ताभाव का अत्यन्ताभाव प्रतियोगितावच्छेदक स्वरूप ही होता है प्रतियोगिस्वरूप नहीं होता, इस मत को ही आश्रय कर लक्षण का विचार अभिमत है। उक्त दोष का परिहार करने के लिए साध्याभाव की अधिकरणता का नियामक सम्बन्ध साध्यतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक साध्याभाववृत्ति साध्यसामान्यनिरूपित प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध मात्र को न मानकर तादृश साध्याभाव में वृत्ति जो साध्यसामान्यनिरूपित प्रतियोगित्व और साध्यसामान्यनिरूपित प्रतियोगितावच्छेदकत्वान्यतर उस अन्यतर के अवच्छेदक सम्बन्ध को मानना चाहिए। तादृश साध्याभाववृत्तित्व अन्यतर का विशेषण है। ऐसा मानने पर घटान्योन्याभाववान् पटत्वात्' इस स्थल में अव्याप्ति नहीं होगी। क्योंकि वहाँ घटत्वस्वरूप साध्याभाव में यद्यपि साध्यसामान्यनिरूपित प्रतियोगिता नहीं है तथापि साध्यसामान्यनिरूपित प्रतियोगितावच्छेदकता है। अतः तादृश साध्याभाववृत्ति साध्यसामान्यनिरूपित प्रतियोगिता एवं साध्यसामान्यनिरूपित प्रतियोगितावच्छेदकत्व अन्यतर शब्द से प्रतियोगिताववच्छेदककालका ग्रहण होगा और उसका अवच्छेदक सम्बन्ध होगा समवाय और उस सम्बन्ध से घटत्वस्वरूप साध्याभाव का अधिकरण होगा, घट तन्निरूपित वृत्त्यभाव पटत्व में है।

यदि यह कहा जाय कि लक्षण का उक्त रूप से निर्वचन करने पर भी 'कपिसंयोगी एतद् वृक्षत्वात्' इस स्थल में कपिसंयोग के व्याप्य एतद्वृक्षत्व में उक्त व्याप्ति लक्षण की अव्याप्ति होगी क्योंकि कपिसंयोगरूप साध्य अव्याप्य वृत्ति है अर्थात् वृक्ष में कपिसंयोगाभाव के साथ रहता

निरुक्तसम्बन्धसंसर्गकनिरवच्छिन्नाधिकरणता तदाश्रयावृत्तित्वस्य विवक्षितत्वात्। गुणकर्म्मान्यत्वविशिष्टसत्ताभाववान् गुणत्वादित्यादौ सत्त्वात्मकसाध्याभावाधिकरणत्वस्य गुणादिवृत्तित्वेऽपि साध्याभावत्व-विशिष्टनिरूपिताधिकरणत्वस्य गुणाद्यवृत्तित्वान्नाव्याप्तिः।

है अतः कपिसंयोगाभावरूप साध्याभाव का उक्त साध्याभावाधिकरणता नियामक स्वरूप सम्बन्ध से अधिकरण होगा, मूलावच्छेदेन एतद्वृक्ष तन्निरूपित वृत्त्याभाव एतद्वृक्षत्व में नहीं है। किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि साध्याभावाधिकरणता का, निरुक्तसाध्याभावत्वविशिष्ट से निरूपित निरुक्तसम्बन्धावच्छिन्न निरवच्छिन्न अधिकरणता के रूप में प्रवेश कर तदाश्रयनिरूपित वृत्त्यभाव ही उक्त लक्षण वाक्य से विवक्षित है, और वह उक्त हेतु में अक्षुण्ण है, यह निम्न प्रकार से ज्ञातव्य है।

निरुक्त साध्याभाव का अर्थ है—साध्यतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न साध्यतावच्छेदक धर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताक साध्यसामान्याभाव और तादृश साध्याभावत्व विशिष्टनिरूपितत्व का अर्थ है तादृश साध्याभावत्वावच्छिन्नत्व एवं निरुक्त सम्बन्धावच्छिन्नत्व का अर्थ है—साध्यतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक साध्याभाव वृत्ति जो साध्यसामान्यनिरूपित प्रतियोगित्व एवं साध्यसामान्यनिरूपित प्रतियोगितावच्छेदकत्वान्यतर तादृश अन्यतरावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्नत्व एवं निरवच्छिन्नत्व का अर्थ है देश कालानवच्छिन्नत्व, इस प्रकार लक्षण का स्वरूप है—साध्यतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न साध्यतावच्छेदकधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताक साध्याभावत्वावच्छिन्न एवं उक्त साध्याभाववृत्ति साध्यसामान्यनिरूपित प्रतियोगिता, तादृशप्रतियोगितावच्छेदकताऽन्यतरावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न आधेयतानिरूपित देशकालानवच्छिन्न अधिकरणतावन्निरूपित हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न वृत्तिसामान्याभाव। इस लक्षण में दोनों अवच्छिन्नत्व आधेयता का एवं देशकालानवच्छिन्नत्व अधिकरणता का विशेषण है।

साध्याभावनिरूपित अधिकरणता में देशकालानवच्छिन्नत्व का निवेश कर देने से उक्त अव्याप्ति नहीं हो सकती क्योंकि एतद्वृक्ष में कपिसंयोगाभाव एतद्वृक्ष के मूलावच्छेदेन रहता है। अतः एतद्वृक्ष में कपिसंयोगाभाव की मूलदेशावच्छेदेन अधिकरणता देशकालानवच्छिन्न

अधिकरणता नहीं है। अतः कपिसंयोगाभावनिरूपित देशकालानवच्छिन्न अधिकरणतावान् एतद्वृक्ष नहीं होगा किन्तु गुणादि होगा, तन्निरूपित वृत्त्यभाव एतद् वृक्षत्व में है।

आधेयता में जो साध्याभावत्वावच्छिन्नत्व का निवेश किया गया है उसे निकालकर यदि साध्याभावनिष्ठ आधेयता का प्रवेश होगा तो 'गुणकर्मान्यत्वविशिष्ट सत्ताभाववान् गुणत्वात्' इस स्थल में गुणत्व हेतु में गुणकर्मान्यत्वविशिष्ट सत्ताभाव के व्याप्ति लक्षण की अव्याप्ति होगी। क्योंकि गुणकर्मान्यत्वविशिष्ट सत्ताभाव का अभाव गुणकर्मान्यत्वविशिष्ट सत्तास्वरूप होगा क्योंकि द्वितीय अभाव लाघववश प्रथम अभाव के प्रतियोगिस्वरूप होता है और 'विशिष्टं शुद्धान्नातिरिच्यते' = विशिष्ट शुद्ध से भिन्न नहीं होता, इस नियम के अनुसार गुणकर्मान्यत्वविशिष्ट सत्ता और शुद्ध सत्ता एक होगी। अतः गुणकर्मान्यत्वविशिष्ट सत्ताभावाभाव गुणकर्मान्यत्वविशिष्ट सत्तास्वरूप होने से सत्तास्वरूप भी होगा। फलतः साध्याभावनिष्ठ आधेयता शब्द से सत्तात्वावच्छिन्न आधेयता भी ग्रहण की जा सकेगी।

अतः तन्निरूपित अधिकरणता के आश्रय गुण में गुणत्व के विद्यमान होने से अव्याप्ति होना ध्रुव है। किन्तु आधेयता में साध्याभावत्वावच्छिन्नत्व का निवेश करने पर अव्याप्ति नहीं होगी क्योंकि सत्तात्व और गुणकर्मान्यत्वविशिष्ट सत्ताभावाभावत्व दोनों परस्पर में भिन्न हैं इसलिए साध्याभावत्वावच्छिन्न आधेयताशब्द से सत्तात्वावच्छिन्न आधेयता का ग्रहण नहीं किया जा सकता और गुणकर्मान्यत्वविशिष्ट सत्ताभावाभावत्वावच्छिन्न आधेयता निरूपित अधिकरणता गुण में नहीं रहती किन्तु द्रव्य में ही रहती है क्योंकि 'गुणे गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्ताभावो नास्ति' यह प्रतीति नहीं होती अपितु 'द्रव्ये गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्ताभावो नास्ति यही प्रतीति होती है, अतः साध्याभावत्वावच्छिन्न आधेयतानिरूपित अधिकरणतावान् द्रव्य में गुणत्व की अवृत्ति होने से उक्त स्थल में अव्याप्ति नहीं हो सकती।

साध्याभावनिरूपित अधिकरणता में देशकालानवच्छिन्नत्वरूप निरवच्छिन्नत्व का निवेश करने पर यह शंका हो सकती है कि उक्त निवेश करने पर 'कपिसंयोगाभाववान् सत्त्वात्' इस स्थल में सत्ता में

न चैवं कपिसंयोगाभाववान् सत्त्वाद् इत्यादौ निरवच्छिन्नसाध्याभावाधिकरणत्वाप्रसिद्धया अव्याप्तिरिति वाच्यम्, केवलान्वयिनि अभावादित्यनेन ग्रन्थकृतैवास्य दोषस्य वक्ष्यमाणत्वात् ।

न च तथापि कपिसंयोगिभिन्नं गुणत्वादित्यादौ निरवच्छिन्नसाध्याभावाधिकरणत्वाप्रसिद्ध्या अव्याप्तिः, अन्योन्याभावस्य व्याप्यवृत्तित्वनियमवादिनये तस्य केवलान्वय्यनन्तर्गतत्वादिति वाच्यम्; अन्योन्या-

कपिसंयोगाभाव के व्याप्तिलक्षण की अव्याप्ति होगी। क्योंकि इस स्थल में साध्य है कपिसंयोगाभाव, साध्याभाव है कपिसंयोगाभावाभाव; वह लाघवात् कपिसंयोगाभाव के प्रतियोगी कपिसंयोग के स्वरूप है और कपिसंयोग अपने आश्रय में यत्किञ्चिद्देश से अवच्छिन्न होकर ही रहता है। अतः साध्याभावनिरूपित निरवच्छिन्न अधिकरणता की अप्रसिद्धि होने से अव्याप्ति अनिवार्य है।

उपर्युक्त शंका ठीक नहीं हैं क्योंकि कपिसंयोगाभाव कपिसंयोग से शून्य के समान कपिसंयोग के आश्रय में भी रहता है अतः निखिल पदार्थ वृत्ति होने से कपिसंयोगाभाव केवलान्वयी है। अतएव यह स्थल केवलान्वयिसाध्यक सद्हेतुक स्थल है और केवलान्वयिसाध्यक सद्हेतु में 'केवलान्वयिनि अभावात्' इस शब्द से मूल ग्रन्थकार स्वयं प्रस्तुत व्याप्तिलक्षण में अव्याप्ति दोष बतायेंगे। इसलिए जिस दोष को ग्रन्थकार स्वयं स्वीकार करने वाले हैं उस दोष का उद्‌भावना करना उचित नहीं है। जो दोष ग्रन्थकार की दृष्टि में न हो, उसी का प्रदर्शन ग्रन्थकार द्वारा प्रस्तुत किए जानेवाले लक्षण में अग्राह्य होता है। अतएव यह दोष वर्तमान स्थिति में उपेक्षणीय है।

यदि यह कहा जाय कि कपिसंयोगाभाव के केवलान्वयी होने से तत्साध्यक सद् हेतु में अव्याप्ति का प्रदर्शन उचित न होने पर भी 'कपिसंयोगभिन्नं गुणत्वात्' इस स्थल में अव्याप्ति का प्रदर्शन हो सकता है क्योंकि अन्योन्याभाव के व्याप्य वृत्ति स्व-प्रतियोगीं में अवृत्ति होने से कपिसंयोगभेद केवलान्वयी नहीं होता, फलतः इस स्थल में साध्य है कपिसंयोगभेद, साध्याभाव है कपिसंयोगिभेदाभाव और वह लाघवात् कपिसंयोग स्वरूप है क्योंकि अन्योन्याभाव का अभाव लाघवात् सर्वत्र अन्योन्याभाव के प्रतियोगितावच्छेदक स्वरूप होता है। इस प्रकार इस

भावस्य व्याप्यवृत्तितानियमावादिनये अन्योन्याभावान्तरात्यन्ताभावस्य प्रतियोगितावच्छेदकस्वरूपत्वेऽपि अव्याप्यवृत्तिमदन्योन्याभावाभावस्य व्याप्यवृत्तिस्वरूपस्यातिरिक्तस्याभ्युपगमात् तच्च अग्रे स्फुटीभविष्यति।

ननु तथापि समवायादिना गगनादिहेतुके इदं वह्निमद्गगनादित्यादावतिव्याप्तिः, वह्न्यभाववति हेतुतावच्छेदकसमवायादिसम्बन्धेन गगना-

स्थल में साध्याभाव के कपिसंयोग स्वरूप होने से तन्निरूपित निरवच्छिन्न अधिकरणता के अप्रसिद्ध होने के कारण अव्याप्ति अनिवार्य है।

किन्तु यह कथन भी ठीक नहीं है। क्योंकि अन्योन्याभाव व्याप्यवृत्ति होता है इस नियमवादी के मत में अन्य अन्योन्याभाव का अत्यन्ताभाव लाघव के अनुरोध से भले अन्योन्याभाव के प्रतियोगितावच्छेदक-स्वरूप हो किन्तु अव्याप्यवृत्तिमत् के अन्योन्याभाव का अभाव अर्थात् अव्याप्यवृत्तिधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताक अन्योन्याभाव का अभाव प्रतियोगितावच्छेदक स्वरूप नहीं होता क्योंकि अन्योन्याभाव के व्याप्यवृत्तित्व मत में अन्योन्याभाव के अभाव को भी व्याप्यवृत्ति होना ही उचित है। अतः वह अन्योन्याभाव के प्रतियोगितावच्छेदकीभूत अव्याप्यवृत्ति धर्म के स्वरूप नहीं हो सकता किन्तु वह एक अतिरिक्त व्याप्यवृत्ति अभाव स्वरूप ही हो सकता है और यह बात 'सकलसाध्याभाववन्निष्ठ अभाव प्रतियोगित्वम्' इस चौथे लक्षण की व्याख्या के सन्दर्भ में अन्योन्याभाव के व्याप्यवृत्तित्व पक्ष में अव्याप्यवृत्तिधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताक अन्योन्याभाव का अभाव प्रतियोगितावच्छेदकस्वरूप नहीं होता, किन्तु अतिरिक्त व्याप्यवृत्ति रूप होता है क्योंकि उसे प्रतियोगितावच्छेदक स्वरूप मानने पर वृक्ष में मूलावच्छेदेन कपिसंयोगिभेदाभाव का भान नहीं हो सकेगा, क्योंकि कपिसंयोगिभेदाभाव कपिसंयोगस्वरूप होने से मूलावच्छेदेन नहीं रह सकता। यह कहकर स्पष्ट की जायगी। फलतः जब कपिसंयोगिभेदाभाव कपिसंयोग स्वरूप न होकर अतिरिक्त व्याप्यवृत्ति अभावस्वरूप है तो तन्निरूपित निरवच्छिन्न अधिकरणता की अप्रसिद्धि न होने से अव्याप्ति नहीं हो सकती।

व्याप्ति के प्रस्तुत लक्षण में यह शंका होती है कि लक्षण को उक्त रूप में परिष्कृत करने पर भी 'इदं वह्निमत् गगनात्' इस स्थल में समवाय सम्बन्ध से गगन को हेतु करने पर उसमें व्याप्ति लक्षण की अतिव्याप्ति होगी क्योंकि वह्न्यभावरूप साध्याभाव के अधिकरण में गगन हेतुता-

देरवृत्तेः, न च तल्लक्ष्यमेव हेतुतावच्छेदकसम्बन्धेन पक्षधर्म्मत्वाभावाच्चासद्धेतुत्वव्यवहार इति वाच्यम्, तत्रापि व्याप्तिभ्रमेणैवानुमितेरनुभवसिद्धत्वात्; अन्यथा धूमवान् वह्नेरित्यादेरपि लक्ष्यत्वस्य सुवचत्वात् ।

एवं द्रव्यं गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्त्वादित्यादावव्याप्तिः, विशिष्टसत्त्वस्य केवलसत्त्वानतिरेकितया द्रव्यत्वाभाववत्यपि गुणादौ तस्य वृत्तेः, गुणे गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्तेति प्रतीतेः सर्वसिद्धत्वात् ।

वच्छेदक समवाय सम्बन्ध से अवृत्ति है, यतः गगन नित्य द्रव्य है, अतएव वह समवाय सम्बन्ध से नहीं रह सकता, क्योंकि द्रव्य अपने अवयव में ही समवाय सम्बन्ध से रहता है और नित्य द्रव्य का कोई अवयव नहीं होता।

यदि यह कहा जाय कि वह्न्यभाव के अधिकरण में समवाय सम्बन्ध से अवृत्ति होने से वह्निसाध्यकस्थल में समवाय सम्बन्ध से गगनरूप हेतु व्याप्ति लक्षण का लक्ष्य ही है, उसमें असद्हेतुत्व का जो व्यवहार होता है वह व्याप्ति के अभाव से नहीं, किन्तु हेतुतावच्छेदक समवाय सम्बन्ध से पक्ष में अवृत्ति होने से होता है, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि समवाय सम्बन्ध से गगनहेतु द्वारा जो वह्नि को अनुमिति होती है वह व्याप्ति-भ्रम से ही होती है, यह अनुभव है। इस अनुभव के अनुरोध से गगन को वह्नि का अव्याप्य मानना आवश्यक होने से उसे व्याप्ति-लक्षण का लक्ष्य नहीं माना जा सकता। और यदि उक्त अनुभव होने पर भी गगन को वह्नि का व्याप्य माना जायगा तो 'धूमवान् वह्नेः' इस स्थल में वह्नि हेतु में धूमाभावाधिकरण जलह्रदनिरूपित वृत्यभाव एवं धूमाधिकरणवृत्ति जलोभयाभावरूप साध्याभाववन्निरूपित वृत्ति प्रतियोगिक अभाव के रहने से वह्नि को भी धूमव्याप्तिलक्षण का लक्ष्य मानकर साध्याभाववन्निरूपित वृत्तिप्रतियोगिक अभाव में भी व्याप्तित्व का समर्थन हो सकता है। अतः उक्त व्याप्ति लक्षण का साध्याभावाधिकरण-निरूपित वृत्तिसामान्याभावपर्यन्त उक्त परिष्कार व्यर्थ हो जायगा, फलतः समवाय सम्बन्ध से गगन में वह्नि-व्याप्ति-लक्षण की अतिव्याप्ति अनिवार्य है।

इसी प्रकार गुण कर्मान्यत्वविशिष्ट सत्ता हेतु से द्रव्यत्व को साध्य करने पर 'द्रव्यं गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्त्वात्' इस स्थल में गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्ता में द्रव्यत्व व्याप्तिलक्षण की अव्याप्ति होगी, क्योंकि द्रव्यत्वाभावाधिकरण गुणादि में गुणकर्मान्यत्वविशिष्ट सत्ता वृत्ति है जो 'गुणे गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्ता' इस गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्ता में गुणवृत्तित्व

सत्तावान् द्रव्यत्वादित्यादावव्याप्तिश्च सत्ताभाववति सामान्यादौ हेतुतावच्छेदकसमवायसम्बन्धेन वृत्तेरप्रसिद्धेरिति चेत्, न, हेतुतावच्छेदकावच्छिन्नहेत्वधिकरणताप्रतियोगिकहेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नाधेयतानिरूपितविशेषणताविशेषसम्बन्धेन निरुक्तसाध्याभावत्वविशिष्टनिरूपितनिरुक्तसम्बन्धसंसर्गकनिरवच्छिन्नाधिकरणताश्रयवृत्तित्वसामान्याभावस्य विवक्षितत्वात्; वृत्तित्वञ्च न हेतुतावच्छेदकसम्बन्धेन विवक्षणीयम् । अस्ति

को ग्रहण करने वाली प्रतीति से सर्वसम्मत है। उक्त अव्याप्ति के समान ही द्रव्यत्व हेतु से सत्ता को साध्य करने पर 'सत्तावान् द्रव्यत्वात्' इस स्थल में समवाय सम्बन्ध से हेतुभूत द्रव्यत्व में सत्तानिरूपित व्याप्तिलक्षण की अव्याप्ति होगी, क्योंकि सत्ताभावरूप साध्याभाव के अधिकरण सामान्य आदि से निरूपित हेतुतानच्छेदक समवायसम्बन्धावच्छिन्न वृत्ति अप्रसिद्ध है। क्योंकि सामान्य आदि में समवाय सम्बन्ध से किसी वस्तु के न रहने से सामान्य आदि निरूपित समवायसम्बन्धावच्छिन्न वृत्ति नहीं हो सकती।

किन्तु मथुरानाथ ने उक्त शंका का निरास यह कहकर किया है कि साध्याभाववदवृत्तित्व शब्द से हेतुतावच्छेदकावच्छिन्न हेत्वधिकरणता प्रतियोगिक हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न आधेयता निरूपित विशेषणता विशेष सम्बन्ध से निरुक्त साध्याभावत्व विशिष्ट से निरूपित निरवच्छिन्न सम्बन्ध संसर्गक निरवच्छिन्न अधिकरणताश्रयवृत्तिसामान्याभाव विवक्षित है। वृत्ति में हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नत्व विवक्षित नहीं है। इसमें निरुक्त साध्याभावत्वविशिष्ट निरूपित निरुक्त सम्बन्ध संसर्गक निरवच्छिन्न अधिकरणता का अर्थ किया जा चुका है और साध्याभावाधिकरण निरूपित वृत्ति के यत्सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक सामान्याभाव की विवक्षा बताई गई है। उस सम्बन्ध में हेतुतावच्छेदकावच्छिन्न हेत्वधिकरणता प्रतियोगिक का अर्थ है—हेतुतावच्छेदक धर्मावच्छिन्न आधेयतानिरूपित अधिकरणतानिरूपित, और वह हेतुतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न आधेयता का विशेषण है। इसलिए हेतुतावच्छेद धर्मावच्छिन्न आधेयतानिरूपित अधिकरणता से निरूपित हेतुतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न आधेयता शब्द से हेतुतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न हेतुतावच्छेदक धर्मावच्छिन्न आधेयता प्रतियोगिक विशेषणताविशेष सम्बन्ध का लाभ होता है। विशेषणताविशेष का अर्थ है स्वरूप-सम्बन्ध। इसलिए लक्षण का

च सत्तावान् द्रव्यत्वादित्यादौ सत्ताभावाधिकरणताश्रयवृत्तित्वस्य हेतुतावच्छेदकसमवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयतानिरूपितविशेषणताविशेषसम्बन्धेन सामान्याभावो द्रव्यत्वादौ, समवायसमवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयतानिरूपित - विशेषणताविशेषसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकसत्ताभावाधि - करणत्वाश्रयवृत्तित्वाभावस्य व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावतया संयोगसम्बन्धावच्छिन्नगुणाभावादेरिव केवलान्वयित्वात् ।

स्वरूप यह निष्पन्न होता है कि—हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न हेतुतावच्छेदक धर्मावच्छिन्न आधेयता प्रतियोगिक स्वरूप सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक साध्याभावाधिकरणनिरूपित वृत्तिसामान्याभाव, इसमें प्रतियोगिताकत्व पर्यन्त भाग साध्याभावाधिकरणनिरूपित वृत्ति सामान्याभाव का विशेषण है। लक्षण का यह स्वरूप बन जाने पर उक्त दोषों का निवारण हो जाता है, जैसे—'सत्तावान् द्रव्यत्वात्' इस स्थल में सत्ताभावरूप साध्याभाव के अधिकरण सामान्यादि से निरूपित वृत्तित्व का हेतुतावच्छेदकीभूत समवायसम्बन्धावच्छिन्न आधेयता प्रतियोगिक स्वरूप सम्बन्ध से अभाव द्रव्यत्व में है, क्योंकि जैसे संयोग सम्बन्ध गुण का व्यधिकरण सम्बन्ध होता है इसलिए संयोगसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक गुणाभाव केवलान्वयी सर्वत्र वृत्ति होता है। उसी प्रकार सत्ताभावाधिकरण सामान्यादि निरूपित वृत्ति समवाय सम्बन्ध से अवच्छिन्न नहीं होती किन्तु स्वरूप सम्बन्ध से अवच्छिन्न होती है अतएव समवायसम्बन्धावच्छिन्न आधेयतानिरूपित स्वरूप सम्बन्ध उक्त वृत्तित्व का व्यधिकरण सम्बन्ध होता है अतः समवायसम्बन्धावच्छिन्न आधेयतानिरूपित स्वरूपसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक जो सत्ताभावाधिकरणनिरूपित वृत्ति सामान्याभाव वह भी व्यधिकरण सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव हो जाने से, केवलान्वयी हो जाने के कारण द्रव्यत्व में रहता है।

'द्रव्यं सत्त्वात्' इस स्थल में समवाय सम्बन्ध से हेतुभूत सत्ता में द्रव्यत्वनिरूपित व्याप्तिलक्षण को अतिव्याप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि द्रव्यत्वाभावाधिकरण गुणादि में समवाय सम्बन्ध से सत्ता के रहने के कारण समवायसम्बन्धावच्छिन्न आधेयतानिरूपित स्वरूपसम्बन्ध से द्रव्यत्वाभावाधिकरण निरूपित वृत्ति ही सत्ता में रहती है, इसका अभाव नहीं रहता।

द्रव्यं सत्त्वादित्यादौ च द्रव्यत्वाभावाधिकरणगुणादिवृत्तित्वस्यैव समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयतानिरूपितविशेषणताविशेषसम्बन्धेन सत्तायां सत्त्वान्नातिव्याप्तिः, द्रव्यं विशिष्टसत्त्वादित्यादावव्याप्तिवारणाय प्रतियोगिकान्तमाधेयताविशेषणम् ।

साध्याभावाधिकरणवृत्तिसामान्याभाव के उक्त प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध में यदि आधेयता में हेतुतावच्छेदकावच्छिन्न हेत्वधिकरणता प्रतियोगिकत्व अर्थात् हेतुतावच्छेदकधर्मावच्छिन्न आधेयतानिरूपित अधिकरणतानिरूपितत्व का निवेश न कर केवल हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न आधेयता प्रतियोगिक स्वरूप सम्बन्ध से साध्याभावाधिकरणवृत्त्यभाव को व्याप्ति का लक्षण माना जायगा तो 'द्रव्यं विशिष्टसत्त्वात्' इस स्थल में गुणकर्मान्यत्वविशिष्ट सत्ता हेतु में द्रव्यत्वनिरूपित व्याप्ति-लक्षण की अव्याप्ति होगी क्योंकि द्रव्यत्वाभावाधिकरण, गुणनिरूपित वृत्ति समवायसम्बन्धावच्छिन्न आधेयताप्रतियोगिकस्वरूप सम्बन्ध से शुद्ध सत्ता में रहने के कारण गुणकर्मान्यत्वविशिष्ट सत्ता में भी रहती है क्योंकि विशिष्ट शुद्ध से अतिरिक्त नहीं होता।

और जब हेतुतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न आधेयता में उक्त अधिकरणताप्रतियोगिकत्व का निवेश होता है तब हेतुतावच्छेदक धर्मावच्छिन्न हेतुतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न आधेयता प्रतियोगिक स्वरूप सम्बन्ध से साध्याभावाधिकरण निरूपित वृत्ति सामान्याभाव व्याप्ति का लक्षण होता है। अतः उक्त स्थल में अव्याप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि गुणकर्मान्यत्वविशिष्ट सत्ता में जो द्रव्यत्वाभावाधिकरण गुणनिरूपित वृत्ति है, वह सत्तात्व मात्र से अवच्छिन्न है, गुणकर्मान्यत्वविशिष्ट सत्तात्व से अवच्छिन्न नहीं है। अतः गुणकर्मान्यत्वविशिष्ट सत्तात्वावच्छिन्न समवायसम्बन्धावच्छिन्न आधेयता प्रतियोगिक स्वरूप सम्बन्ध उसका व्यधिकरण सम्बन्ध हो जाता है। अतः उक्त सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक द्रव्यत्वाभावाधिकरण निरूपित वृत्ति सामान्याभाव गुणकर्मान्यत्वविशिष्ट सत्ता में रहता है।

वास्तविक बात तो यह है कि प्रस्तुत व्याप्तिलक्षण के निर्माता विद्वान् के मत में गुणकर्मान्यत्वविशिष्ट सत्ता गुणकर्मान्यत्वविशिष्टनिरूपित-आधारता गुणकर्मान्यत्ववैशिष्ट्य सत्तात्व एतदुभय धर्मावच्छिन्न-आधेयतानिरूपित अधिकरणता सम्बन्ध से ही द्रव्यत्व का व्याप्य है न कि

वस्तुतस्तु एतल्लक्षणकर्तृमते विशिष्टसत्त्वं विशिष्टनिरूपिताधारता-सम्बन्धेनैव द्रव्यत्वव्याप्यं न तु समवायसम्बन्धेन तथा च प्रतियोगिकान्त-माधेयताविशेषमनुपादेयमेव, तदुपादाने हेतुतावच्छेदकभेदेन कार्य्य-कारणभावभेदापत्तेः। हेतुतावच्छेदकसम्बन्धेन सम्बन्धित्वे सति इत्यनेनापि विशेषणाद्वह्निमान् गगनादित्यादौ नातिव्याप्तिः।

समवाय सम्बन्ध से, क्योंकि शुद्ध सत्ता में और गुणकर्मान्यत्वविशिष्ट सत्ता में भेद न होने से गुणकर्मान्यत्वविशिष्ट सत्ता समवाय सम्बन्ध से गुण में द्रव्यत्व का व्यभिचारी हो जाती है। उक्त आधारता सम्बन्ध से उसे द्रव्यत्व का व्याप्य मानने में गुण में व्यभिचार की शंका नहीं होती क्योंकि 'गुणः गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्तावान्' यह प्रतीति प्रामाणिक नहीं है अपितु 'द्रव्यं गुणकर्मान्यविशिष्टसत्तावत्' यही प्रतीति प्रामाणिक है, अतः गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्तानिरूपित आधारता सम्बन्ध द्रव्य में ही होता है गुण में नहीं होता। फलतः साध्याभावाधिकरणनिरूपितवृत्त्य-भाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक जो सम्बन्ध बताया गया है उसमें आधेयता अंश में हेतुतावच्छेदकावच्छिन्न हेत्वधिकरणता प्रतियोगिकान्त निवेश अनावश्यक होने से अनुपादेय सिद्ध होता है।

इस प्रकार हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न आधेयतानिरूपित विशेषणताविशेषसम्बन्धावच्छिन्न साध्याभावाधिकरण निरूपित वृत्तिनिष्ठ प्रतियोगितानिरूपक अभाव ही व्याप्ति होती है। व्याप्ति लक्षण में साध्याभावाधिकरणनिरूपित वृत्तिनिष्ठ प्रतियोगिता के अवच्छेदक सम्बन्ध की कुक्षि में हेतुतावच्छेदक का प्रवेश होने पर हेतुतावच्छेदक के भेद होने से अनुमिति और व्याप्ति ज्ञान के कार्यकारणभाव में भेद की आपत्ति होती है। किन्तु अब उक्त प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध की कुक्षि में हेतुतावच्छेदक का प्रवेश न होने से उक्त आपत्ति का अवसर नहीं रह जाता।

किन्तु 'वह्निमान् गगनात्' इस स्थल में गगन में वह्नि व्याप्तिलक्षण की अतिव्याप्ति बनी रहती है। अतः उसके निराकरणार्थं उक्त व्याप्ति-लक्षण में हेतुतावच्छेदक सम्बन्ध से सम्बन्धित्वरूप एक स्वतन्त्र विशेषण का भी सन्निवेश करना आवश्यक है। ऐसा कर देने पर उक्त अतिव्याप्ति नहीं हो सकती। क्योंकि आकाश हेतुतावच्छेदक समवाय सम्बन्ध से कहीं

ननु तथापि उभयत्वमुभयत्रैव पर्य्याप्तं न तु एकत्रेति सिद्धान्तादरे घटत्ववान् घटत्वतदभाववदुभयत्वादौ पर्याप्ताख्यसम्बन्धेन हेतुत्वेऽतिव्याप्तिः घटत्वाभाववति हेतुतावच्छेदकपर्याप्ताख्यसम्बन्धेन हेतोरवृत्तेः। घटो न घटपटोभयमितिवत् घटत्वाभाववान् न घटत्वतदभाववदुभयमित्यपि प्रतीतेरिति चेत्, न, तादृशसिद्धान्तादरे हेतुतावच्छेदकसम्बन्धेन साध्यसमानाधिकरणत्वे सतीत्यनेनैव विशेषणीयत्वादिति। अत एव निविशतां वा वृत्तिमत्त्वं साध्यसामानाधिकरणत्वं वेति केवलान्वयिग्रन्थे दीधितिकृतः।

सम्बद्ध नहीं होता, अतः उसमें उक्त स्वतन्त्र विशेषण का अभाव होने से उसमें व्याप्तिलक्षण के अतिप्रसङ्ग की संभावना नहीं रह जाती।

यदि यह कहा जाय कि व्याप्तिलक्षण में हेतुतावच्छेदकसम्बन्ध से सम्बन्धित्व का निवेश करने पर भी 'घटत्ववान् घटपटोभयत्वात्' इस स्थल में समवाय सम्बन्ध से घटत्व को साध्य और पर्याप्ति सम्बन्ध से घटपटोभयत्व को हेतु करने पर घटपटोभयत्व में घटत्व के व्याप्तिलक्षण की अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि उभयत्व-द्वित्व पर्याप्ति सम्बन्ध से उभय में ही रहता है, एक में नहीं रहता। इस सिद्धान्त के अनुसार घटत्वाभावरूप साध्याभाव के अधिकरण पट में घटपटोभयत्व पर्याप्ति सम्बन्ध से नहीं रह सकता। अतः घटत्वाभावाधिकरण-निरूपित-वृत्ति का पर्याप्तिसम्बन्धावच्छिन्नाधेयता-प्रतियोगिक-स्वरूप-सस्बन्धावच्छिन्न-प्रतियोगिताकअभाव घटपटोभयत्व में है, क्योंकि जैसे 'घटः न घटपटोभयं' इस प्रतीति से घट में पर्याप्ति सम्बन्ध से घटपटोभयत्व का अभाव सिद्ध होता है उसी प्रकार 'घटत्वाभाववान् न घटपटोभयम्' इस प्रतीति से घटत्वाभावाधिकरण में भी पर्याप्ति सम्बन्ध से घटपटोभयत्वाभाव सिद्ध होता है। किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त सिद्धान्त को स्वीकार करने पर व्याप्तिलक्षण में हेतुतावच्छेदक सम्बन्धसे सम्बन्धित्व का निवेश न कर हेतुतावच्छेदक-सम्बन्धंसे साध्यसमानाधिकरणत्व का निवेश करने पर उक्त दोष नहीं हो सकता, क्योंकि हेतुतावच्छेदक पर्याप्ति सम्बन्ध से घटपटोभयत्व जैसे घटत्वाभाव का समानाधिकरण नहीं है उसी प्रकार घटत्व का भी समानाधिकरण नहीं है क्योंकि घटत्व का अधिकरण घटमात्र ही होता है अतः तन्मात्र में उक्त सिद्धान्त के पक्ष में

केचित्तु निरुक्तसाध्याभावत्वविशिष्टनिरूपिता या विशेषणताविशेषसम्बन्धेन यथोक्तसम्बन्धेन वा निरवच्छिन्नाधिकरणता तदाश्रयव्यक्त्यवृत्तिमानं हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नयद्धर्मावच्छिन्नाधिकरणत्वसामान्यं तद्धर्मवत्त्वं विवक्षितम्। धूमवान् वह्नेरित्यादौ पर्वतादिनिष्ठवह्न्यधिकरणताव्यक्तेर्धूमाभावाधिकरणावृत्तित्वेऽपि अयोगोलकनिष्ठवह्न्यधिकरणताव्यक्तेरतथात्वान्नातिव्याप्तिरित्याहुः।

घटपटोभयत्व पर्याप्तिसम्बन्ध से नहीं रहता। इसीलिए दीधितिकार ने केवलान्वयिग्रन्थ में व्याप्ति के इस लक्षण के सम्बन्ध में विचार करते हुए कहा है कि इस लक्षण में वृत्तिमत्त्व का अथवा साध्यसमानाधिकरणत्व का प्रवेश करना चाहिए। उनके इस कथन का आशय यह है कि उभयत्व पर्याप्ति सम्बन्ध से उभय में ही रहता है, प्रत्येक में नहीं रहता है। यदि यह सिद्धान्त नहीं माना जाय तो वृत्तिमत्त्व-मात्र के निवेश से लक्षण-की निर्दोषता सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि घटपटोभयत्व में घटत्वाभावाधिकरण निरूपित वृत्त्यभाव और पर्याप्ति सम्बन्ध से वृत्तिमत्त्व दोनों के रहने से घटत्ववान् घटपटोभयत्वात् इस स्थल में घटपटोभयत्व में घटत्व-निरूपित व्याप्तिलक्षण की अतिव्याप्ति का परिहार नहीं हो सकता। अतः उक्त सिद्धान्त के अभ्युपगम पक्ष में वृत्तिमत्त्व का निवेश न कर हेतुतावच्छेदक सम्बन्ध से साध्याभावाधिकरणवृत्तित्व रूप साध्यसमानाधिकरणत्व का निवेश करना आवश्यक है। 'वह्निमान् गगनात्' इस स्थल में गगन में हेतुतावच्छेदक समवायसम्बन्ध से साध्यसमानाधिकरणत्वरूप विशेषण के न होने से अतिव्याप्ति नहीं हो सकती।

कुछ विद्वानों का यह कहना है कि 'वह्निमान् गगनात्' में अतिव्याप्ति एवं 'द्रव्यं गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्त्वात्' और 'सत्तावान् द्रव्यत्वात्' इन स्थलों में अव्याप्ति एवं 'घटत्ववान् घटपटोभयत्वात्' इस स्थल में अति-व्याप्ति का वारण करने के लिए व्याप्ति लक्षण का परिष्कार अन्य प्रकार से करना चाहिए जैसे—हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न-यद्धर्मावच्छिन्न-आधेयतानिरूपित-अधिकरणतासामान्य में निरुक्त साध्याभावत्व विशिष्टनिरूपित अर्थात् निरुक्त साध्याभावत्वावच्छिन्न आधेयता निरूपित जो विशेषणताविशेषसम्बन्धावच्छिन्न अथवा साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक साध्याभाववृत्ति साध्यसामान्यनिरूपित प्रतियो-

गितावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न निरवच्छिन्न अधिकरणता तादृश अधिकरणताश्रय वृत्तित्वाभाव हो तद्धर्मवत्त्व व्याप्ति है।

लक्षण के पूर्वोक्त स्वरूप की अपेक्षा उसके इस नवीन स्वरूप में यह अन्तर है कि पहले हेतु में साध्याभावाधिकरणनिरूपितवृत्तिता के हेतुतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न आधेयता प्रतियोगिकस्वरूप सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव का निवेश था और प्रस्तुत में हेतुतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न हेतुतावच्छेदक धर्मावच्छिन्न आधेयता निरूपित अधिकरणता में साध्याभावाधिकरण निरूपित स्वरूप सम्बन्धावच्छिन्न वृत्तित्वाभाव का निवेश है। लक्षण का ऐसा परिष्कार कर देने पर उक्त दोष नहीं प्रसक्त हो सकते। जैसे—वह्निमान् गगनात् इस स्थल में हेतुतावच्छेदकीभूत समवायसम्बन्धावच्छिन्न गगनत्वावच्छिन्न आधेयता की अप्रसिद्धि होने से अतिव्याप्ति नहीं हो सकती, एवं समवायसम्बन्धावच्छिन्न गुणकर्मान्यत्वविशिष्ट सत्तात्वावच्छिन्नाधेयता निरूपित अधिकरणता में द्रव्यत्वाभावाधिकरण निरूपित वृत्तित्व का अभाव होने से अव्याप्ति नहीं हो सकती। एवं साध्याभावाधिकरण निरूपित वृत्तिता में हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नत्व का निवेश न होने से तथा समवाय सम्बन्धावच्छिन्न द्रव्यत्वाधिकरणता में सत्ताभावाधिकरण जात्यादिनिरूपित स्वरूप सम्बन्धावच्छिन्न वृत्तिता का अभाव होने से सत्तावान् द्रव्यत्वात् इस स्थल में अव्याप्ति नहीं हो सकती।

इसी प्रकार 'घटत्ववान् घटपटोभयत्वात्' इस स्थल मे भी अतिव्याप्ति नहीं हो सकती क्योंकि घटपटोभयत्व पर्याप्ति सम्बन्ध से व्यासज्यवृत्ति उभयमात्रवृत्ति होता है किन्तु पर्याप्ति सम्बन्धावच्छिन्न घटपटोभयत्वाधिकरणता व्यासज्यवृत्ति नहीं होती। अतः पर्याप्ति-सम्बन्धावच्छिन्न-घटपटोभयत्वाधिकरणता में घटत्वाभावाधिकरण पट निरूपित स्वरूप-सम्बन्धावच्छिन्न वृत्तिता रहती है इसलिए पर्याप्तिसम्बन्धावच्छिन्न हेत्वधिकरणता में घटत्वाभावाधिकरण वृत्तित्वाभाव नहीं रहता।

लक्षण के परिष्कृत प्रस्तुत रूप में यदि हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न यद्धर्मावच्छिन्नाधिकरणता सामान्य में साध्याभावाधिकरणवृत्तित्वाभाव का निवेश न कर केवल हेतुतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न यद्धर्मावच्छिन्नाधिकरणता में साध्याभावाधिकरण वृत्तित्वाभाव का निवेश होगा तो

अन्ये तु हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न-हेतुतावच्छेकावच्छिन्नस्वाधिकरणताश्रयवृत्ति यन्निरवच्छिन्नाधिकरणत्वं तदवृत्तिनिरुक्तसाध्याभावत्वविशिष्टनिरूपित-यथोक्तसम्बन्धावच्छिन्नाधिकरणतात्वकत्वमिति विशेषणविशेष्यभावव्यत्यासे तात्पर्यम्, स्वपदं हेतुपरम्, इत्थञ्च कपिसंयोगाभाववान् सत्त्वात् कपिसंयोगिभिन्नं गुणत्वादित्यादावपि नाव्याप्तिरित्याहुरिति संक्षेपः।

इति प्रथमलक्षणं समाप्तम्।

'धूमवान् वह्नेः' इस स्थल में अतिव्याप्ति होगी क्योंकि हेतुतावच्छेदकीभूत संयोगसम्बन्धावच्छिन्नवह्नित्वावच्छिन्नाधेयतानिरूपित पर्वतनिष्ठ अधिकरणता में धूमाभावाधिकरण वृत्तित्वाभाव है, किन्तु जब तादृश अधिकरणता सामान्यमें साध्याभावाधिकरण निरूपित वृत्तित्वाभाव का निवेश होता है तब अतिव्याप्ति नहीं हो सकती क्योंकि तादृश अधिकरणता सामान्य के अन्तर्गत संयोगसम्बन्धावच्छिन्न वह्नित्वावच्छिन्न आधेयता निरूपित अयोगोलकनिष्ठ अधिकरणता भी आती है और उसमें धूमाभावाधिकरण अयोगोलक निरूपित वृत्तित्व रहता है। अतः संयोगसम्बन्धावच्छिन्न वह्नित्वावच्छिन्न अधिकरणता सामान्य में धूमाभावाधिकरण निरूपित वृत्तित्वाभाव के न रहने से अतिव्याप्ति नहीं हो सकती।

अन्य विद्वान् इस लक्षण का अन्य प्रकार से परिष्कार करते हैं। उनके अनुसार लक्षण का यह स्वरूप होता है कि निरुक्तसाध्याभावत्वावच्छिन्न निरुक्तसम्बन्धावच्छिन्न आधेयतानिरूपित अधिकरणतात्व में हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न हेतुतावच्छेदक धर्मावच्छिन्न स्वनिष्ठ आधेयता निरूपित अधिकरणताश्रयवृत्ति निरवच्छिन्न अधिकरणता निरूपित वृत्तित्वाभाव हो एवंभूत स्व, साध्य का व्याप्य होता है। कुछ विद्वानों की ओर से व्याप्ति लक्षण का जो स्वरूप इसके ठीक पहले बताया गया है उसकी अपेक्षा इस लक्षण में अन्तर यह है कि पूर्वलक्षण में जो विशेषण विशेष्यभाव था वह इस लक्षण में परिवर्तित हो जाता है। जैसे—पहले हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न हेतुतावच्छेदकधर्मावच्छिन्न आधेयता निरूपित अधिकरणता विशेष्य था और साध्याभावाधिकरणता साध्याभावाधिकरण निरूपित वृत्तित्वाभाव रूप विशेषण की कुक्षि में प्रविष्ट थी और अन्य विद्वानों द्वारा प्रस्तुत व्याप्तिलक्षण के स्वरूप में

निरुक्त साध्याभावत्वावच्छिन्न आधेयतानिरूपित अधिकरणतात्व विशेष्य हो गया है और हेतुतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न हेतुतावच्छेदकावच्छिन्न आधेयता निरूपित अधिकरणता तादृश अधिकरणताश्रयवृत्ति निरवच्छिन्नाधिकरणता निरूपित वृत्तित्वाभावरूप विशेषण की कुक्षि में प्रविष्ट हो गई है। और दूसरा अन्तर यह है कि पहले निर्वचन में निरवच्छिन्नत्व का साध्याभावाधिकरणत्व में निवेश है और प्रस्तुत निर्वचन में हेत्वधिकरणवृत्ति अधिकरणता में निरवच्छिन्नत्व का निवेश है। इसके अतिरिक्त इस लक्षण में पूर्व लक्षण की अपेक्षा लाघव भी है। क्योंकि पूर्वलक्षण में हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न हेतुतावच्छेदकधर्मावच्छिन्न आधेयता निरूपित अधिकरणता सामान्य का निवेश होने से साध्याभावाधिकरण निरूपित वृत्तित्वाभाव में हेतुतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न हेतुतावच्छेदक धर्मावच्छिन्न आधेयता निरूपित अधिकरणतात्व व्यापकता का निवेश होता है और प्रस्तुत लक्षण में उक्त अधिकरणता का तादृश अधिकरणताश्रयवृत्ति निरवच्छिन्न अधिकरणत्व निरूपित वृत्तित्वाभाव के प्रतियोगितावच्छेदक कोटि में निवेश है। अतः तादृश अधिकरणता सामान्य का स्वतन्त्र निवेश न होने से लाघव स्पष्ट है। लक्षण के प्रस्तुत निर्वचन में स्वपद हेतु परक है। इस रीति से लक्षण का परिष्कार कर देने पर साध्याभावाधिकरणता में निरवच्छिन्नत्व का निवेश न होने से 'कपिसंयोगाभाववान् सत्त्वात्' एवं 'कपिसंयोगिभिन्नं गुणत्वात्' इन स्थलों में कपिसंयोगरूप साध्याभाव की निरवच्छिन्न अधिकरणता की अप्रसिद्धि होने से व्याप्तिलक्षण के अव्याप्ति की प्रसक्ति नहीं होती यह भी पूर्वलक्षण की अपेक्षा इस लक्षण में एक विशेषता है।

व्याप्ति के प्रथम लक्षण की व्याख्या समाप्त।

व्याप्तेः द्वितीयलक्षणस्य व्याख्या

साध्यवद्भिन्नसाध्याभाववदवृत्तित्वम्

लक्षणान्तरमाह—साध्यवद्भिन्नेति। साध्यवद्भिन्नो यः साध्याभाववान् तदवृत्तित्वमित्यर्थः। कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वादित्याद्यव्याप्यवृत्तिसाध्यकाव्याप्तिवारणाय—साध्यवद्भिन्नेति साध्याभाववतो विशेषणमिति प्राञ्चः, तदसत् साध्याभाववद् इत्यस्य व्यर्थतापत्तेः साध्यवद्भिन्नावृत्तित्वम् इत्यस्यैव सम्यक्त्वात्।

व्याप्ति के द्वितीय लक्षण की व्याख्या

प्रथम व्याप्ति लक्षण के यथाश्रुत अर्थ को ग्रहण करने पर 'कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वात्' इत्यादि स्थलों में अव्याप्ति होती है, क्योंकि कपिसंयोगाभावरूप साध्याभाव का मूलावच्छेदेन अधिकरण एतद्वृक्ष भी हो जाता है अतः उसमें वृत्ति एतद्वृक्षत्व हेतु में साध्याभावाधिकरण निरूपित वृत्त्यभाव नहीं रहता। इसलिए ग्रन्थकार ने व्याप्ति का दूसरा लक्षण प्रस्तुत किया है, और वह लक्षण है—"साध्यवद्भिन्न साध्याभाववदवृत्तित्व"। प्राचीन नैयायिकों ने साध्यवद्भिन्न शब्द का साध्याभाववत् शब्द के साथ कर्मधारय समास मानकर लक्षण की यह व्याख्या की है कि साध्यवद्भिन्न जो साध्याभावाधिकरण तन्निरूपित वृत्त्यभाव व्याप्ति है। इस व्याख्या को स्वीकार करने पर 'कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वात्' इस स्थल में 'अव्याप्ति नहीं होती क्योंकि एतद्वृक्षरूप साध्याभावाधिकरण साध्यवत् से भिन्न नहीं है, क्योंकि एतद्वृक्ष शाखावच्छेदेन कपिसंयोगवान् होता है। अतः साध्यवद्भिन्न साध्याभावाधिकरण गुणादि ही होता है और उसमें एतद्वृक्षत्व अवृत्ति है।

मथुरानाथ ने उक्त रीति से साध्यवद्भिन्न को साध्याभाववत् का विशेषण मानकर की गई व्याख्या को असंगत कहा है। उनका आशय यह है कि यदि साध्यवद्भिन्न को साध्याभाववत् का विशेषण माना जायगा तो साध्याभाववत् का निवेश व्यर्थ हो जायगा। क्योंकि साध्यवद्-

भिन्ननिरूपित वृत्तित्वसामान्याभाव यह लघु लक्षण ही समीचीन हो सकता है।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि "साध्याभाववदित्यस्य व्यर्थतापत्तेः साध्यवद्भिन्नावृत्तित्वमित्यस्यैव सम्यक्त्वात्" इस अंश का यथाश्रुत अर्थ न कर 'साध्याभाववदित्यस्य' इस अंश का 'साध्याभाव इत्यस्य' यह अर्थ और साध्यवद्भिन्नावृत्तित्वम् इस अंश का तादात्म्य सम्बन्ध से साध्यवद्भिन्न विशिष्ट जो धर्मी तदवृत्तित्व यह अर्थ करना उचित होगा। इस प्रकार इस ग्रन्थ का अभिप्राय यह होगा कि साध्यवद्भिन्न साध्याभाववदवृत्तित्वम् इस लक्षण में साध्याभाव यह अंश व्यर्थ है' क्योंकि तादात्म्य सम्बन्ध से साध्यवद्भिन्न विशिष्ट जो धर्मी तन्निरूपित वृत्त्यभाव इतना ही लक्षण समीचीन हो जाता है। ऐसी व्याख्या करने पर साध्यवद्भिन्न साध्याभाववद्वृत्तित्वत्व, तादात्म्य सम्बन्ध से साध्यवद्भिन्नविशिष्टधर्मि-वृत्त्यभावत्व रूप जो स्वसमानाधिकरण एवं स्वेतरभेदरूप प्रकृत साध्य का व्याप्यतावच्छेदक तथा स्वापेक्षया लघुभूतधर्मान्तर उससे घटित होने से व्यर्थ विशेषण घटित हो जाता है, क्योंकि साध्यवद्भिन्नसाध्याभाववदवृत्तित्व का अर्थ होता है साध्यवद्भिन्ननिष्ठ तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न अवच्छेदकताभिन्न, साध्याभावनिष्ठ अवच्छेदकताभिन्न अवच्छेदकत्वानिरूपित, निरूपितत्वसम्बन्धावच्छिन्न अवच्छेदकताभिन्न, वृत्तित्वनिष्ठ अवच्छेदकताभिन्न अवच्छेदकत्वानिरूपित प्रतियोगिताकाभाव, और ऐसा अभाव तादात्म्य सम्बन्ध से साध्यवद्भिन्न विशिष्ट जो धर्मी तन्निरूपित वृत्त्यभाव भी हो जाता है।

किन्तु उक्त ग्रन्थांश का यथाश्रुत अर्थ ग्रहण करने पर उसकी सङ्गति नहीं हो सकती है। क्योंकि साध्यवद्भिन्नावृत्तित्व का अर्थ है साध्यवद्भेदनिष्ठ अवच्छेदकता निरूपित साध्यवद्भिन्ननिष्ठनिरूपितत्व सम्बन्धावच्छिन्न अवच्छेदकता निरूपित वृत्तिनिष्ठ प्रतियोगिताकाभाव। यह अभाव साध्यवद्भिन्ननिष्ठ तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न अवच्छेदकताभिन्न साध्याभावनिष्ठ अवच्छेदकताभिन्न अवच्छेदकत्वानिरूपित निरूपितत्व सम्बन्धवाच्छिन्न अवच्छेदकतानिरूपित वृत्तिनिष्ठ प्रतियोगिताकाभावरूप नहीं हो सकता क्योंकि साध्यवद् भिन्ननिष्ठ तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न अवच्छेदकता भिन्न एवं साध्याभावनिष्ठ अवच्छेदकताभिन्न अवच्छेदकता होगी साध्यवदभेदनिष्ठस्वरूप सम्बन्धावच्छिन्न अवच्छेदकता उससे

नव्यास्तु साध्यवद्भिन्ने साध्याभावः, साध्यवद्भिन्नसाध्याभावः, तद्वदवृत्तित्वमिति सप्तमीतत्पुरुषोत्तरं मतुप्प्रत्ययः। तथा च साध्यवद्भिन्नवृत्तियः साध्याभावस्तद्वदवृत्तित्वमित्यर्थः। एवञ्च साध्यवद्भिन्नवृत्तीत्यनुक्तौ संयोगो द्रव्यत्वादित्यादावव्याप्तिः। संयोगाभाववति द्रव्ये द्रव्यत्वस्य वृत्तेः, तदुपादाने च संयोगवद्भिन्नवृत्तिः, संयोगाभावो गुणादिवृत्तिः, संयोगाभाव एव अधिकरणभेदेन अभावभेदात्, तद्वदवृत्तित्वान्नाव्याप्तिः।

साध्यवदभिन्नवृत्तित्वाभाव की साध्यवद्भिन्ननिष्ठ निरूपितत्वसम्बन्धावच्छिन्ना प्रतियोगितावच्छेदकता निरूपित ही है अनिरूपित नहीं है। अतः साध्यवद्भिन्न साध्याभाववन्निरूपितवृत्त्यभाव को पक्ष कर जब स्वेतर भेद का अनुमान होगा, तब साध्यवद्भिन्ननिरूपितवृत्त्यभाव में स्वेतर भेदरूप साध्य के न रहने से साध्यवद्भिन्न वृत्त्यभावत्व स्वेतर भेदरूप साध्याभाव का व्याप्यतावच्छेदक नहीं होगा। एवं साध्यवद्भिन्न साध्याभाववन्निरूपित वृत्त्यभावत्व का सामानाधिकरण्य भी नहीं होगा। अतः साध्यवद्भिन्ननिरूपिवृत्त्यभवत्व को लेकर साध्यवद्भिन्न साध्याभाववन्निरूपितवृत्यभावत्व में स्वसमानाधिकरण प्रकृत साध्यव्याप्यतावच्छेदक लघुभूत धर्मान्तर घटितत्व रूप व्यर्थविशेषण घटितत्व नहीं हो सकता।

प्राचीनों की उक्त व्याख्या को असंगत बताकर मथुरानाथ ने उक्त लक्षण की नव्य नैयायिकों के द्वारा की गई व्याख्या प्रस्तुत की है। नवीन नैयायिकों के अनुसार साध्यवद्भिन्न शब्द का साध्याभाववत् के साथ कर्मधारय नहीं है, किन्तु साध्याभावशब्द के साथ 'साध्यवद्भिन्ने साध्याभावः' इस प्रकार सप्तमी तत्पुरुष है और उसके उत्तर मतुप् प्रत्यय किया गया है अतः लक्षण वाक्य का अर्थ इस प्रकार है कि साध्यवद्भिन्नवृत्ति जो साध्याभाव, तदधिकरण निरूपित वृत्ति सामान्याभाव।

यदि इस लक्षण में साध्याभाव में साध्यवद्भिन्नवृत्तित्व का निवेश न कर केवल साध्याभावाधिकरण निरूपित वृत्त्यभाव को लक्षण माना जायगा तो 'संयोगी द्रव्यत्वात्' इस स्थल में द्रव्यत्व में संयोगनिरूपित व्याप्तिलक्षण की अव्याप्ति होगी। क्योंकि नव्य नैयायिकों के मत में द्रव्य में संयोगसामान्याभाव रहता है अतः संयोगसामान्याभावरूप साध्याभाव के अधिकरण द्रव्य में द्रव्यत्व के वृत्ति होने से अव्याप्ति सुस्पष्ट है, किन्तु

न च तथापि साध्यवद्भिन्नावृत्तित्वमित्येवास्तु लक्षणं किं साध्याभाववदित्यनेन इति वाच्यम्, यथोक्तलक्षणे तस्य अप्रवेशेन वैयर्थ्याभावात् तस्यापि लक्षणान्तरत्वात् ।

साध्याभाव में साध्यवद्भिन्नवृत्तित्व का निवेश करने पर यह दोष नहीं हो सकता क्योंकि संयोगवद्भिन्नवृत्ति संयोगाभाव गुणादिवृत्तिसंयोगाभाव ही होगा और वह अधिकरण के भेद से अभाव के भेद होने से द्रव्य में न रहकर गुणादि में ही रहेगा। और द्रव्यत्व उसमें अवृत्ति है अतः अव्याप्ति नहीं हो सकती।

यदि यह कहा जाय कि साध्यवद्भिन्नावृत्तित्वम् इतना ही लक्षण माना जाय उसमें साध्याभाववत् का निवेश न किया जाय क्योकि साध्यवद्भिन्नावृत्तित्वम् केवल इतने कथन से ही लक्षण की निर्दोषता सम्पन्न हो जाने से साध्याभाववत् यह अंश व्यर्थ है, किन्तु यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि साध्यवद्भिन्नवृत्ति साध्याभावाधिकरणनिरूपितवृत्त्यभाव इस यथोक्त लक्षण में साध्यवद्भिन्नावृत्तित्वरूप लक्षण का प्रवेश न होने से साध्याभाववत् यह अंश व्यर्थ नहीं हो सकता, किन्तु साध्यवद्भिन्नवृत्ति साध्याभाववदवृत्तित्व और साध्यवद्भिन्नावृत्तित्व ये दोनों ही भिन्न भिन्न स्वतन्त्र लक्षण होंगे।

आशय यह है कि जो स्वसमानाधिकरण प्रकृतसाध्यव्याप्यतावच्छेदक, लघुभूतधर्मान्तर से घटित होता है वही व्यर्थ विशेषण घटित बनता है। जैसे—वह्निसाध्यक अनुमान के लिए नीलधूमत्वरूप से धूमरूप हेतु का 'पर्वतो वह्निमान् नीलधूमात्' इस प्रकार प्रयोग करने पर नीलधूमत्व व्यर्थविशेषणघटित हो जाता है क्योंकि नीलधूमत्व स्वसमानाधिकरण एवं वह्निके व्याप्यतावच्छेदक धूमत्वरूप लघुधर्मान्तर से घटित होता है। प्रकृत में साध्यवद्भिन्नवृत्ति साध्याभाववदवृत्तित्व को व्याप्तिलक्षण मानने पर उसे व्यर्थ विशेषण घटित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि साध्यवद्भिन्नवृत्ति साध्याभाववन्निरूपितवृत्त्यभाव रूप पक्ष में जब साध्यवद्भिन्नवृत्ति साध्याभाववन्निरूपितवृत्त्यभाव को तादात्म्य सम्बन्ध से हेतु करके स्वेतर भेद का अनुमान किया जायगा तब साध्यवद्भिन्नवृत्ति साध्याभाववन्निरूपितवृत्त्यभाव उक्त लक्षणानुसार व्यर्थ विशेषण घटित नहीं होगा, क्योंकि साध्यवद्भिन्नवृत्ति साध्याभाववन्निरूपितवृत्त्यभावत्व

न च तथापि साध्यवद्भिन्नवृत्तिर्यस्तदवद्वृत्तित्वमेवास्तु किं साध्याभावपदेन इति वाच्यम्, तादृशद्रव्यत्वादिमद्वृत्तित्वात् असम्भवापत्तेः। साध्याभावेत्यत्र साध्यपदमप्यत एव, द्रव्यत्वादेरपि द्रव्यत्वाभावाभावत्वात् भावरूपाभावस्य च अधिकरणभेदेन भेदाभावात्।

स्वसमानाधिकरण और स्वेतरभेदरूपसाध्य की व्याप्यता के अवच्छेदक एवं स्वापेक्षया लघुभूत धर्मान्तर से घटित नहीं है, क्योंकि साध्यवद्भिन्नवृत्ति साध्याभाववन्निरूपित वृत्त्यभाव के प्रतियोगितावच्छेदक कोटि में साध्याभाव का प्रवेश होने से और साध्यवद्भिन्ननिरूपित वृत्त्यभाव के प्रतियोगितावच्छेदक कोटि में साध्याभाव का निवेश न होने से दोनों अभाव परस्पर में भिन्न हैं। अतः साध्यवद्भिन्नवृत्ति साध्याभाववन्निरूपित वृत्त्यभावत्व का सामानाधिकरण्य साध्यवद्भिन्ननिरूपितवृत्त्यभावत्व में नहीं है। साथ ही साध्यवद्भिन्नवृत्ति साध्याभाववन्निरूपित वृत्त्यभावरूप पक्षमें स्वेतर भेद का अनुमान करने पर उक्त अभावपरक स्व शब्द से साध्यवद्भिन्ननिरूपित वृत्त्यभाव का ग्रहण न हो सकने से वह अभाव स्वेतर हो जाता है। अतः उक्त अभावत्व स्वेतर भेदरूप साध्य का व्याव्यतावच्छेदक भी नहीं है। एवं साध्यवद्भिन्न वृत्तिसाध्याभाववन्निरूपितवृत्त्यभावत्व साध्यावद्भिन्नवृत्त्यभावत्वत्व से घटित भी नहीं है। अतः साध्याभाव शब्द के साथ साध्यवद्भिन्न शब्द का तत्पुरुष समास मानकर लक्षण की जो व्याख्या होती है उसमें साध्यवद्भिन्नवृत्त्यभावत्व को लेकर स्वसमानाधिकरण, प्रकृत साध्यव्याप्यतावच्छेदक लघुभूतधर्मान्तरघटितत्वरूप व्यर्थ विशेषण घटितत्व का उपपादन नहीं हो सकता।

यदि यह कहा जाय कि साध्याभाव पद का उपादान निष्प्रयोजन है, क्योंकि साध्यवद्भिन्न में वृत्ति जो तद्वन्निरूपित वृत्तिसामान्याभाव को व्याप्ति का लक्षण मान लेने पर भी कोई दोष नहीं होता, क्योंकि साध्यवद्भिन्न में वृत्ति जो भी होगा तद्वान् साध्यवद्भिन्न ही होगा और उसमें हेतु अवृत्ति होगा, तो यह ठीक नहीं है क्योंकि साध्याभाव का प्रवेश न करने पर साध्यवद्भिन्न में वृत्ति द्रव्यत्व आदि के आश्रय पर्वतादि में धूमादि हेतु के वृत्ति होने से वह्निमान् धूमादित्यादि सभी स्थलों में व्याप्ति लक्षण असंभवग्रस्त हो जायगा। केवल साध्य पद को निकाल कर साध्य-

ननु तथापि घटाकाशसंयोग-घटत्वान्यतराभाववान् गगनत्वादित्यादौ घटानधिकरणदेशावच्छेदेन घटाकाशसंयोगाभावस्य गगने सत्त्वात् सद्धेतुतया अव्याप्तिः, साध्यवद्भिन्ने घटे वर्त्तमानस्य साध्याभावस्य घटाकाशसंयोगरूपस्य गगनेऽपि सत्त्वात् तत्र च हेतोर्वृत्तेः। न च साध्यवद्भिन्नवृत्तित्वविशिष्टसाध्याभाववत्त्वं विवक्षितमिति वाच्यम्, साध्याभावपदवैयर्थ्यापत्तेः। साध्यवद्भिन्नवृत्तित्वविशिष्टवदवृत्तित्वस्यैव सम्यक्त्वादिति चेत्, न, अभावाभावस्यातिरिक्तत्वमतेनैतल्लक्षणकरणात्, तथा च अधिकरणभेदेन अभावभेदात् साध्यवद्भिन्ने घटे वर्त्तमानस्य साध्याभावस्य प्रतियोगिव्यधिकरणस्य प्रतियोगिमति गगनेऽसत्त्वादव्याप्तेरभावात्।

वद्भिन्नवृत्ति जो अभावतद्वन्निरूपितवृत्तिसामान्याभाव को भी लक्षण नहीं माना जा सकता, क्योंकि द्रव्यत्व आदि भी द्रव्यत्वाभावाभाव रूप होता है और भावरूप अभाव अधिकरण भेद से भिन्न नहीं होता अतः साध्यवद्भिन्नवृत्ति अभाव शब्द से द्रव्यत्वादि को लेकर वह्निमान् धूमात् इत्यादि स्थलों में उक्त दोष यथापूर्व बना रहेगा। अतएव साध्याभाव का निवेश कर साध्यवद्भिन्नवृत्ति साध्याभाववन्निरूपित वृत्त्यभाव को ही व्याप्ति का लक्षण मानना आवश्यक है।

यदि यह शंका की जाय कि लक्षण में साध्याभाव का निवेश करने पर भी वह दोषमुक्त नहीं हो सकता क्योंकि घटत्व और घटाकाश संयोग एतदन्यतराभावसाध्यक स्थल में गगनत्व हेतु में अव्याप्ति होगी। क्योंकि गगन में घटाकाश संयोग घटाधिकरण भूतलादि देश रूप अवच्छेदक द्वारा ही रहता है, और घटानाधिकरण देशरूप अवच्छेदक द्वारा आकाश में घटाकाश संयोग का अभाव रहता है, अतः उक्त साध्यकस्थल में आकाशत्व सद् हेतु है, वह साध्यवद्भिन्न घट में विद्यमान घटाकाश संयोग रूप साध्याभाव के अधिकरण आकाश में वर्तमान है। यदि इसके उत्तर में यह कहा जाय कि लक्षण में साध्यवद्भिन्नवृत्ति साध्याभाव का निवेश साध्यवद्भिन्नवृत्तित्व विशिष्ट साध्याभावत्व रूप से करके साध्यवद्भिन्नवृत्तित्व विशिष्ट साध्याभाववन्निरूपितवृत्त्यभाव को लक्षण मानने पर उक्त दोष नहीं होगा। क्योंकि तन्निरूपितवृत्तित्व विशिष्ट का आश्रय तत् ही होता है, इस नियम के अनुसार साध्यवद्भिन्न घटवृत्तित्वविशिष्ट घटाकाश संयोगरूप साध्याभाव का अधिकरण घट ही होगा तन्निरूपित

न चैवं साध्याभावेत्यत्र साध्यपदवैयर्थ्यम् अभावाभावस्यातिरिक्तत्वेन द्रव्यत्वादेरभावत्वाभावात् साध्यवद्भिन्नवृत्तिघटाभावादेस्तु हेतुमति असत्त्वात् अधिकरणभेदेन अभावभेदादिति वाच्यम्। यत्र प्रतियोगि-समानाधिकरणत्व—प्रतियोगिव्यधिकरणत्वलक्षणविरुद्धधर्म्माध्यासस्तत्रैव अधिकरणभेदेन अभावभेदाभ्युपगमो न तु सर्वत्र, तथा च साध्यवद्भिन्न-वृत्तिघटाभावादेर्हेतुमत्यपि सत्त्वात् असम्भववारणाय साध्यपदोपा-दानात्।

वृत्त्यभाव आकाशत्व में है, तो यह ठीक नहीं है क्योंकि साध्यवद्भिन्न-वृत्तित्व का विशेषण रूप से प्रवेश करने पर साध्यवद्भिन्नवृत्तित्वविशिष्ट-वन्निरूपितवृत्त्यभाव इतना मात्र कहने पर भी कोई दोष न होने से साध्याभावपद का उपादान व्यर्थ हो जायगा।

किन्तु उक्त शंका ठीक नहीं है, क्योंकि यह लक्षण अभावाभाव को अतिरिक्त मानकर किया गया है और अभाव अधिकरण भेद से भिन्न होता है अतः उक्त स्थल में अव्याप्ति संभव नहीं है क्योंकि साध्यवद्भिन्न घट में विद्यमान जो अभावात्मक साध्याभाव है वह घट में प्रतियोगि-व्यधिकरण है। यतः साध्याभाव का प्रतियोगी उक्त साध्य घट में घटत्व और घटाकाश संयोग एतदन्यतर के विद्यमान होने से घट में नहीं रहता और आकाश में उक्त साध्य के रहने से उसका अभाव प्रतियोगिसमाना-धिकरण है। इसलिए घट और आकाश में रहने वाला साध्याभाव एक नहीं हो सकता। अतः साध्यवद्भिन्न घट में वृत्ति साध्याभाव का अधिकरण आकाश नहीं हो सकता किन्तु घट ही हो सकता है। और उसमें गगनत्व अवृत्ति है। अतः गगनत्व में उक्त साध्य की व्याप्ति के लक्षण की अव्याप्ति असम्भव है।

यदि यह कहा जाय कि उक्त लक्षण में साध्याभाव अंश में साध्य का निवेश व्यर्थ है क्योंकि साध्यवद्भिन्नवृत्ति अभाव शब्द से द्रव्यत्वादि को लेकर प्रसक्त होने वाले असंभव के वारणार्थ ही उसका निवेश होता है, किन्तु यदि अभावाभाव अतिरिक्त है तो द्रव्यत्व आदि में अभावत्व न होने से साध्यवद्भिन्नवृत्ति अभाव शब्द से घटाभाव आदि को ही लिया जायगा और वह अधिकरण भेद से अभाव भेद होने के कारण हेत्वधि-करण में नहीं रहेगा, अतः साध्यवद्भिन्नवृत्ति घटाभावादि के अधिकरण

यद्वा घटाकाशसंयोग-घटत्वान्यतराभावाभावोऽतिरिक्त एव घटाकाशसंयोगादीनामननुगततया तथात्वस्य वक्तुमशक्यत्वात्। घटत्वद्रव्यत्वाद्यभावाभावस्तु नातिरिक्तः, घटत्वद्रव्यत्वादीनामप्यनुगतत्वात्, तथा च द्रव्यत्वादिकमादायासम्भववारणायैव साध्यपदमिति प्राहुरित्यास्तां विस्तरः।

इति द्वितीयलक्षणं समाप्तम्।

जलह्रदादि में धूमादि हेतु के अवृत्ति होने से उक्त दोष न हो सकने के कारण साध्यांश का वैयर्थ्य अपरिहार्य है; तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि जिन अधिकरणों में विद्यमान अभाव में प्रतियोगिसमानाधिकरणत्व और प्रतियोगिव्यधिकरणत्वरूप विरुद्ध धर्म की आपत्ति होती है उन्हीं अधिकरणों में विद्यमान अभाव अधिकरण भेद से भिन्न होता है न कि सभी अधिकरणों में, घटाभाव आदि अभाव को साध्याधिकरण पर्वत आदि में, और साध्यवद्भिन्न जलह्रदादि में एक मानने पर उसमें प्रतियोगिसमानाधिकरणत्व और प्रतियोगिव्यधिकरणत्व-रूप धर्म की प्रसक्ति नहीं होती, क्योंकि उन दोनों ही स्थानों में घटाभाव प्रतियोगिव्यधिकरण ही है। अतः साध्यवद्भिन्न जलह्रदादि में विद्यमान घटाभावादि के अधिकरण पर्वतादि में धूमादि हेतु के रहने से व्याप्ति लक्षण में असंभव दोष की आपत्ति होगी, । इसलिए उसके निवारणार्थ अभावांश में साध्य का निवेश आवश्यक है।

अथवा यह कहना अधिक उचित है कि घटत्व और घटाकाश-संयोग एतदन्यतराभाव का अभाव भी अतिरिक्त ही है, क्योंकि उसे घटत्व और घटाकाश-संयोग एतदन्यतररूप मानने पर घटाकाश के अनुगत संयोग-स्वरूप भी मानना होगा। अतः उसे प्रतियोगिस्वरूप मानने में गौरव है, किन्तु घटत्व, द्रव्यत्व आदि के अनुगत होने से घटत्व द्रव्यत्व आदि के अभावाभाव को घटत्व द्रव्यत्व आदि मानने में लाघव है। अतः अभावांश में साध्यांश का निवेश न करने पर साध्यवद्भिन्न वृत्ति अभाव शब्द से द्रव्यत्वादि को लेने पर साध्यवद्भिन्नवृत्ति अभाव के अधिकरण में हेतु के वृत्ति होने से व्याप्तिलक्षण में असंभव दोष प्रसक्त होगा। अतः उसके वारण के लिए अभावांश में साध्यांश का निवेश आवश्यक है।

इस लक्षण के सम्बन्ध में इससे अधिक विचार अनावश्यक है।

द्वितीय लक्षण की व्याख्या समाप्त।

व्याप्तेः तृतीयलक्षणस्य व्याख्या

साध्यवत्प्रतियोगिकान्योन्याभावासामानाधिकरण्यम् ।

साध्यवत्प्रतियोगिकान्योन्याभावेति । हेतौ साध्यवत्प्रतियोगिकान्योन्याभावाधिकरणवृत्तित्वाभाव इत्यर्थः । अन्योन्याभावश्च प्रतियोग्यवृत्तित्वेन विशेषणीयः, तेन साध्यवतो व्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकान्योन्याभाववति हेतोर्वृत्तावपि नाऽसम्भवः ।

व्याप्ति के तृतीय लक्षण की व्याख्या

व्याप्ति का तीसरा लक्षण है साध्यवत्प्रतियोगिक अन्योन्याभाव का असामानाधिकरण्य—साध्यवत्प्रतियोगिक अन्योन्याभावाधिकरणनिरूपित वृत्त्यभाव । इसका अर्थ है—साध्यवत्प्रतियोगिक अन्योन्याभाव के अधिकरण में अवृत्तित्व, जैसे 'वह्निमान् धूमात्' इस स्थल में साध्यवत्प्रतियोगिक अन्योन्याभाव है 'वह्निमान् न' इत्याकारक प्रतीतिसिद्ध अन्योन्याभाव—वह्निमद् भेद, उसके अधिकरण जलह्रद आदि में धूम के अवृत्ति होने से धूम वह्नि का व्याप्य है ।

इस लक्षण में साध्यवत्प्रतियोगिक अन्योन्याभाव में स्वप्रतियोग्यवृत्तित्व का निवेश आवश्यक है, अन्यथा साध्यवत्प्रतियोगिक अन्योन्याभाव शब्द से 'वह्निमत् घटोभयं न' इत्याकारक प्रतीतिसिद्ध वह्निमत् घटनिष्ठ उभयत्वरूप व्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताक अन्योन्याभाव भी लिया जा सकता है, और उसके अधिकरण पर्वतादि में धूम वृत्ति है । अतः उक्त रीति से सर्वत्र सद्हेतु में उक्त व्याप्तिलक्षण असंभवग्रस्त होगा । साध्यवत्प्रतियोगिक अन्योन्याभाव में स्वप्रतियोग्यवृत्तित्व का निवेश करने पर 'वह्निमद्घटोभयं न' इत्याकारक प्रतीतिसिद्ध अन्योन्याभाव नहीं लिया जा सकता है, क्योंकि वह अन्योन्याभाव अपने प्रतियोगिवह्निमत् और घट में विद्यमान होने से स्वप्रतियोग्यवृत्ति नहीं है ।

यदि यह कहा जाय कि साध्यवत्प्रतियोगिक अन्योन्याभाव में स्वप्रतियोग्यवृत्तित्व का निवेश करने पर भी अनेक अधिकरणों में विद्यमान

ननु एवमपि नानाधिकरणकसाध्यके वह्निमान् धूमादित्यादौ साध्याधिकरणीभूततत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नप्रतियोगिकान्योन्याभाववति हेतोर्वृत्तेरव्याप्तिर्दुर्वारा इति प्रतियोग्यवृत्तित्वमपहाय साध्यवत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकान्योन्याभावविवक्षणे तु पञ्चमेन सह पौनरुक्त्यमिति चेत्, न, वक्ष्यमाणकेवलान्वय्यव्याप्तिवदस्यापि अत्र दोषत्वात् ।

वह्न्यादि रूप साध्य का धूमादि हेतु से अनुमान करने पर धूमादि हेतु में वह्न्यादिनिरूपित व्याप्तिलक्षण की अव्याप्ति होगी, क्योंकि स्वप्रतियोगी में अवृत्ति साध्यवत्प्रतियोगिक अन्योन्याभाव शब्द से वह्नि के तत्तदधिकरण का तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक भेद भी पकड़ा जा सकता है और उसके अधिकरण अन्य साध्याधिकरण में धूम विद्यमान है, और यदि इस दोष के परिहारार्थ साध्यवत्प्रतियोगिक अन्योन्याभाव में स्वप्रतियोग्यवृत्तित्व का परित्याग कर साध्यवत्त्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अन्योन्याभाव का प्रवेश किया जायगा तो तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अन्योन्याभाव का ग्रहण न हो सकने से वह्निसाध्यक धूमहेतु में अव्याप्ति का परिहार तो अवश्य हो जायगा, किन्तु इस लक्षण की पञ्चम लक्षण से पुनरुक्ति हो जायगी, क्योंकि पञ्चम लक्षण में भी साध्यवत्त्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अन्योन्याभाव का ही निवेश है, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि प्रकृतलक्षण में स्वप्रतियोग्यवृत्तिसाध्यवत्प्रतियोगिक अन्योन्याभाव का ही निवेश है, अतः पञ्चम लक्षण से इसकी पुनरुक्ति नहीं होगी, किन्तु 'वह्निमान् धूमात् इत्यादि स्थल में साध्यवत्प्रतियोगिक अन्योन्याभाव शब्द से तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकान्योन्याभाव को लेकर जो अव्याप्तिदोष प्रदर्शित किया गया है उससे इस लक्षण को दोषग्रस्त बताना लक्षणकार के अपकर्ष का सूचक नहीं हो सकता, क्योंकि जैसे अन्य व्याप्तिलक्षणों में केवलान्वयिसाध्यकसद्हेतु में अव्याप्तिदोष लक्षणकार को मान्य है उसी प्रकार प्रकृतलक्षणमें उक्त दोष भी लक्षणकार को मान्य है। अतः लक्षणकार का अपकर्ष ऐसे ही दोषों के उद्भावन से हो सकता है जो लक्षणकार की दृष्टि में नहीं है, किन्तु ऐसा कोई दोष प्रकृतलक्षण में नहीं है।

यदि यह कहा जाय कि उक्त रीति से वह्निसाध्यक धूमहेतु में अव्याप्तिदोष का अभ्युपगम कर लेने पर भी प्रकृतलक्षण में एक दोष अपरिहार्य है और वह दोष यह है कि ग्रन्थकार ने इन सभी लक्षणों में

न च तथापि साध्यवत्प्रतियोगिकान्योन्याभावमात्रस्यैव एतल्लक्षण-घटकत्वे वक्ष्यमाणकेवलान्वय्यव्याप्तिरत्रासङ्गता, केवलान्वयिसाध्यकेऽपि साध्याधिकरणीभूततत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकान्योन्याभावस्य प्रसिद्धत्वादिति वाच्यम् । तत्रापि तादृशान्योन्याभावस्य प्रसिद्धत्वेऽपि तद्वति हेतोर्वृत्तेरेव अव्याप्तेर्दुर्वारत्वात् ।

केवलान्वयिसाध्यकसद्हेतु में अव्याप्ति प्रदर्शित की है, पर वह अव्याप्ति प्रकृतलक्षण में असंगत है, क्योंकि प्रकृतलक्षण में जब साध्यवत्प्रतियोगिक अन्योन्याभाव का ही निवेश होगा तब केवलान्वयिसाध्यकसद्हेतु स्थल में साध्यवत्प्रतियोगिक अन्योन्याभाव की अप्रसिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि साध्यवत्प्रतियोगिक अन्योन्याभाव शब्द से वाच्यत्व आदि केवलान्वयि-साध्य के जो तत्तदधिकरण हैं उनका तत्तव्यक्तित्वावच्छिन्न प्रतियोगिताव भेद गृहीत हो सकता है, किन्तु यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ग्रन्थकार ने केवलान्वयिसाध्यकसद्हेतु में अव्याप्ति बताई है किन्तु यह नहीं कहा है कि उन सभी लक्षणों में अव्याप्ति एक ही प्रकार से होगी, अतः जिन लक्षणों में साध्यसामान्याभाव या साध्यवत्सामान्य के अन्योन्याभाव का प्रवेश है उन लक्षणों में तत्तदभाव की अप्रसिद्धि होने से केवलान्वयि-साध्यकसद्हेतु में अव्याप्ति होगी, किन्तु प्रकृतलक्षण में अप्रसिद्धि के कारण अव्याप्ति नहीं होगी, अपितु तत्तद्व्यक्ति-भेदस्वरूप साध्यवत्प्रतियोगिक अन्योन्याभाव के अधिकरण अन्य व्यक्तियों में हेतु के विद्यमान होने से हेतु में साध्यवत्प्रतियोगिक अन्योन्याभावाधिकरण निरूपित वृत्तित्वाभाव के संभव न होने से अव्याप्ति होगी। अतः केवलान्वयिसाध्यकसद्हेतु में वक्ष्यमाण अव्याप्ति की प्रकृतलक्षण में भी असंगति नहीं हो सकती।

अथवा इस लक्षण के सम्बन्ध में यह भी कहा जा सकता है कि साध्यवत्प्रतियोगिक अन्योन्याभाव शब्द से साध्यवत्त्वावच्छिन्न प्रतियो-गिताक अन्योन्याभाव ही विवक्षित है। अतः 'वह्निमान् धूमाद् इत्यादि स्थल में साध्याधिकरण तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक भेद को लेकर अव्याप्ति नहीं हो सकती और पञ्चम लक्षण के साथ प्रकृत लक्षण का अभेद न होने से पुनरुक्ति भी नहीं हो सकती, क्योंकि "साध्यवदन्या-वृत्तित्वम्" इस पञ्चम लक्षण में साध्यवदन्य का साध्यवत्त्वावच्छिन्न प्रति-योगिताक अन्योन्याभाववत्त्व रूप से ही प्रवेश है, किन्तु साध्यत्वप्रति-योगिक अन्योन्याभावासामानाधिकरण्य रूप प्रकृत लक्षण में साध्यवत्प्रति-

यद्वा साध्यवत्प्रतियोगिकान्योन्याभावपदेन साध्यवत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगितकान्योन्याभाव एव विवक्षितः, न चैवं पञ्चमाभेदः, तत्र साध्यवत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकान्योन्याभाववत्त्वेन प्रवेशः, अत्र तु तादृशान्योन्याभावाधिकरणत्वेन इत्यधिकरणत्वप्रवेशाप्रवेशाभ्यामेव भेदात्। अखण्डाभावघटकतया च नाधिकरणत्वांशस्य वैयर्थ्यमिति न कोऽपि दोष इति दिक्।

इति तृतीयलक्षणं समाप्तम्।

योगिक अन्योन्याभावाधिकरण का साध्यवत्त्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अन्योन्याभाव निरूपित अधिकरणत्व रूप से प्रवेश है।

इस प्रकार प्रकृत लक्षण में अधिकरणत्व का प्रवेश और पञ्चम लक्षण में अधिकरणत्व का प्रवेश न होने से दोनों में भेद स्पष्ट है। उक्त रीति से दोनों लक्षणों में पार्थक्य की व्यवस्था करने पर यदि यह शंका की जाय कि प्रकृतलक्षण में भी साध्यवत्प्रतियोगिक अन्योन्याभावाधिकरण का साध्यवत्त्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अन्योन्याभावरूप से निवेश करने पर कोई दोष नहीं होता, अतः प्रकृत लक्षण में अधिकरणत्व-निवेश के व्यर्थ होने से प्रकृत लक्षण व्यर्थविशेषण घटित है, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि अधिकरणत्व से अघटित साध्यवत्त्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अन्योन्याभाववन्निरूपित वृत्त्यभाव और अधिकरणत्व से घटित साध्यवत्त्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अन्योन्याभावाधिकरण निरूपित वृत्त्यभाव, ये दोनों अभाव परस्पर भिन्न हैं। अतः अखण्डाभाव—अतिरिक्त अभाव का घटक होने से प्रकृत लक्षण में अधिकरणत्व के निवेश का वैयर्थ्य नहीं हो सकता।

कहने का आशय यह है कि प्रकृत लक्षण का स्वरूप है—साध्यवत्त्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अन्योन्याभावनिरूपित अधिकरणत्वनिष्ठ अवच्छेदकताभिन्न अवच्छेदकता से अनिरूपित, निरूपितत्वसम्बन्धावच्छिन्न अवच्छेदकता निरूपितवृत्तिनिष्ठ प्रतियोगिताक अभाव। अतः ईदृश अभावत्व साध्यवत्त्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अन्योन्याभाववन्निरूपित वृत्त्यभाव में नहीं है, क्योंकि साध्यवत्त्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अन्योन्याभाववान् में जो उस अभाव की प्रतियोगितावच्छेदकता है वह साध्यवत्त्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अन्योन्याभावनिरूपित अधिकरणत्वनिष्ठ अवच्छेदकता से भिन्न साध्यवत्त्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अन्योन्याभावनिष्ठ-

स्वरूप सम्बन्धावच्छिन्न अवच्छेदकता से निरूपित ही है, अतः साध्यवत्त्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अन्योन्याभाववन्निरूपित वृत्त्यभाव में साध्यवत्त्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अन्योन्याभावाधिकरण निरूपित वृत्त्यभावत्व नहीं है ।

अतः साध्यवत्त्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अन्योन्याभाववन्निरूपित वृत्त्यभावत्व के साध्यवत्त्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अन्योन्याभावाधिकरण-निरूपित वृत्त्यभावत्व का समानाधिकरण न होने से प्रकृत लक्षण में स्वसमानाधिकरण प्रकृतसाध्यव्याप्यतावच्छेदक लघुभूत धर्मान्तरघटितत्व रूप व्यर्थ विशेषण घटितत्व नहीं हो सकता ।

तृतीय लक्षण की व्याख्या समाप्त ।

व्याप्तेः चतुर्थलक्षणस्य व्याख्या

सकलसाध्याभाववन्निष्ठाभावप्रतियोगित्वम् ।

सकलेति। साकल्यं साध्याभाववतो विशेषणम्, तथा च यावन्ति साध्याभावाधिकरणानि तन्निष्ठाभावप्रतियोगित्वं हेतोर्व्याप्तिरित्यर्थः ।

धूमाद्यभाववज्जलह्रदादिनिष्ठाभावप्रतियोगित्वाद् वह्न्यादावतिव्याप्तिरिति यावदिति साध्याभाववतो विशेषणम्। साध्याभावविशेषणत्वे तत्तद्ह्रदावृत्तित्वादिरूपेण यो वह्न्याद्यभावस्तस्यापि सकलसाध्याभावत्वेन प्रवेशात् तावदधिकरणाप्रसिद्धया असम्भवापत्तेः ।

व्याप्ति के चतुर्थ लक्षण की व्याख्या

सकलसाध्याभाववन्निष्ठ अभाव प्रतियोगित्व यह व्याप्ति का चतुर्थ लक्षण है। इसे व्यतिरेक व्याप्ति भी कहा जा सकता है। इसमें साकल्य साध्याभाववान् का विशेषण है। साकल्य का अर्थ है—यावत्त्व। अतः इस लक्षण का अर्थ है—साध्याभाव के जितने अधिकरण हों उन सभी अधिकरणों में विद्यमान अभाव का प्रतियोगित्व। यह प्रतियोगित्व ही हेतु में साध्य की व्याप्ति है। जैसे—'वह्निमान् धूमात्' इस स्थल में साध्याभाव है वह्न्यभाव, जलह्रद आदि; उसके जितने भी अधिकरण हैं उन सभी अधिकरणों में धूमाभाव विद्यमान है और उस अभाव का प्रतियोगित्व धूम में है।

प्रस्तुत व्याप्ति लक्षण में यदि साध्याभाववान् में साकल्य-यावत्त्व विशेषण न देकर केवल साध्याभाववन्निष्ठ अभाव प्रतियोगित्व को ही व्याप्ति का लक्षण माना जायगा तो 'धूमवान् वह्नेः' इत्यादि स्थलों में अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि धूमाभाव के अधिकरण जलह्रदादि में विद्यमान वह्न्यभाव का प्रतियोगित्व वह्नि में है। किन्तु साध्याभाववान् में साकल्य का निवेश करने पर यह दोष नहीं होगा, क्योंकि सकलसाध्याभाववान् के अन्तर्गत तप्तअयःपिण्ड भी आता है और उसमें वह्न्यभाव के विद्यमान न होने से वह्नि में सकलसाध्याभाववन्निष्ठाभावप्रतियोगित्व नहीं रह सकता।

न च द्रव्यं सत्त्वादित्यादौद्रव्यत्वाभाववति गुणादौ सत्वादेर्विशिष्टाभावादिसत्त्वादतिव्याप्तिरिति वाच्यम्, तादृशाभावप्रतियोगितावच्छेदक-हेतुतावच्छेदकवत्त्वस्येह विवक्षितत्वात्। प्रतियोगिता च हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्ना ग्राह्या, तेन द्रव्यत्वाभाववति गुणादौ सत्तादेः संयोगादिसम्बन्धावच्छिन्नाभावसत्त्वेऽपि नातिव्याप्तिः।

यदि साकल्य को साध्याभाववान् का विशेषण न बनाकर साध्याभाववान् की अपेक्षा प्रथमोपस्थित साध्याभाव का ही विशेषण माना जायगा तो लक्षण का अर्थ होगा—जितने साध्याभाव हों उन सभी के अधिकरणों में विद्यमान अभाव का प्रतियोगित्व, किन्तु ऐसा लक्षण मानने पर 'वह्निमान् धूमात्' इत्यादि स्थल में असंभव हो जायगा। क्योंकि साध्याभाव शब्द का अर्थ है—साध्यप्रतियोगिक अभाव, अतः सकल साध्यभाव के अन्तर्गत जैसे वह्न्यभाव आता है वैसे 'तत्तद्ह्रदावृत्तिर्नास्ति इस प्रतीति से सिद्ध अभाव भी आयेगा, क्योंकि यह अभाव की तत्तद्ह्रदावृत्तित्व रूप से साध्य प्रतियोगिक अभाव है, और उन सभी साध्याभावों का एक अधिकरण अप्रसिद्ध है। क्योंकि 'तद्ह्रदावृत्तिर्नास्ति' यह अभाव तद्ह्रद में रहता है और अन्य 'तदह्रदावृत्तिर्नास्ति' यह अभाव अन्य तद्ह्रद में रहता है। अतः इन सभी अभावों का एक अधिकरण नहीं हो सकता। अतएव सकल साध्याभाव के अधिकरण की अप्रसिद्धि होने से असंभव की आपत्ति अनिवार्य है।

यदि यह कहा जाय कि 'द्रव्यं सत्त्वात्' इस स्थल में गुण और कर्म में द्रव्यत्व के व्यभिचारी सत्ता में द्रव्यत्व के व्याप्ति लक्षण की अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि द्रव्यत्वाभावरूप साध्याभाव के गुणादिरूप अधिकरण में गुणकर्मान्यत्वविशिष्ट सत्तात्वरूप से सत्ता का अभाव है, इसलिए सत्ता में सकलसाध्याभावाधिकरण में विद्यमान अभाव का प्रतियोगित्व है, किन्तु यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि सकलसाध्याभावाधिकरण में विद्यमान अभाव के प्रतियोगितावच्छेदकत्व का हेतुतावच्छेदक में निवेश करके सकलसाध्याभावाधिकरणनिष्ठ अभाव प्रतियोगितावच्छेदक हेतुतावच्छेदकवत्त्व को व्याप्ति का लक्षण मान लेने पर उक्त अव्याप्ति नहीं हो सकती। क्योंकि द्रव्यत्वाभावाधिकरण में विद्यमान गुणकर्मान्यत्वविशिष्ट सत्ताभाव का प्रतियोगितावच्छेदकत्व सत्तात्वरूप हेतुतावच्छेदक में नहीं

साध्याभावश्च साध्यतावच्छेदकावच्छिन्नसाध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताको ग्राह्यः, अन्यथा पर्वतादावपि वह्न्यादेर्विशिष्टाभावादिसत्त्वेन समवायादिसम्बन्धावच्छिन्नवह्न्यादिसामान्याभावसत्त्वेन च यावदन्तर्गततया तन्निष्ठाभावप्रतियोगित्वाभावाद् धूमस्यासम्भवः स्यात् ।

है, इसी प्रकार प्रतियोगिता में हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नत्व का निवेश भी आवश्यक है। क्योंकि यदि यह निवेश नहीं किया जायगा तो 'द्रव्यं सत्त्वात्' इस स्थल में अतिव्याप्ति अनिवार्य होगी। क्योंकि द्रव्यत्वाभाव के अधिकरण गुणादि में सत्ता का संयोगसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव रहता है। अतः सत्ता में सकलसाध्याभाववन्निष्ठाभावप्रतियोगित्व विद्यमान है। किन्तु प्रतियोगिता में हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नत्व का निवेश कर देने पर यह दोष नहीं हो सकता, क्योंकि हेतुतावच्छेदकीभूत समवायसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक सत्ताभाव गुणादि में नहीं रहता है। और सत्ता का जो संयोगसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव गुणादि में होता है उसकी प्रतियोगिता हेतुतावच्छेदक समवाय सम्बन्ध से अवच्छिन्न नहीं है।

साध्याभाव का अर्थ है साध्यतावच्छेदकधर्मावच्छिन्न साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव। यदि प्रतियोगिता में साध्यतावच्छेदकधर्मावच्छिन्नत्व का निवेश न कर साध्यनिष्ठत्व का निवेश किया जायगा तो वह्नि का विशिष्टाभाव अर्थात् महानसीयत्व विशिष्ट वह्नि का अभाव एवं वह्निघटोभयाभाव भी साध्यनिष्ठ प्रतियोगिताक अभाव होगा, उसके अधिकरण पर्वतादि में धूमाभाव के न रहने से 'वह्निमान् धूमात्' इस स्थल में धूम में व्याप्तिलक्षण की अव्याप्ति हो जायगी।

एवं प्रतियोगिता में साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नत्व का निवेश न करने पर वह्नि का समवाय सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव भी पकड़ा जायगा और उसका भी अधिकरण होगा पर्वतादि, उसमें धूमाभाव के न रहने से पुनः उसी स्थल में अव्याप्ति होगी। यहाँ यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि साध्यतावच्छेदक धर्मावच्छिन्नत्व का अर्थ है साध्यतावच्छेदक धर्मेतरधर्मानवच्छिन्न एवं साध्यतावच्छेदक धर्मावच्छिन्न एवं साध्यतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न का भी अर्थ है साध्यतावच्छेदकसम्बन्धेतरसम्बन्धानवच्छिन्न एवं साध्यतावच्छेदकसम्ब-

न च कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वाद् इत्यादौ एतद्वृक्षस्यापि तादृश-साध्याभाववत्त्वेन यावदन्तर्गततया तन्निष्ठाभावप्रतियोगित्वाभावादेतद्-वृक्षत्वस्याव्याप्तिरिति वाच्यम्, किञ्चिदनवच्छिन्नायाः साध्याभावाधि-करणताया इह विवक्षितत्वात्। इत्थञ्च किञ्चिदनवच्छिन्नायाः कपि-संयोगाभावाधिकरणताया गुणादावेव सत्त्वात् तत्र च हेतोरप्यभाव-सत्त्वान्नाव्याप्तिः।

न्धावच्छिन्न। यदि यह अर्थ नहीं किया जायगा तो साध्यतावच्छेदक-धर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव पद से महानसीय वह्न्यभाव एवं वह्निघटोभयाभाव को लेकर अव्याप्ति होगी, क्योंकि महानसीय वह्न्यभाव की प्रतियोगिता एवं वह्निघटोभयाभाव की प्रतियोगिता भी वह्नित्व से अवच्छिन्न है। किन्तु साध्यतावच्छेदकधर्मेतर धर्मानवच्छिन्नत्व का प्रति-योगिता में निवेश करने पर उक्त अभाव नहीं पकड़े जा सकेंगे, क्योंकि महानसीय वह्न्यभावीय प्रतियोगिता साध्यतावच्छेदक धर्म वह्नित्व से इतर महानसीयत्व से अवच्छिन्न है। एवं वह्निघटोभयाभाव की प्रति-योगिता घटत्व और उभयत्व धर्म से अवच्छिन्न होने के कारण साध्यता-वच्छेदक धर्मेतर धर्म से अनवच्छिन्न नहीं है।

इसी प्रकार प्रतियोगिता में साध्यतावच्छेदकसम्बन्धेतरसम्बन्धाव-च्छिन्नत्व का निवेश न कर साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नत्वमात्र का निवेश करने पर 'संयोगसमवाय उभयसम्बन्धेन वह्निर्नास्ति' इत्याकारक प्रतीतिसिद्ध अभाव को लेकर उक्त स्थल में अव्याप्ति होगी, क्योंकि उस अभाव की भी प्रतियोगिता साध्यतावच्छेदकीभूत संयोग सम्बन्ध से अवच्छिन्न है, किन्तु प्रतियोगिता में साध्यतावच्छेदकसम्बन्धेतरसम्बन्धा-नवच्छिन्नत्व का निवेश करने पर यह दोष नहीं होगा, क्योंकि उक्त अभाव की प्रतियोगिता साध्यतावच्छेदकसम्बन्धसंयोग से इतर समवाय सम्बन्ध से भी अवच्छिन्न होने के कारण साध्यतावच्छेदकसम्बन्धेतर सम्बन्धानवच्छिन्न नहीं है।

यदि यह कहा जाय कि यह लक्षण 'कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वात्' इस स्थल में कपिसंयोगसाध्यक एतद्वृक्षत्व हेतु में अव्याप्तिग्रस्त है, क्योंकि कपिसंयोग का शाखावच्छेदेन आश्रयभूत एतद्वृक्ष मूलदेशावच्छेदेन कपि-संयोगाभाव का अधिकरण है, इसलिए निरुक्त साध्याभाव के यावत्

न च कपिसंयोगाभाववान् सत्त्वादित्यादौ साध्याभावस्य कपिसंयोगादेर्निरवच्छिन्नाधिकरणत्वाप्रसिद्धया अव्याप्तिरिति वाच्यम् । केवलान्वयिन्यभावादित्यनेन ग्रन्थकृतैव एतद्दोषस्य वक्ष्यमाणत्वात् ।

अधिकरण में एतद्वृक्ष भी आता है और उसमें एतद्वृक्षत्व का अभाव नहीं रहता । अतः एतद्वृक्षत्वरूप हेतु में कपिसंयोगाभावरूप साध्याभाव के यावत् अधिकरण में विद्यमान अभाव के प्रतियोगित्व का अभाव है । किन्तु विचार करने पर यह कथन ठीक नहीं प्रतीत होता, क्योंकि साध्याभावनिरूपित अधिकरणता में किञ्चिदनवच्छिन्नत्व—देशकालानवच्छिन्नत्व का निवेश कर साध्याभावनिरूपितदेशकालानवच्छिन्न अधिकरणतावद् यावन्निष्ठ अभाव प्रतियोगिता को ही व्याप्ति का लक्षण माना जाता है । और उसकी अव्याप्ति उक्त स्थल में नहीं हो सकती, क्योंकि एतदवृक्ष में कपिसंयोगाभाव की अधिकरणता मूलदेशावच्छिन्न होती है, अतः कपिसंयोगाभावनिरूपित किञ्चिदनवच्छिन्न अधिकरणतावान् यावत् के मध्य में एतद्वृक्ष नहीं आता, किन्तु गुणादि ही आता है और उसमें एतद्वृक्षत्वरूप हेतु का अभाव है ।

यदि यह कहा जाय कि साध्याभावनिरूपित अधिकरणता में निरवच्छिन्नत्व का निवेश करने पर 'कपिसंयोगाभाववान्' सत्त्वात् इस स्थल में सत्ता हेतु में कपिसंयोगाभावरूप साध्य के व्याप्ति लक्षण की अव्याप्ति होगी । क्योंकि इस स्थल में कपिसंयोगाभावरूप साध्य का अभाव कपिसंयोगस्वरूप होता है और कपिसंयोग के अव्याप्यवृत्ति होने से उसकी अधिकरणता किञ्चिद्देशावच्छिन्न ही होती है, अतः साध्याभावनिरूपित निरवच्छिन्न अधिकरणता की अप्रसिद्धि है; तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि कपिसंयोग के अधिकरण में भी किञ्चिद्देशावच्छेदेन कपिसंयोगाभाव के रहने से सर्वत्र वर्त्तमान होने के कारण कपिसंयोगाभाव केवलान्वयी है । अतः कपिसंयोगाभावसाध्यक सत्ता हेतु केवलान्वयिसाध्यक हेतु है और केवलान्वयिसाध्यक हेतु में अव्याप्ति दोष 'केवलान्वयिनि अभावात्' इस ग्रन्थ से ग्रन्थकार ने स्वयं स्वीकार किया है ।

यदि यह कहा जाय कि 'पृथिवी कपिसंयोगात्' इस स्थल में कपिसंयोग में पृथिवीत्वरूप साध्य के प्रस्तुत व्याप्ति लक्षण की अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि पृथिवीत्वाभावरूप साध्याभाव के जलादिरूप यावत्

न च पृथिवी कपिसंयोगादित्यादौ पृथिवीत्वाभाववति जलादौ यावत्येव कपिसंयोगाभावसत्त्वादतिव्याप्तिरिति वाच्यम्, तन्निष्ठपदेन तत्र निरवच्छिन्नवृत्तिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात्। इत्थञ्च पृथिवीत्वाभावाधिकरणे जलादौ यावदन्तर्गते निरवच्छिन्नवृत्तिमानभावो न कपिसंयोगाभावः, किन्तु घटत्वाद्यभाव एव, तत्प्रतियोगित्वस्य हेतावसत्त्वान्नातिव्याप्तिः।

न चैवमन्योन्याभावस्य व्याप्यवृत्तितानियमनये द्रव्यत्वाभाववान् संयोगवद्भिन्नत्वादित्यादेरपि सद्धेतुतया तत्राव्याप्तिः, संयोगवद्भिन्नत्वाभावस्य संयोगरूपस्य निरवच्छिन्नवृत्तेरप्रसिद्धेरिति वाच्यम्, अन्योन्या-

अधिकरण में देशविशेष अथवा कालविशेष में कपिसंयोगाभाव रहता है, अतः साध्याभावाधिकरण यावन्निष्ठाभाव प्रतियोगित्व पृथिवीत्व के व्यभिचारी कपिसंयोग में विद्यमान है; तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि साध्याभावाधिकरण यावन्निष्ठ शब्द से साध्याभावाधिकरण यावन्निरूपित निरवच्छिन्नवृत्तिमत्त्व की विवक्षा होने से व्याप्ति का स्वरूप होता है साध्याभावाधिकरण यावन्निरूपित निरवच्छिन्न वृत्तिमत् अभावप्रतियोगित्व और उसकी अतिव्याप्ति उक्त स्थल में नहीं हो सकती, क्योंकि पृथिवीत्वाभावाधिकरण यावत् के अन्तर्गत आने वाले जलादि में कपिसंयोगाभाव निरवच्छिन्नवृत्तिक नहीं होता, क्योंकि जलादि के किसी न किसी भाग में कपिसंयोग रहता है, किन्तु घटत्वादि का अभाव जलादि में निरवच्छिन्नावृत्तिक होता है। अतः कपिसंयोग में उस अभाव का प्रतियोगित्व न होने से अतिव्याप्ति की संभावना नहीं है।

यदि यह कहा जाय कि अन्योन्याभाव व्याप्यवृत्ति होता है इस मत में 'द्रव्यत्वाभाववान् संयोगवद्भिन्नत्वात्' इस स्थल में संयोगवद्भिन्नत्व द्रव्य में न रहने के कारण द्रव्यत्वाभाव का व्याप्य है, अतः उसमें प्रस्तुत लक्षण की अव्याप्ति होगी। क्योंकि संयोगवद्भिन्नत्वरूप हेतु का अभाव संयोगस्वरूप है, क्योंकि अन्योन्याभाव का अभाव लाघववश अन्योन्याभाव के प्रतियोगितावच्छेदक धर्म से अभिन्न होता है और जब इस स्थल में हेतु का अभाव संयोगस्वरूप है तो संयोग के नियम से किञ्चिदवच्छिन्नवृत्तिक होने के कारण साध्याभावाधिकरण यावन्निरूपित निरवच्छिन्नवृत्तिक अभाव शब्द से संयोगस्वरूप हेत्वभाव नहीं मिल सकता, अतः उक्त अभाव का प्रतियोगित्व हेतु में न होने से अव्याप्ति अनिवार्य है। किन्तु विचार करने पर यह कथन ठीक नहीं प्रतीत होता, क्योंकि अन्यो-

भावस्य व्याप्यवृत्तितानियमनयेऽन्योन्याभावस्य अभावो न प्रतियोगितावच्छेदकस्वरूपः, किन्त्वतिरिक्तो व्याप्यवृत्तिः, अन्यथा मूलावच्छेदेन कपिसंयोगिभेदाभावभानानुपपत्तेरिति संयोगवद्भिन्नत्वाभावस्यापि निरवच्छिन्नवृत्तिमत्त्वात् ।

वस्तुतस्तु सकलपदमत्राशेषपरम्, न त्वनेकपरम्, एतद्घटत्वाभाववान् पटत्वादित्याद्येकव्यक्तिविपक्षके साध्याभावाधिकरणस्य यावत्त्वाप्रसिद्ध्या अव्याप्त्यापत्तेः, तथा च किञ्चिदनवच्छिन्नाया निरुक्तसाध्याभावाधिकरणताया व्यापकीभूतो योऽभावः, हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नतत्प्रतियोगितावच्छेदकहेतुतावच्छेदकवत्त्वं लक्षणार्थः ।

न्याभाव व्याप्यवृत्ति ही होता है इस मत में सर्वत्र अन्योन्याभाव का अभाव प्रतियोगितावच्छेदकस्वरूप नहीं होता, किन्तु उससे अतिरिक्त और व्याप्यवृत्ति होता है, क्योंकि यदि उक्त मत में सभी अन्योन्याभाव के अभाव को प्रतियोगितावच्छेदकस्वरूप माना जायगा तो कपिसंयोगिभेद का अभाव कपिसंयोगस्वरूप होगा और वह वृक्ष में मूलावच्छेदेन नहीं रहता । अतः मूलावच्छेदेन वृक्ष में कपिसंयोगिभेदाभाव का भान अनुपपन्न हो जायगा जब कि अन्योन्याभाव मात्र के व्याप्यवृत्तिता मत में वृक्ष में मूलावच्छेदेन कपिसंयोगिभेदाभाव का भान इष्ट है, फलतः उक्त मत में कपिसंयोगवद्भिन्नत्व का अभाव भी संयोगस्वरूप न होकर अतिरिक्त होगा और अतिरिक्त होने के कारण ही निरवच्छिन्नवृत्तिक होगा, अतः उक्त स्थल में द्रव्यत्वरूप साध्याभाव के अधिकरण यावत् द्रव्य में निरवच्छिन्नवृत्तिक अभाव शब्द से संयोगवद्भिन्नत्वरूप हेतु का अभाव पकड़ा जा सकेगा, अतः उक्त अभाव का प्रतियोगित्व हेतु में होने से अव्याप्ति सम्भव नहीं है । किन्तु विचार करने पर यह कथन ठीक नहीं प्रतीत होता ।

प्रस्तुत लक्षण के सम्बन्ध में वास्तविकता यह है कि इस लक्षण में सकल पद अशेषपरक है । यावत्परक—अनेकपरक नहीं है, क्योंकि सकल पद को अनेकपरक मानने पर 'एतद्घटत्वाभाववान् पटत्वात्' इस स्थल में एतद्घटत्वरूप साध्याभाव का एतद्घटात्मक एक ही अधिकरण होने से यावत्साध्याभावाधिकरण की अप्रसिद्धि होने से अव्याप्ति हो जाती है । और सकल पद को अशेषपरक मानने पर यह अव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि अशेषत्व व्यापकत्व रूप होता है, अतः सकलसाध्याभाववन्निष्ठत्व का अर्थ

न च सत्त्वादिसामान्याभावस्यापि प्रमेयत्वादिना निरुक्तसाध्याभावाधिकरणताया व्यापकत्वाद् द्रव्यं सत्त्वादित्यादावतिव्याप्तिः। तद्वन्निष्ठान्योन्याभावप्रतियोगितानवच्छेदकत्वं व्यापकत्वमित्युक्तौ तु निर्धूमत्ववान् निर्वह्नित्वादित्यादावव्याप्तिः, निर्वह्नित्वाभावानां वह्निव्यक्तीनां सर्वासामेव चालनीन्यायेन निर्धूमत्वाभावाधिकरणतावन्निष्ठान्योन्याभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वादिति वाच्यम्, तादृशाधिकरणताया व्यापकतावच्छेदकं हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नयद्धर्मावच्छिन्नाभावत्वं तद्धर्मवत्त्वस्य विवक्षितत्वात्।

होता है साध्याभावाधिकरणताव्यापकत्व। फलतः लक्षण का यह स्वरूप निष्पन्न होता है कि निरुक्त साध्याभाव से निरूपित किञ्चिदनवच्छिन्न अधिकरणता का व्यापकीभूत जो अभाव उस अभाव से निरूपित हेतुतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिता का अवच्छेदक जो हेतुतावच्छेदक धर्म तादृश धर्माश्रयत्व; लक्षण का ऐसा स्वरूप निष्पन्न होने पर उक्त अव्याप्ति की संभावना नहीं रह जाती, क्योंकि उक्त स्थल में निरुक्त साध्याभाव है एतद्घटत्वाभावाभाव जो एतद्घटत्वस्वरूप है, उसकी किञ्चिदनवच्छिन्न अधिकरणता एतद्घट में है, उसमें पटत्व का हेतुतावच्छेदकीभूत समवाय सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिता के अभाव है, इस प्रकार साध्याभावनिरूपित किञ्चिदनवच्छिन्न अधिकरणताक व्यापकीभूत अभाव की समवाय सम्बन्धावच्छिन्न पटत्वनिष्ठ प्रतियोगिता के अवच्छेदक पटत्वत्वरूप हेतुतावच्छेदक धर्म के पटत्व में विद्यमान होने से उसमें एतद्घटत्वाभावरूप साध्य के प्रस्तुत व्याप्तिलक्षण की अव्याप्ति नहीं हो सकती।

शंका होती है कि लक्षण का उक्त रूप से निर्वचन करने पर भी 'द्रव्यं सत्त्वात्' इस स्थल में सत्ता में द्रव्यत्व के व्याप्तिलक्षण की अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि लक्षण में हेत्वभाव में जो साध्याभावाधिकरणता व्यापकत्व प्रविष्ट है उसका अर्थ है साध्याभावाधिकरणतावन्निष्ठ अभावप्रतियोगितानवच्छेदक धर्मवत्त्व, अर्थात् साध्याभावाधिकरण में विद्यमान अभाव की प्रतियोगिता के अनवच्छेदक धर्म का आश्रय होना, उसके अनुसार सत्ता का अभाव द्रव्यत्वाभावाधिकरणता का व्यापक है, क्योंकि द्रव्यत्वाभाव के अधिकरण गुणादि में विद्यमान अभाव की प्रतियोगिता के

अनवच्छेदकधर्म प्रमेयत्व का वह आश्रय है और उसका प्रतियोगित्व सत्ता में है, यदि इस दोष का परिहार करने के लिए साध्याभावाधिकरणता-व्यापकत्व का अर्थ साध्याभावाधिकरणतावत् में विद्यमान अन्योन्याभाव की प्रतियोगिता का अनवच्छेदकत्व अर्थ किया जाय तो इस दोष का वारण हो सकता है। क्योंकि इस अर्थ के अनुसार सत्ताभाव द्रव्यत्वा-भावाधिकरण गुण में विद्यमान 'सत्ताभाववान् न' इस प्रतीति से सिद्ध अन्योन्याभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक होने से द्रव्यत्वाभावाधि-करणता का व्यापक नहीं होता है। किन्तु साध्याभावाधिकरणता के इस प्रकार के व्यापकत्व का निवेश करने से 'निर्धूमत्ववान् निर्वह्नित्वात्' इस धूमाभावसाध्यक वह्न्यभाव हेतुक स्थल में वह्न्यभाव में धूमाभाव के व्याप्ति लक्षण की अव्याप्ति होगी, क्योंकि निर्वह्नित्व—वह्न्यभावरूप हेतु का अभाव वह्निस्वरूप है और सभी वह्नि निर्धूमत्व—धूमाभावरूप साध्य के धूमस्वरूप अभाव के अधिकरण पर्वतादि में चालनीय न्याय से विद्यमान 'तत्तद्वह्निमान् न' इत्याकारक प्रतीति से सिद्ध अन्योन्याभाव का प्रतियोगितावच्छेदक है, अतः हेत्वभाव में उक्त साध्याभावाधिकरणता-व्यापकत्व के न होने से अव्याप्ति ध्रुव है। किन्तु यह आशंका उचित नहीं है, क्योंकि हेतुतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न यद्धर्मावच्छिन्न प्रतियोगितानिरूपक अभावत्वनिरुक्त साध्याभावनिरूपित किंचिदन-वच्छिन्न अधिकरणता का व्यापकतावच्छेदक ही अर्थात् उक्त साध्याभावा-धिकरणतावत् में विद्यमान अत्यन्ताभावनिरूपित प्रतियोगिता का अनवच्छेदक हो तद्धर्मवत्त्व व्याप्ति का लक्षण मानने से उक्त दोष नहीं हो सकता है। 'जैसे द्रव्यं सत्त्वात्' इस स्थल में द्रव्यत्वाभावरूप साध्याभाव के गुण एवं कर्मरूप अधिकरण में 'समवायसम्बन्धावछिन्न सत्तात्वा-वच्छिन्न प्रतियोगिताक अभावो नास्ति' इत्याकारक प्रतीति से सिद्ध अत्यन्ताभाव रहता है, उक्त अत्यन्ताभाव का सत्तात्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अत्यन्ताभावत्व के प्रतियोगितावच्छेदक होने से वह साध्यभावधिकरणता का व्यापकतावच्छेदक नहीं है। अतः सत्ता में द्रव्यत्व व्याप्ति लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो सकती है। एवं 'निर्धूमत्ववान् निर्वह्नित्वात्' इस स्थल में अव्याप्ति भी नहीं हो सकती क्योंकि धूमस्वरूप साध्याभाव के अधिकरण पर्वतादि में वह्निस्वरूप हेत्वभाव के विद्यमान होने से स्वरूप-सम्बन्धावच्छिन्न वह्न्यभावत्वाच्छिन्न प्रतियोगिताक आभावो नास्ति'

व्यापकतावच्छेदकत्वन्तु तद्वन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगितानवच्छेदकत्वम्। न तु तद्वन्निष्ठप्रतियोगिव्यधिकरणाभावप्रतियोगितानवच्छेदकत्वम्, तद्वति निरवच्छिन्नवृत्तिमान् योऽभावस्तत्प्रतियोगितानवच्छेदकत्वं वा, प्रकृतव्यापकतायां प्रतियोगिवैयधिकरण्यस्य निरवच्छिन्नवृत्तित्वस्य वा प्रवेशे प्रयोजनविरहात्। तेन पृथिवी कपिसंयोगादित्यादौ नातिव्याप्तिः। कपिसंयोगाभावत्वस्य निरुक्तव्यापकतावच्छेदकत्वविरहादित्येव परमार्थः।

इति चतुर्थलक्षणं समाप्तम्।

इत्याकारक प्रतीति-सिद्ध अभाव नहीं रहता। अतएव उक्त वह्न्यभावत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभावत्व साध्याभावधिकरणतावन्निष्ठात्यन्ताभाव की प्रतियोगिता का अनवच्छेदक हो जाता है, अतएव यद्धर्म एवं तद्धर्म शब्द से वह्न्यभावत्व को लेकर वह्न्यभाव में धूमाभाव रूप साध्य के व्याप्ति लक्षण का समन्वय सुकर है।

हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न हेतुतावच्छेदकधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताकाभावत्व में जो निरुक्त साध्याभावनिरूपित किञ्चिदनवच्छिन्न अधिकरणतानिरूपित व्यापकतावच्छेदकत्व का प्रवेश किया गया है वह तादृश अधिकरणतावन्निष्ठ अभावप्रतियोगितानवच्छेदकत्वरूप है न कि तादृश अधिकरणतावन्निष्ठ प्रतियोगिव्यधिकरण अभावप्रतियोगितानवच्छेदकत्व, अथवा तादृशअधिकरणतावन्निरूपित निरवच्छिन्न वृत्तिमत् अभावप्रतियोगितानवच्छेदकत्वरूप है, क्योंकि प्रकृत लक्षण में प्रविष्ट व्यापकताघटक प्रथम अभाव में प्रतियोगिवैयधिकरण्य अथवा निरवच्छिन्न वृत्तित्व के प्रवेश का कोई प्रयोजन नहीं है। अतएव 'पृथिवी कपिसंयोगात्' इस स्थल में कपिसंयोग में पृथिवीत्व के व्याप्ति-लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि पृथिवीत्वाभावाधिकरण जलादि में कपिसंयोग-स्वरूप कपिसंयोगाभावत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव के रहने से कपिसंयोगत्वावच्छिन्नप्रतियोगिक कपिसंयोगाभावत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकाभावत्व पृथिवीत्वाभावाधिकरण जलादिनिष्ठ अभाव प्रतियोगिता का अवच्छेदक हो जाने के कारण साध्याभावाधिकरणता का व्यापकतावच्छेदक नहीं होता। यदि व्यापकताघटक अभाव में प्रतियोगिवैयधिकरण्य अथवा निरवच्छिन्नवृत्तिमत्त्व का प्रवेश होता तो पृथिवीत्वा-

भावाधिकरणनिष्ठ प्रतियोगिव्यधिकरण अभाव अथवा पृथिवीत्वाभावाधिकरणनिष्ठ निरवच्छिन्नवृत्तिक अभाव पद से कपिसंयोगाभावाभाव नहीं पकड़ा जा सकता, किन्तु अन्य ही अभाव पकड़ा जायगा। फलतः कपिसंयोगत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकाभावत्व के साध्याभावाधिकरणता का व्यापकतावच्छेदक हो जाने से अतिव्याप्ति हो जायगी।

किन्तु इस लक्षण में व्यापकताघटक अभाव में उक्त विशेषणों का प्रवेश कोई प्रयोजक न होने से नहीं है। अतः उक्त स्थल में अतिव्याप्ति की प्रसक्ति नहीं हो सकती। प्रस्तुत लक्षण वाक्य की यही यथार्थ व्याख्या है।

चतुर्थ लक्षण की व्याख्या यहाँ समाप्त।

व्याप्तेः पञ्चमलक्षणस्य व्याख्या

साध्यवदन्याऽवृत्तित्वं वा, केवलान्वयिन्यभावात् ।

साध्यवदन्येति । अत्रापि प्रथमलक्षणोक्तरीत्या हेतौ साध्यवदन्यवृत्तित्वाभाव इत्यर्थः । तादृशवृत्तित्वाभावश्च तादृशवृत्तित्वसामान्याभावो बोध्यः । तेन धूमवान् वह्नेरित्यादौ धूमवदन्यजलह्रदादिवृत्तित्वाभावस्य धूमवदन्यवृत्तित्वजलत्वोभयाभावस्य च हेतौ सत्त्वेऽपि नातिव्याप्तिः ।

व्याप्ति के पञ्चम लक्षण की व्याख्या

साध्यवदन्यावृत्तित्व यह व्याप्तिपञ्चक ग्रन्थ का पाँचवा लक्षण है। प्रथम लक्षण में कथित रीति से इस लक्षण का भी अर्थ है—हेतुनिष्ठ साध्यवदन्यनिरूपित वृत्तित्वाभाव । 'वह्निमान् धूमात्' इस स्थल में धूम में वह्निमदन्य ह्रदादिनिरूपित वृत्तित्व का अभाव होने से धूम में वह्नि व्याप्ति-लक्षण का समन्वय होता है। 'धूमवान् वह्नेः' इस स्थल में वह्नि में धूमवदन्य तप्तायःपिण्डनिरूपित वृत्तित्व के होने से धूमवदन्यनिरूपित वृत्तित्व सामान्याभाव के न रहने के कारण वह्नि में धूम-निरूपित व्याप्ति के लक्षण का अतिप्रसङ्ग नहीं होता।

साध्यवदन्यनिरूपित वृत्त्यभाव का साध्यवदन्यनिरूपित वृत्तिसामान्याभाव अर्थ करना आवश्यक है, क्योंकि यदि साध्यवदन्यनिरूपित वृत्ति प्रतियोगिक अभाव को ही व्याप्ति का लक्षण माना जायगा तो साध्यवदन्यनिरूपित वृत्ति प्रतियोगिक अभाव शब्द से धूमवदन्य-जल-ह्लद-निरूपित वृत्त्यभाव, धूमवदन्यनिरूपित वृत्ति जलत्व उभयाभाव को लेकर वह्नि में धूमव्याप्ति-लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। किन्तु धूमवदन्यनिरूपित वृत्तित्व सामान्याभाव का प्रवेश करने पर अतिव्याप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि धूमवदन्यनिरूपित वृत्ति सामान्याभाव का अर्थ है धूमवदन्यत्वनिष्ठ अवच्छेदकताभिन्न अवच्छेदकत्वानिरूपित धूमवदन्यनिष्ठ अवच्छेदकताभिन्न वृत्तित्वनिष्ठ अवच्छेदकताभिन्न अवच्छेदकत्वानिरूपित धूमवदन्यवृत्तिनिष्ठ प्रतियोगिताकाभाव; इस अभाव को व्याप्ति का लक्षण मानने पर उक्त दोनों अभावों को लेकर वह्नि में धूम-

साध्यवदन्यत्वञ्च अन्योन्याभावत्वनिरूपित-साध्यवत्त्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताकाभाववत्त्वम्, तेन वह्निमान् धूमादित्यादौ तत्तद्वह्निमदन्यस्मिन् धूमादेर्वृत्तावपि नाव्याप्तिः। न वा वह्निमत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकात्यन्ताभावस्य स्वावच्छिन्नभिन्नभेदरूपस्याधिकरणे पर्वतादौ धूमस्य वृत्तावप्यव्याप्तिः, तस्य साध्यवत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताया अत्यन्ताभावत्वनिरूपितत्वेन अन्योन्याभावत्वनिरूपितत्वविरहात्। अन्योन्याभावत्वनिरूपितत्वञ्च तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नत्वमेव।

व्याप्ति-लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो सकती। क्योंकि पहले अभाव की धूमवदन्य जलह्रदनिष्ठ प्रतियोगितावच्छेदकता धूमवदन्यत्वनिष्ठ अवच्छेदकताभिन्न जलह्रदत्वनिष्ठ अवच्छेदकता से निरूपित होने के कारण साध्यवदन्यत्वनिष्ठ अवच्छेदकताभिन्न अवच्छेदकता से अनिरूपित नहीं है। एवं दूसरे अभाव की धूमवदन्यवृत्ति जलत्व उभयनिष्ठ प्रतियोगितानिरुक्त साध्यवदन्यनिष्ठ अवच्छेदकताभिन्न एवं वृत्तित्वनिष्ठ अवच्छेदकताभिन्न जलत्वत्व एवं उभयत्वनिष्ठ अवच्छेदकता से निरूपित होने के कारण साध्यवदन्यनिष्ठ अवच्छेदकताभिन्न वृत्तित्वनिष्ठ अवच्छेदकताभिन्न अवच्छेदकता से अनिरूपित नहीं है।

प्रस्तुत लक्षण में साध्यवदन्यत्व का अर्थ है अन्योन्याभावत्व से निरूपित जो साध्यवत्त्वावच्छिन्न प्रतियोगिता, तादृश प्रतियोगिता-निरूपक अभाव। यदि ऐसा अर्थ न कर केवल साध्यवत्प्रतियोगिक अन्योन्याभाव अर्थ किया जायगा तो 'वह्निमान् धूमात्' इस स्थल में धूम में वह्नि-व्याप्ति-लक्षण की अव्याप्ति होगी। क्योंकि 'तत्तद् वह्निमान् न' इत्याकारक प्रतीतिसिद्ध अन्योन्याभाव भी साध्यवत्प्रतियोगिक अन्योन्याभाव है और उसके अधिकरणभूत पर्वतादि में धूम विद्यमान है। इसी प्रकार 'वह्निमान् नास्ति' इत्याकारक प्रतीतिसिद्ध जो वह्निमद् अत्यन्ताभाव वह स्वावच्छिन्न भेद रूप है, क्योंकि स्व—वह्निमदत्यन्ताभाव से अवच्छिन्न होता है, वह्निमत् शून्य देश और उससे भिन्न देश होता है वह्निमत् का आश्रयभूत देश, और उस देश का भेद वह्निमत् शून्य में रहता है, अतः वह्निमत् अत्यन्ताभाववत्त्वावच्छिन्न भिन्न भेद वह्निमत् अत्यन्ताभाव का समान रूप होने से लाघवात् वह्निमत् प्रतियोगिक अत्यन्ताभाव स्वरूप है। फलतः वह्निमत् अत्यन्ताभाव के भेदस्वरूप होने से वह्निमत्त्वावच्छिन्न

प्रतियोगिताक अन्योन्याभाव शब्द से वह्निमत् अत्यन्ताभाव को लेकर उसके अधिकरण पर्वतादि में धूम के वृत्ति होने से साध्यवत्त्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अन्योन्याभावाधिकरण-निरूपित वृत्त्यभाव के धूम में न रहने से 'वह्निमान् धूमात्' इस स्थल में अव्याप्ति अनिवार्य है।

परन्तु प्रतियोगिता में साध्यवत्त्वावच्छिन्नत्व और अन्योन्याभावत्व-निरूपितत्व का निवेश करने पर उक्त दोष नहीं हो सकता, क्योंकि साध्यवत्त्वावच्छिन्नत्व का अर्थ है—साध्यतावच्छेदकनिष्ठ अवच्छेदकता-भिन्न अवच्छेदकत्वानिरूपित एवं साध्यतावच्छेदकनिष्ठ अवच्छेदकता-निरूपित जो साध्यनिष्ठ अवच्छेदकता उससे भिन्न अवच्छेदकता से अनि-रूपित होते हुए साध्यनिष्ठ अवच्छेदकता से निरूपित होना। इस अर्थ के अनुसार 'तत्तद् वह्निमान् न', 'महानसीय वह्निमान् न', 'वह्निमत् घटोभयं न', इत्यादि प्रतीतिसिद्ध अन्योन्याभाव को लेकर दोष नहीं हो सकता। क्योंकि इन अन्योन्याभावों में प्रथम अन्योन्याभाव की प्रतियोगिता-वच्छेदकता तद्वह्नि में है और वह साध्यतावच्छेदक वह्नित्वनिष्ठ अवच्छेदकताभिन्न तत्त्वनिष्ठ अवच्छेदकता से निरूपित ही है, अनिरूपित नहीं है।

यदि तद्वह्निव्यक्ति का स्वरूपतः भान मान कर तन्निष्ठप्रतियोगि-तावच्छेदकता में साध्यतावच्छेदकनिष्ठ अवच्छेदकताभिन्न अवच्छेदकत्वा-निरूपितत्व की उपपत्ति की जायगी तो उसमें साध्यतावच्छेदकनिष्ठ अवच्छेदकतानिरूपितत्व न होने से नहीं पकड़ा जा सकता। अतः 'तद् व्यक्तिमान् न' इस अन्योन्याभाव को लेकर भी अव्याप्ति नहीं हो सकती। उक्त अन्योन्याभावों में द्वितीयान्योन्याभाव की प्रतियोगितावच्छेदकता महानसीय वह्नि में है, अतः उसमें साध्यतावच्छेदकनिष्ठ अवच्छेदकता-भिन्न महानसीयत्वनिष्ठ अवच्छेदकत्वानिरूपितत्व रहने से दोष नहीं दिया जा सकता।

इसी प्रकार तृतीय अन्योन्याभाव को लेकर भी दोष नहीं होता। क्योंकि उस अन्योन्याभाव की प्रतियोगिता वह्निमद् और घट उभय में है और वह साध्यनिष्ठ अवच्छेदकता से भिन्न घटत्व और उभयत्वनिष्ठ अवच्छेदकता से निरूपित ही है, अनिरूपित नहीं है। प्रतियोगिता में

साध्यवत्त्वञ्चसाध्यतावच्छेदकसम्बन्धेन बोध्यम् । तेन वह्निमान् धूमादित्यादौ वह्निमत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य समवायेन वह्निमतोऽन्योन्याभावस्याधिकरणे पर्वतादौ धूमादेर्वृत्तावपि नाव्याप्तिः ।

अन्योन्याभावत्वनिरूपितत्व का निवेश होने से साध्यवदन्यत्व शब्द से वह्निमत्त्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अत्यन्ताभाव भी नहीं पकड़ा जा सकता, क्योंकि उस अभाव की जो वह्निमत्त्वावच्छिन्न प्रतियोगिता है उसमें अन्योन्याभावत्व निरूपितत्व नहीं है, क्योंकि अन्योन्याभावनिरूपितत्व का अर्थ है—तादात्म्य-सम्बन्धावच्छिन्नत्व, जो उक्त प्रतियोगिता में नहीं है और अन्योन्याभावत्व से निरूपित जो तत् स्वरूप स्वावच्छिन्न-भिन्न भेद की स्वावच्छिन्न-भिन्न-निष्ठ प्रतियोगिता है वह स्वावच्छिन्न-भेद से साध्यवदभाववद् भेद से अवच्छिन्न है, साध्यवत्त्वावच्छिन्न नहीं है।

साध्यवदन्यत्व की कुक्षि में जो साध्यवत्त्व प्रविष्ट है वह साध्यतावच्छेदक सम्बन्ध से साध्यवत्त्व रूप है न कि जिस किसी भी सम्बन्ध से साध्यवत्त्व रूप, क्योंकि यदि साध्यतावच्छेदक सम्बन्ध से साध्यवत्त्व न प्रविष्ट होगा तो साध्यवदन्यत्व का अर्थ होगा किञ्चित् सम्बन्धावच्छिन्न साध्यनिष्ठ अवच्छेदकतानिरूपित साध्यवन्निष्ठ प्रतियोगितानिरूपक भेद और इसके अनुसार 'समवायसम्बन्धेन वह्निमान् न' इत्याकारक प्रतीतिसिद्ध अन्योन्याभाव भी साध्यवदन्यत्व रूप हो जायगा, फलतः उस अभाव को लेकर साध्यवदन्य पर्वतादि होगा जिसमें धूम रहता है। अतः धूम में साध्यवदन्यनिरूपित वृत्त्यभाव न होने से वह्नि-व्याप्ति-लक्षण की अव्याप्ति अनिवार्य होगी।

परन्तु जब साध्यवत्त्व साध्यतावच्छेदकसम्बन्धेन साध्यवत्त्व रूप होगा तब साध्यवदन्यत्व का अर्थ होगा—साध्यतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न साध्यनिष्ठ अवच्छेदकतानिरूपित साध्यवन्निष्ठ प्रतियोगिता-निरूपक भेद। ऐसा अर्थ करने पर 'समवायेन वह्निमान् न' इत्याकारक प्रतीतिसिद्ध अन्योन्याभाव साध्यवदन्यत्व शब्द से न पकड़ा जा सकेगा, क्योंकि उसकी प्रतियोगितावच्छेदकता समवाय सम्बन्ध से अवच्छिन्न है साध्यतावच्छेदक संयोग सम्बन्ध से अवच्छिन्न नहीं है। अतः उक्त अर्थ को स्वीकार करने पर साध्यवदन्यत्व शब्द से 'संयोगसम्बन्धेन वह्निमान् न' इत्याकारक प्रतीतिसिद्ध अन्योन्याभाव ही पकड़ा जायगा। अतः उसके अधि-

सर्वमन्यत् प्रथमलक्षणोक्तदिशाऽवसेयम्। यथा चास्य न तृतीयलक्षणाभेदस्तथोक्तं तत्रैवेति समासः।

सर्वाण्येव लक्षणानि केवलान्वय्यव्याप्त्या दूषयति—केवलान्वयिन्यभावादिति। पञ्चानामेव लक्षणानाम्—इदं वाच्यं ज्ञेयत्वादित्यादिव्याप्यवृत्तिकेवलान्वयिसाध्यके, द्वितीयादिलक्षणचतुष्टयस्य तु कपिसंयोगाभाववान्

करण जलह्रदादि में धूम के अवृत्ति होने से उक्त अव्याप्ति नहीं हो सकती।

अन्य सब बातें जैसे साध्यवदन्यत्व की अधिकरणता एवं साध्यवदन्यनिरूपित वृत्ति एवं वृत्ति का अभाव आदि प्रथम लक्षण द्वारा कही गयी रीति से ही इस लक्षण में भी निवेशनीय हैं। अतः साध्यवदन्यत्व की विषयिता और व्यभिचारित्व सम्बन्ध से अधिकरण को लेकर 'गुणत्ववान् ज्ञानत्वात्' और 'सत्तावान् जातेः' आदि स्थलों में अव्याप्ति नहीं होगी। एवं साध्यवदन्य में धूमादि के कालिक सम्बन्ध से वृत्ति होने पर भी 'वह्निमान् धूमात्' में अव्याप्ति तथा 'सत्तावान् द्रव्यत्वात्' इत्यादि स्थलों में साध्यवदन्यनिरूपित हेतुतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न वृत्ति की अप्रसिद्धि होने से अव्याप्ति नहीं होगी।

यद्यपि इस लक्षण में भी तृतीय लक्षण के समान साध्यवद्भेद का प्रवेश है तथापि इस लक्षण में तृतीय लक्षण का अभेद नहीं है। यह बात तृतीय लक्षण के निरूपण-प्रसङ्ग में यह कहकर बताई जा चुकी है कि तृतीय लक्षण में साध्यवद्भेदाधिकरण का निवेश साध्यवद्भेदाधिकरणत्व रूप से है और पञ्चम लक्षण में 'साध्यवद्भिन्नत्वेन' रूप से निवेश है। अतः तृतीय लक्षण के वृत्तिनिष्ठ प्रतियोगितावच्छेदक कुक्षि में अधिकरणत्व का प्रवेश होने और पञ्चम लक्षण में प्रवेश न होने से अभावात्मक दोनों लक्षणों में भेद स्पष्ट है।

चिन्तामणिकार ने केवलान्वयिसाध्यक स्थल में उक्त सभी लक्षणों का अभाव बताकर केवलान्वयिसाध्यक सद्हेतु में सभी लक्षणों को अव्याप्ति दोष से ग्रस्त बताया है। मथुरानाथ ने उनका आशय प्रकट करते हुए यह कहा है कि केवलान्वयी साध्य दो प्रकार के हैं—एक व्याप्यवृत्तिवाच्यत्वादि, और दूसरा अव्याप्यवृत्ति-कपिसंयोगाभावादि। इनमें व्याप्यवृत्ति-वाच्यत्वादि को साध्य बनाकर 'वाच्यं ज्ञेयत्वात्' इस

सत्त्वादित्याद्यव्याप्यवृत्तिकेवलान्वयिसाध्यकेऽपि चाभावादित्यर्थः, साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न - साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न-प्रतियोगिताकसाध्याभावस्य साध्यतावच्छेदकसम्बन्धेन साध्यवत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाऽन्योन्याभावस्य चाप्रसिद्धत्वात्, कपिसंयोगाभाववान् सत्त्वादित्यादौ निरवच्छिन्नसाध्याभावाधिकरणत्वस्याप्रसिद्धत्वाच्चेति भावः। तृतीयलक्षणस्य केवलान्वयिसाध्यकासत्त्वञ्च तद्व्याख्यानावसरे एव प्रपञ्चितम्।

रूप में अनुमान प्रयोग करने पर उक्त पाँचों लक्षणों की अव्याप्ति होगी और अव्याप्यवृत्ति-कपिसंयोगाभाव को साध्य बनाकर 'कपिसंयोगाभाववान् सत्त्वात्' इस प्रकार अनुमान प्रयोग करने पर द्वितीय आदि चारों लक्षणों का अभाव होगा।

प्रथम स्थल में पाँचों लक्षणों के अभाव होने का कारण यह है कि प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ लक्षण में साध्यतावच्छेदक-सम्बन्धावच्छिन्न साध्यतावच्छेदक-धर्मावच्छिन्न-प्रतियोगिताक साध्यसमान्याभाव का प्रवेश है। उक्त स्थल में साध्यतावच्छेदकस्वरूप सम्बन्ध से वाच्यत्व के सर्वत्र वृत्ति होने से साध्यतावच्छेदक-सम्बन्धावच्छिन्न साध्यतावच्छेदक-धर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताक सामान्याभाव अप्रसिद्ध है, क्योंकि जिस अभाव का कोई अधिकरण नहीं होता वह अलीकानुयोगिक—अप्रसिद्धाधिकरणक होने से अमान्य होता है। अतः साध्याभाव के अप्रसिद्ध होने से साध्याभावघटित उक्त तीनों लक्षणों का अभाव अनिवार्य है।

इसी प्रकार दूसरे, तीसरे और पाँचवें लक्षण में साध्यतावच्छेदक सम्बन्ध से साध्यवत्त्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक साध्यवत् सामान्य भेद का प्रवेश है। यह भेद भी उक्त साध्यक स्थल में अप्रसिद्ध है, क्योंकि साध्यतावच्छेदक स्वरूप सम्बन्ध से साध्य सर्वत्र विद्यमान है। अतः तदवच्छिन्न प्रतियोगिताक भेद का अधिकरण न होने से उक्त भेद अमान्य है। उसके अमान्य होने के कारण ही उक्त स्थल में साध्यवद्-भेद-घटित तीनों लक्षणों का अभाव ध्रुव है।

अव्याप्यवृत्ति केवलान्वयि कपिसंयोगाभावसाध्यक 'कपिसंयोगाभाववान् सत्त्वात्' इस स्थल में प्रथम लक्षण का अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि प्रथम लक्षण में साध्याभाव का प्रवेश है और इस स्थल में कपिसंयोगाभावरूप साध्य का कपिसंयोगस्वरूप अभाव द्रव्य में प्रसिद्ध

है। कपिसंयोगस्वरूप साध्याभाव के अधिकरण में सत्ता हेतु के विद्यमान होने से हेतु में साध्याभावाधिकरण निरूपित वृत्त्यभाव के असंभव होने से भी उक्त स्थल में प्रथम लक्षण का अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि प्रथम लक्षण का अन्य विद्वानों ने यह अर्थ किया है कि हेतुतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न हेतुतावच्छेदकावच्छिन्न स्वनिष्ठ-आधेयता-निरूपित अधिकरणताश्रय वृत्ति जो निरवच्छिन्न अधिकरणता, उसमें निरुक्त साध्याभावत्वविशिष्ट निरूपित निरुक्त सम्बन्धावच्छिन्न अधिकरणतात्व अवृत्ति हो एवंभूत स्व, साध्य का व्याप्य होता है। इसमें साध्याभावाधिकरणता में निरवच्छिन्नत्व का प्रवेश नहीं है किन्तु हेत्वधिकरण वृत्ति अधिकरणता में निरवच्छिन्नत्व का प्रवेश है और उस निरवच्छिन्न अधिकरणता में कपिसंयोगस्वरूप साध्याभावाधिकरणतात्व अवृत्ति है। अतः उक्त स्थल में हेतु में व्याप्तिलक्षण के समन्वय में कोई बाधा नहीं है।

किन्तु उक्त स्थल में भी साध्यत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक सामान्यभेद के अप्रसिद्ध होने से उससे घटित द्वितीय, तृतीय और पञ्चम लक्षण का अभाव है। चतुर्थ लक्षण में यद्यपि साध्यवद्भेद का प्रवेश नहीं है, किन्तु साध्याभाव का ही प्रवेश है और साध्याभाव उक्त स्थल में प्रसिद्ध है। अतः साध्याभाव की अप्रसिद्धि से लक्षणाभाव संभव नहीं है, तथापि 'कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वात्' इस स्थल में अव्याप्ति वारण करने के लिए लक्षण में साध्याभावनिरूपित निरवच्छिन्न अधिकरणता का प्रवेश आवश्यक है और वह उक्त स्थल में अप्रसिद्ध है, क्योंकि उक्त स्थल में साध्याभाव कपिसंयोगस्वरूप है और उसकी अधिकरणता निरवच्छिन्न नहीं होती। अतः साध्याभावनिरूपित निरवच्छिन्न अधिकरणता की अप्रसिद्धि होने से उससे घटित चतुर्थ लक्षण का अभाव निर्बाध है।

इस सन्दर्भ में यह शंका हो सकती है कि केवलान्वयिसाध्यकसद्हेतु स्थल में जो तृतीय लक्षण का अभाव बताया गया है वह युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि पञ्चम लक्षण से पौनरुक्त्य का वारण करने के लिए तृतीय लक्षण में साध्यवत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक साध्यवत् सामान्य भेद का निवेश न कर साध्यवत्प्रतियोगिक अन्योन्याभाव का ही प्रवेश किया जाता है। अतः 'वाच्यं ज्ञेयत्वात्' इत्यादि स्थल में वाच्यत्व के तत्तदधिकरण के भेद की प्रसिद्धि होने से साध्यवत्प्रतियोगिक भेद सुलभ है, अतः उससे

एतच्चोपलक्षणं द्वितीये कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वादित्यादावप्यव्याप्तिः, अधिकरणभेदेन अभावभेदे मानाभावेन कपिसंयोगवद्भिन्नवृत्तिकपिसंयोगाभाववति वृक्षे एतद्वृक्षत्वस्य वृत्तित्वात्। न च साध्यवद्भिन्नवृत्तित्वविशिष्टसाध्याभाववदवृत्तित्वं वक्तव्यम्, एवञ्च वृक्षस्य विशिष्टाधिकरणत्वाभावान्नाऽव्याप्तिरिति वाच्यम्, साध्याभावपदवैयर्थ्यापत्तेः। साध्यवद्भिन्नवृत्तित्वविशिष्टवदवृत्तित्वस्यैव सम्यक्त्वात्। सद्धेतौ हेत्वधिकरणे विशिष्टाधिकरणत्वाभावादेवासम्भवाभावात्।

घटित तृतीय लक्षण का अभाव नहीं हो सकता। किन्तु इस शंका का उत्तर तृतीय लक्षण का व्याख्यान करते समय ही यह कह कर दे दिया गया है कि साध्यवत्प्रतियोगिक भेद के अधिकरण में हेतु के वर्तमान होने से केवलान्वयिसाध्यक सद्हेतु में साध्यवत्प्रतियोगिक अन्योन्याभावाधिकरण-निरूपित वृत्तिसामान्याभावरूप तृतीय लक्षण का असत्त्व है।

केवलान्वयिसाध्यक स्थल में उक्त व्याप्ति-लक्षणों में जिन दोषों का प्रदर्शन किया गया है वे अन्य दोष के भी उपलक्षण हैं। जैसे—द्वितीय लक्षण की 'कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वात्' इस स्थल में भी अव्याप्ति है, क्योंकि अधिकरण के भेद से अभाव भेद में कोई प्रमाण न होने से कपिसंयोगवद्भिन्न गुणादि में वृत्ति कपिसंयोगाभाव का अधिकरण एतद्वृक्ष होगा और उसमें एतद्वृक्षत्व वर्तमान है।

यदि यह कहा जाय कि द्वितीय लक्षण को साध्यवद्भिन्नवृत्तित्वविशिष्ट साध्याभाव का जो अधिकरण तन्निरूपित वृत्तिसामान्याभाव के रूप में परिष्कृत कर देने पर उक्त दोष नहीं होगा, क्योंकि तन्निरूपित वृत्तिविशिष्ट पदार्थ का अधिकरण तत् ही होता है, इस नियम के अनुसार कपिसंयोगवद्भिन्न गुणादिवृत्तित्वविशिष्ट कपिसंयोगाभाव का अधिकरण गुणादि ही होगा और उसमें एतद्वृक्षत्व नहीं रहता है, तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि लक्षण का ऐसा परिष्कार करने पर भी साध्यवद्भिन्नवृत्तित्वविशिष्ट का जो अधिकरण तन्निरूपित वृत्तिसामान्याभाव ही तृतीय व्याप्ति है, इस निर्वचन के निर्दोष होने से लक्षण में साध्याभाव पद व्यर्थ हो जायगा। क्योंकि साध्यवद्भिन्नवृत्तित्वविशिष्ट शब्द से जो कोई भी लिया जायगा उसका अधिकरण साध्यवद्भिन्न पदार्थ ही होगा, अतः सद्हेतु के अधिकरण में साध्यवद्भिन्नवृत्तित्व-विशिष्ट की अधिकरणता का अभाव होने से व्याप्तिलक्षण में असंभव का अभाव स्पष्ट है।

तृतीये साध्यवत्प्रतियोगिकान्योन्याभावमात्रस्य घटकत्वे चालनीयन्यायेन अन्योन्याभावमादाय नानाधिकरणकसाध्यके वह्निमान् धूमादित्यादावव्याप्तिश्चेत्यपि बोध्यम् ।

इति श्रीमथुरानाथतर्कवागीशविरचिते तत्त्वचिन्तामणिरहस्येऽनुमानखण्डे व्याप्तिवादरहस्ये व्याप्तिपञ्चकरहस्यम् ।

केवलान्वयिसाध्यक सद्हेतु में उक्त लक्षणों के अभाव का प्रदर्शन जैसे 'कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वात्' इस स्थल में द्वितीय लक्षण की अव्याप्ति का उपलक्षण है उसी प्रकार वह्निमान धूमात्' इत्यादि स्थल में तृतीय लक्षण की अव्याप्ति का भी उपलक्षण है। कहने का आशय यह है कि पञ्चम लक्षण से तृतीय लक्षण के पौनरुक्त्य का वारण करने के लिए तृतीय लक्षण में साध्यवत्त्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक सामान्यभेद का निवेश न कर साध्यवत्प्रतियोगिक अन्योन्याभाव का ही निवेश किया जाता है और ऐसा निवेश करने पर जिस साध्य के अधिकरण अनेक होते हैं ऐसे वह्नि आदि साध्यक स्थल में धूमादि सद्हेतु में अव्याप्ति अनिवार्य है, क्योंकि ऐसे स्थलों में साध्याधिकरण अनेक होंगे और प्रत्येक अधिकरण में दूसरे साध्याधिकरण का अन्योन्याभाव चालनीय न्याय से रहेगा, फलतः साध्यवत्प्रतियोगिक भेद का अधिकरण साध्याधिकरण भी होगा और उसमें धूमादि हेतु रहता है। अतः हेतु में साध्यावत्प्रतियोगिकान्योन्याभावाधिकरणनिरूपित वृत्त्यभाव का अभाव होने से अव्याप्ति अपरिहार्य है।

पञ्चम लक्षण की व्याख्या के साथ-साथ व्याप्तिपञ्चक ग्रन्थ की हिन्दी व्याख्या समाप्त ।